लेख-सूची

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

[नवीन संस्करण]

पाँचवाँ भाग—संवत् १९८१

(१) मुग़ल बादशाहों के जुलूसी सन् (राज्यवर्ष)

[लेखक—रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, अजमेर]

हिंदी साहित्य-सेवियों में दिन दिन इतिहास की ओर रुचि बढ़ती ही जाती है। मुसलमानों के पूर्व के इतिहास के लिये तो हमारे यहाँ के प्राचीन शिलालेख, दानपत्र, सिक्के एवं संस्कृत आदि भाषाओं के ऐतिहासिक ग्रंथ ही विशेष उपयोगी हैं, परंतु मुसलमानों के समय के हिंदू राजाओं आदि के इतिहास के लिये फ़ारसी तवारीखें भी उपयोगी साधन हैं। मुगल बादशाहों के समय के इतिहास से संबंध रखनेवाली फ़ारसी तवारीखों में एवं फ़ारसी शिलालेखों तथा मुगलों के सिक्कों में भिन्न भिन्न घटनाओं के वर्ष या तो हिजरी सन् में या सन् जुलूस (राज्यवर्ष) में दिए हुए मिलते हैं। प्रत्येक बादशाह के सन् जुलूस के दिन बड़ा उत्सव मनाया जाता था, भोज होते थे और बादशाहों को भेंटें की जाती थीं। बाबर और हुमायूँ ने थोड़े ही समय तक राज्य किया और उनका राज्य सुस्थिर भी न होने पाया, जिससे उनके सन् जुलूस का उत्सव मनाया जाता हो, ऐसा पाया नहीं जाता। यह उत्सव अकबर बादशाह के समय से बराबर मनाया जाने लगा था।

बादशाह अकबर ने मुसलमानी धर्म तथा हिजरी सन् को मिटाने के विचार से इस्लाम धर्म के स्थान में दीन-इलाही नामक नया धर्म, और हिजरी सन् के स्थान में इलाही सन चलाने का उद्योग किया। नए धर्म के प्रचार में तो वह सफल न हुआ, परंतु इलाही सन् का प्रचार उस समय की तवारीखों में किसी प्रकार हो ही गया। इस सन् का प्रारंभ बादशाह अकबर की गद्दीनशीनी के वर्ष से माना गया और जहाँगीर के समय तक इसका प्रचार बना रहा। शाहजहाँ ने अपना सन् जुलूस हिजरी सन के अनुसार मनाना जारी किया। अकबर के पहले के दिल्ली के मुसलमानों ने हिंदुओं को सैनिक सेवा के उच्च पदों पर बहुधा नियत न किया; परंतु अकबर ने उनकी इस नीति को हानिकारक जानकर अपनी सेना में सुन्नी, शिया और राजपूतों (हिंदुओं) के तीन दल इसी विचार से नियत किए कि यदि कोई एक दल बादशाह के प्रतिकूल हो जाय, तो दूसरे दल उसको दबाने में समर्थ हो सकें। इसी सिद्धांत को सामने रखकर अकबर ने सैनिक सेवा के लिये मनसब का तरीका जारी किया और कई हिंदू राजाओं, सरदारों तथा योग्य राजपूतों आदि को भिन्न भिन्न पदों के मंसबों पर नियत किया। अकबर के पीछे क्रमशः मनसब के प्रबंध में शिथिलता आती गई और अंत में तो यह नाम मात्र का अधिकार रह गया।

मंसबदारी की इस प्रथा के कारण कई हिंदू राजाओं, सरदारों तथा सैनिक वर्ग के अन्य हिंदुओं का बहुत कुछ वृत्तांत फारसी तवारीखों में मिलता है; परंतु उनमें घटनाओं का समय या तो प्रत्येक बादशाह का सन् जुलूस या हिजरी सन में लिखा हुआ मिलता है। मुगल-काल के हिंदू राजाओं आदि का वृत्तांत संग्रह करने में यह जानने की आवश्यकता रहती है कि प्रत्येक बादशाह का प्रत्येक सन् जुलूस विक्रम संवत् के कौनसे वर्ष, मास, पक्ष और तिथि एवं ईसवी सन् के कौनसे वर्ष, मास और तारीख को प्रारंभ हुआ। मुझे जब बार बार गणित

कर इसका निश्चय करना पड़ा, तब मुझे यह विचार हुआ कि यदि एक बार अकबर से लेकर बहादुरशाह दूसरे के कैद होने तक के प्रत्येक बादशाह के सन् जुलूस के प्रारंभ के दिन के विक्रमी और ईसवी वर्ष, मास, तिथि एवं तारीख आदि का निर्णय कर लिया जाय, तो आगे के लिये गणित करना मिट जायगा। इसी विचार से मैंने यह जंत्री अपने लिये तैयार की थी; परंतु कई मित्रों ने इसे देखकर यह आग्रह किया कि यदि यह जंत्री छप जाय तो इससे हिंदी के इतिहास-लेखकों को भी कुछ सुभीता हो जाय। इसी उद्देश्य से नागरीप्रचारिणी पत्रिका के प्रेमी पाठकों के सामने यह जंत्री प्रस्तुत की गई है।

इस जंत्री के तैयार करने में मेरे स्वर्गवासी मित्र मुंशी देवीप्रसाद जी के संग्रह से विक्रम संवत् १६०४ से लेकर वि० सं० १९१४ तक के मारवाड़ के प्रसिद्ध ज्योतिषी चंडू जी के वंशजों के बनाए हुए पंचांग बहुधा मिल गए, जिनसे प्रत्येक मास के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा की घड़ी तथा पल मालूम हो सके और चंद्रोदय के निर्णय करने में उनसे बहुत कुछ सहायता मिली। इसके लिये तथा समय समय पर उचित सलाह देने के लिये मैं मुंशी जी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। अकबर और जहाँगीर बादशाहों से सन् जुलूस इलाही सन् के नूतन वर्ष के दिन मनाए जाते थे। इसलिये उनके इलाही सनों के साथ हिजरी, विक्रमी और ईसवी सन् भी दिए गए हैं; और जिन जिन विक्रमी संवतों में जो जो अधिक मास अथवा क्षयमास आए हैं, वे नीचे टिप्पणी में बतला दिए गए हैं। मुसलमानों के प्रत्येक नए मास का प्रारंभ चंद्र के दर्शन से ही माना जाता है। मैंने शुक्ल प्रतिपदा की घड़ियों के हिसाब से हिजरी मास का प्रारंभ माना है। अतएव यदि मुसलमानी तारीख में कहीं अंतर होगा, तो एक दिन का ही होगा, इससे अधिक नहीं। ऐसा ही अंग्रेजी तारीखों के लिये भी समझना चाहिए। प्रत्येक सन् जुलूस का आरंभ बादशाह की गद्दी-नशीनी की

तारीख को माना जाता हो, ऐसा ही नहीं है। कभी कुछ दिन पहले भी मनाया जाता था। अकबर और जहाँगीर का सन जुलूस-ता० १ फरवरीदन को ही होता था। पहला सन् जुलूस गद्दी-नशीनी का दिन ही समझना चाहिए। वास्तव में जुलूस का उत्सव दूसरे वर्ष से ही मनाया जाता था; परंतु तवारीखों में सन् १ जुलूस भी लिखा जाता था। इसलिये मैंने सन् १ जुलूस के प्रारंभ की तारीख वही दी है, जिस तारीख से दूसरा सन् जुलूस मनाया गया। परंतु प्रारंभ में प्रत्येक बादशाह की गद्दी-नशीनी का सन्, मास और तारीख दे दी है। उसी दिन को वास्तव में पहले सन् के प्रारंभ की तारीख समझना चाहिए।

अकबर।

जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर बादशाह अपने पिता हुमायूँ का देहांत होने के बाद ता० २ रबि उस्सानी हिजरी सन् ९६३ (विक्रमी १६१२ फाल्गुन सुदि ४ = ईसवी सन १५५६ तारीख १४ फरवरी) को गद्दी पर बैठा। इसने अपने राज्य के २९ वें वर्ष अर्थात् हि० स० ९९२ (वि० सं० १६४१ = ई० स० १५८४) में हिजरी सन् के स्थान पर इलाही सन् का प्रचार किया और उस समय के पूर्व के अपने राज्य-वर्षों का हिसाब लगाकर उसका प्रारंभ अपनी गद्दी-नशीनी के वर्ष से माना और तवारीखों में भी उसी गणना के अनुसार बादशाह अकबर के जुलूसी सन् (राज्यवर्ष) लिखे गए। इलाही सन् के महीने मुसलमानी नहीं, किंतु ईरानी हैं; और अकबर का जलूसी सन् उसकी गद्दी-नशीनी के दिन से नहीं किंतु ईरानियों के नए वर्ष के दिन अर्थात् फरवरदीन के प्रारंभ से मान लिया गया और उसी दिन सन् जुलूस का उत्सव होता रहा। अकबर बादशाह का देहांत विक्रम संवत् १६६२ कार्तिक सुदि १४ (११[१] जमादि-उस्सानी १०१४ = १५ अक्टोबर ई० स० १६०५) मंगलवार को १४ घड़ी रात गए आगरे में हुआ।

---

(१) बादशाह अकबर के जन्म दिन में जैसे विवाद है, वैसे ही उसकी मृत्यु की तारीख

सन् जुलूस	इलाही सन् मास और तारीख	हिजरी सन् मास और तारीख	विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि	ईसवी सन् मास और तारीख
१	१ फ़रवरदीन सन् १	२८ रबि उस्सानी सन् ९६३	चैत्र वदि ऽऽ सं० १६१२	११ मार्च सन् १५५६
२	१ " " २	५ जमादिउल् अ० " ९६४	चैत्र सुदि ११ " १६१४[२]	११ " " १५५७
३	१ " " ३	२० " " ९६५	चैत्र वदि ७ " १६१४	११ " " १५५८
४	१ " " ४	२ जमादिउस्सानी " ९६६	चैत्र सुदि ३ " १६१६[३]	११ " " १५५९
५	१ " " ५	१३ " " ९६७	फाल्गुन सुदि १४ " १६१६	११ " " १५६०
६	१ " " ६	२४ " " ९६८	चैत्र वदि ११ " १६१७	११ " " १५६१
७	१ " " ७	५ रजब " ९६९	चैत्र सुदि ६ " १६१९[४]	११ " " १५६२
८	१ " " ८	१५ " " ९७०	चैत्र वदि १ " १६१९	११ " " १५६३

में भी विवाद है, तुज़ुक जहाँगीरी में कहीं तारीख २० जमादिउस्सानी को, तो कहीं ८ जमादिउस्सानी को जहाँगीर का गद्दी-नशीन होना लिखा है, जो ठीक नहीं है। चंडवानी ज्योतिषियों के पंचांग की टिप्पणी में वि० सं० १६६२ कार्तिक सुदी १४ मंगलवार की रात को अकबर बादशाह का देहान्त होना लिखा है जो ठीक प्रतीत होता है। (२) इस वर्ष में ज्येष्ठ अधिक था। (३) इसमें आश्विन अधिक था। (४) इसमें श्रावण अधिक था।

सन् जुलूस	इलाही सन् मास और तारीख			हिजरी सन् मास और तारीख			विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि			ईसवी सन् मास और तारीख		
९	१ फरवरदीन सन्		९	२७ रजब सन्		९७१	चैत्र बदि १४	संवत्	१६२०	११	मार्च सन्	१५६४
१०	१	” ”	१०	८ शाबान	”	९७२	चैत्र सुदि १०	”	१६२२[४]	११	” ”	१५६५
११	१	” ”	११	१८ ”	”	९७३	चैत्र बदि ५	”	१६२२	११	” ”	१५६६
१२	१	” ”	१२	२९ ”	”	९७४	चैत्र सुदि १	”	१६२४	११	” ”	१५६७
१३	१	” ”	१३	११ रमजान	”	९७५	चैत्र सुदि १३	”	१६२५[६]	११	” ”	१५६८
१४	१	” ”	१४	२२ ”	”	९७६	चैत्र बदि ९	”	१६२५	११	” ”	१५६९
१५	१	” ”	१५	३ शव्वाल	”	९७७	चैत्र सुदि ५	”	१६२७[७]	११	” ”	१५७०
१६	१	” ”	१६	१४ ”	”	९७८	फाल्गुन सुदि १५	”	१६२७	११	” ”	१५७१
१७	१	” ”	१७	२५ ”	”	९७९	चैत्र बदि ११	”	१६२८	११	” ”	१५७२
१८	१	” ”	१८	६ जिल्काद	”	९८०	चैत्र सुदि ८	”	१६३०[८]	११	” ”	१५७३

(४) इसमें आषाढ़ अधिक था। (६) इसमें वैशाख अधिक था। (७) इसमें भाद्रपद अधिक था। (८) इसमें श्रावण अधिक था।

सन् जुलूस	इलाही सन् मास और तारीख	हिजरी सन् मास और तारीख	विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि	ईसवी सन् मास और तारीख
१९	१ फरवरदीन सन् १९	१७ ज़िल्काद सन् ९८१	चैत्र वदि ४ संवत् १६३०	११ मार्च सन् १५७४
२०	१ " " २०	२७ " " ९८२	चैत्र वदि १४ " १६३१	११ " " १५७५
२१	१ " " २१	९ ज़िलहिज्ज " ९८३	चैत्र सुदि ११ " १६३३[९]	११ " " १५७६
२२	१ " " २२	२० " " ९८४	चैत्र वदि ८ " १६३३	११ " " १५७७
२३	१ " " २३	१ मुहर्रम " ९८६	चैत्र सुदि ३ " १६३५[१०]	११ " " १५७८
२४	१ " " २४	१२ " " ९८७	फाल्गुन सुदि १३ " १६३५	११ " " १५७९
२५	१ " " २५	२४ " " ९८८	चैत्र वदि ११ " १६३६	११ " " १५८०
२६	१ " " २६	५ सफ़र " ९८९	चैत्र सुदि ७ " १६३८[११]	११ " " १५८१
२७	१ " " २७	१५ " " ९९०	चैत्र वदि २ " १६३८	११ " " १५८२

(९) इसमें ज्येष्ठ अधिक था। (१०) इसमें आश्विन अधिक था। (११) इसमें श्रावण अधिक था।

जुलूस सन्	इलाही सन् मास और तारीख	हिजरी सन् मास और तारीख	विक्रम संवत् मास पक्ष और तिथि	ईसवी सन् मास और तारीख
२८	१ फरवरदीन सन् २८	२६ सफर सन् ९९१	चैत्र बदि १३ संवत् १६३९	११ मार्च सन् १५८३
२९	१ " " २९	८ रबिउल् अव्वल " ९९२	चैत्र सुदि १० " १६४१[12]	११ " " १५८४
३०	१ " " ३०	१८ " " ९९३	चैत्र बदि ६ " १६४१	११ " " १५८५
३१	१ " " ३१	२९ " " ९९४	चैत्र सुदि १ " १६४३	११ " " १५८६
३२	१ " " ३२	११ रबिउस्सानी " ९९५	चैत्र सुदि १२ " १६४४[13]	११ " " १५८७
३३	१ " " ३३	२२ " " ९९६	चैत्र बदि ८ " १६४४	१० " " १५८८
३४	१ " " ३४	४ जमादिउल् अ० " ९९७	चैत्र सुदि ५ " १६४६[14]	११ " " १५८९
३५	१ " " ३५	१४ " " ९९८	फाल्गुन सुदि १५ " १६४६	११ " " १५९०
३६	१ " " ३६	२४ " " ९९९	चैत्र बदि ११ " १६४७	११ " " १५९१

(१२) इसमें आषाढ़ अधिक था। (१३) इसमें वैशाख अधिक था। (१४) इसमें भाद्रपद अधिक था।

सन् जुलूस	इलाही सन् मास और तारीख	हिजरी सन् मास और तारीख	विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि	ईसवी सन् मास और तारीख
३७	१, फरवरदीन सन् ३७	५ जमादिउस्सानी सन् १०००	चैत्र सुदि ७ संवत् १६४९[15]	१० मार्च सन् १५९२
३८	१ " " ३८	१७ " " १००१	चैत्र वदि ४ " १६४९	११ " " १५९३
३९	१ " " ३९	२८ " " १००२	चैत्र वदि ऽऽ " १६५०	११ " " १५९४
४०	१ " " ४०	९, रजब " १००३	चैत्र सुदि १० " १६५२[16]	११ " " १५९५
४१	१ " " ४१	२० " " १००४	चैत्र वदि ७ " १६५२	१० " " १५९६
४२	१ " " ४२	२ शाबान " १००५	चैत्र सुदि ४ " १६५४[17]	११ " " १५९७
४३	१ " " ४३	१३ " " १००६	फाल्गुन सुदि १४ " १६५४	११ " " १५९८
४४	१ " " ४४	२३ " " १००७	चैत्र वदि १० " १६५५	११ " " १५९९
४५	१ " " ४५	४ रमजान " १००८	चैत्र सुदि ६ " १६५७[18]	१० " " १६००

(१५) इसमें आषाढ़ अधिक था। (१६) इसमें ज्येष्ठ अधिक था। (१७) इसमें आश्विन अधिक था। (१८) इसमें श्रावण अधिक था।

क्रम संख्या	इलाही सन् मास और तारीख	हिजरी सन् मास और तारीख	विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि	ईसवी सन् मास और तारीख
४६	१ फरवरदीन सन् ४६	१४ रमज़ान सन् १००९	चैत्र वदि २ सं० १६५७	१० मार्च सन् १६०१
४७	१ " " ४७	२६ " " १०१०	चैत्र वदि १३ " १६५८	११ " " १६०२
४८	१ " " ४८	७ शव्वाल " १०११	चैत्र सुदि ९ " १६६०[11]	११ " " १६०३
४९	१ " " ४९	१८ " " १०१२	चैत्र वदि ५ " १६६०	१० " " १६०४
५०	१ " " ५०	२९ " " १०१३	चैत्र सुदि १ " १६६२	१० " " १६०५

(११) इसमें मलमास अधिक था।

जहाँगीर

नूरुद्दीन मुहम्मद जहाँगीर बादशाह अपने पिता अकबर के पीछे मुगल राज्य के सिंहासन पर बैठा। वह भी अपने पिता की नाईं अपने जुलूस (राज्यवर्ष) का उत्सव तारीख १ फरवरदीन को मनाता रहा, न कि अपनी गद्दी-नशीनी की तारीख से। जहाँगीर का देहांत हि० सन् १०३७ ता० २८ सफर (वि० सं० १६८४ कार्तिक वदि ऽऽ=ई० स० १६२७ ता० २८ अक्टोबर) को कश्मीर से लाहौर जाते हुए हुआ था।

सन् जुलूस	इलाही सन् मास और तारीख	हिजरी सन् मास और तारीख	विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि	ईसवी सन् मास और तारीख
१	१ फरवरदीन सन् ५१	११ ज़िल्काद सन् १०१४	प्र० चैत्र सुदि १२ सं० १६६३[1]	११ मार्च सन् १६०६
२	१ ,, ,, ५२	२२ ,, ,, १०१५	चैत्र वदि ८ ,, १६६३	११ ,, ,, १६०७
३	१ ,, ,, ५३	२ ज़िलहिज्ज ,, १०१६	चैत्र सुदि ५ ,, १६६५	१० ,, ,, १६०८
४	१ ,, ,, ५४	१३ ,, ,, १०१७	फाल्गुन सुदि १५ ,, १६६५	१० ,, ,, १६०९

(१) इस वर्ष में चैत्र अधिक था। (२) इसमें भाद्रपद अधिक था।

सन् जुलूस	इलाही सन् मास और तारीख		हिजरी सन् मास और तारीख		विक्रम संवत मास, पक्ष और तिथि		ईसवी सन् मास और तारीख	
१४	१ फरवरदीन सन्	६४	४ रबिउस्सानी सन्	१०२८	चैत्र सुदि ६	सं० १६७६[६]	११ मार्च सन्	१६१९
१५	१ ,, ,,	६५	२५ ,, ,,	१०२९	चैत्र वदि २	,, १६७६	१० ,, ,,	१६२०
१६	१ ,, ,,	६६	२७ ,, ,,	१०३०	चैत्र वदि १४	,, १६७७	१२ ,, ,,	१६२१
१७	१ ,, ,,	६७	८ जमादिउल् अ० ,,	१०३१	चैत्र सुदि ९	,, १६७९[७]	११ ,, ,,	१६२२
१८	१ ,, ,,	६८	१९ ,, ,,	१०३२	चैत्र वदि ५	,, १६७९	११ ,, ,,	१६२३
१९	१ ,, ,,	६९	२९ ,, ,,	१०३३	चैत्र सुदि १	,, १६८१	१० ,, ,,	१६२४
१०	१ ,, ,,	७०	१० जमादिउ० ,,	१०३४	चैत्र सुदि १२	,, १६८०[८]	१० ,, ,,	१६२५
२१	१ ,, ,,	७१	२२ ,, ,,	१०३५	चैत्र वदि ७	,, १६८२	११ ,, ,,	१६२६
२२	१ ,, ,,	७२	३ रजब ,,	१०३६	चैत्र सुदि ४	,, १६८४[९]	११ ,, ,,	१६२७

(६) इसमें भाद्रपद अधिक था। (७) इसमें आषाढ़ अधिक था। (८) इसमें चैत्र अधिक था। (९) इसमें श्रावण अधिक था।

सन् जुलूस	हिजरी सन् माम और तारीख			विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि			ईसवी सन् मास और तारीख		
१	१ जमादिउस्सानी	सन्	१०३७	माघ सुदि २	संवत्	१६८४	२८ जनवरी	सन्	१६२८
२	१ ,,	,,	१०३८	माघ सुदि ३	,,	१६८५	१७ ,,	,,	१६२९
३	१ ,,	,,	१०३९	माघ सुदि ३	,,	१६८६	६ ,,	,,	१६३०
४	१ ,,	,,	१०४०	पौष सुदि ३	,,	१६८७[2]	२८ दिसम्बर	,,	१६३०
५	१ ,,	,,	१०४१	पौष सुदि ३	,,	१६८८	१५ ,,	,,	१६३१
६	१ ,,	,,	१०४२	पौष सुदि ३	,,	१६८९	४ ,,	,,	१६३२
७	१ ,,	,,	१०४३	मार्गशीर्ष सुदि २	,,	१६९०[3]	२३ नवंबर	,,	१६३३
८	१ ,,	,,	१०४४	मार्गशीर्ष सुदि ३	,,	१६९१	१३ ,,	,,	१६३४
९	१ ,,	,,	१०४५	कार्तिक सुदि ३	,,	१६९२[4]	२ ,,	,,	१६३५

(२) इस वर्ष में आषाढ़ अधिक था। (३) इसमें वैशाख अधिक था। (४) इसमें भाद्रपद अधिक था।

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख	विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि	ईसवी सन् मास और तारीख
१९	१ जमादिउस्सानी सन् १०५५	श्रावण सुदि ३ संवत् १७०२	१५ जूलाई सन् १६४५
२०	१ ,, ,, १०५६	प्रथम श्रावण सुदि ३ ,, १७०३[८]	५ ,, ,, १६४६
२१	१ ,, ,, १०५७	आषाढ़ सुदि २ ,, १७०४	२४ जून ,, १६४७
२२	१ ,, ,, १०५८	आषाढ़ सुदि ३ ,, १७०५	१३ ,, ,, १६४८
२३	१ ,, ,, १०५९	प्रथम आषाढ़ सुदि २ सं० १७०६[९]	२ ,, ,, १६४९
२४	१ ,, ,, १०६०	ज्येष्ठ सुदि ३ ,, १७०७	२३ मई ,, १६५०
२५	१ ,, ,, १०६१	ज्येष्ठ सुदि २ ,, १७०८	११ ,, ,, १६५१
२६	१ ,, ,, १०६२	द्वितीय वैशाख सुदि ३ ,, १७०९[१०]	३० अप्रैल ,, १६५२
२७	१ ,, ,, १०६३	वैशाख सुदि २ ,, १७१०	१९ ,, ,, १६५३

(८) इसमें श्रावण अधिक था। (९) इसमें आषाढ़ अधिक था। (१०) इसमें वैशाख अधिक था।

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख			विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि			ईसवी सन् मास और तारीख		
२८	१ जमादिउस्सानी	सन्	१०६४	वैशाख सुदि २	संवत्	१७११[11]	९ अप्रैल	सन्	१६५४
२९	१ "	"	१०६५	चैत्र सुदि २	"	१७१२	३० मार्च	"	१६५५
३०	१ "	"	१०६६	चैत्र सुदि २	"	१७१३	१८ "	"	१६५६
३१	१ "	"	१०६७	चैत्र सुदि २	"	१७१४[12]	८ "	"	१६५७
३२	१ "	"	१०६८	फाल्गुन सुदि २	"	१७१४	२४ फरवरी	"	१६५८

(११) इसमें भाद्रपद अधिक था। (१२) इसमें श्रावण अधिक था।

औरंगज़ेब (आलमगीर) ।

मुहिउद्दीन मुहम्मद औरंगज़ेब आलमगीर अपने पिता को आगरे के किले में कैद कर देहली में, पहुँचा और ता० १ जिल्काद सन् १०६८ हि० (श्रवण सुदि ३ वि० सं० १७१५=ता० २३ जूलाई ई० स० १६५८) को मुगलिया-सल्तनत का स्वामी बना। फिर तारीख २४ रमज़ान हि० स० १०६९ (आषाढ़ वदि ११ वि० सं० १७१६=ता० ५ जून ई० स० १६५९) को अर्थात् अपनी गद्दी-नशीनी से लगभग एक वर्ष पीछे बड़ा जलसा कर ऊपर लिखे हुए खिताब उसने धारण किए और अपने नाम का खुतबा और सिक्का जारी किया। इसी को इसका दूसरा सन् जुलूस मानना चाहिए। इसके बाद ता० १ रमज़ान से जुलूस मनाया जाने लगा। इसका देहान्त तारीख २८ ज़िल्काद ११११८ हि० स० (फाल्गुन वदि १४ वि० सं० १७६३=ता० २१ फरवरी ई० स० १७०७) को अहमदनगर (दक्षिण) में हुआ।

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख		विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि		ईसवी सन् मास और तारीख	
१	१ ज़िल्काद	सन् १०६८	श्रावण सुदि ३	संवत् १७१५	२२ जुलाई	सन् १६५८
२	२४ रमज़ान	" १०६९	आषाढ़ बदि ११	" १७१६	५ जून	" १६५९
३	१ "	" १०७०	प्रथम ज्येष्ठ सुदि २	" १७१७[1]	१ मई	" १६६०
४	१ "	" १०७१	वैशाख सुदि २	" १७१८	२१ अप्रैल	" १६६१
५	१ "	" १०७२	वैशाख सुदि ३	" १७१९	१० "	" १६६२
६	१ "	" १०७३	द्वितीय चैत्र सुदि ३	" १७२०[2]	३१ मार्च	" १६६३
७	१ "	" १०७४	चैत्र सुदि ३	" १७२१	२० "	" १६६४
८	१ "	" १०७५	चैत्र सुदि ३	" १७२२[3]	९ "	" १६६५
९	१ "	" १०७६	फाल्गुन सुदि २	" १७२२	२६ फरवरी	" १६६६

(१) इस वर्ष में ज्येष्ठ अधिक था। (२) इसमें चैत्र अधिक था। (३) इसमें श्रावण अधिक था।

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख			विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि			ईसवी सन् मास और तारीख		
१०	१ रमज़ान	सन्	१०७७	फाल्गुन सुदि ३	संवत	१७२३	१५ फरवरी	सन्	१६६७
११	१ "	"	१०७८	फाल्गुन सुदि २	"	१७२४	४ "	"	१६६८
१२	१ "	"	१०७९	माघ सुदि ३	"	१७२५[४]	२४ जनवरी	"	१६६९
१३	१ "	"	१०८०	माघ सुदि २	"	१७२६	१३ "	"	१६७०
१४	१ "	"	१०८१	माघ सुदि ३	"	१७२७	३ "	"	१६७१
१५	१ "	"	१०८२	पौष सुदि २	"	१७२८[५]	२३ दिसंबर	"	१६७१
१६	१ "	"	१०८३	पौष सुदि २	"	१७२९	११ "	"	१६७२
१७	१ "	"	१०८४	मार्गशीर्ष सुदि २	"	१७३०[६]	३० "	"	१६७३
१८	१ "	"	१०८५	मार्गशीर्ष सुदि ३	"	१७३१	२० "	"	१६७४

(४) इसमें आषाढ़ अधिक था। (५) इसमें वैशाख अधिक था। (६) इसमें भाद्रपद अधिक था।

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख			विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि			ईसवी सन् मास और तारीख		
१९	१ रमज़ान	सन्	१०८६	मार्गशीर्ष सुदि ३	संवत्	१७३२	९ नवंबर	सन्	१६७५
२०	१ "	"	१०८७	कार्तिक सुदि ३	"	१७३३[7]	२५ अक्तूबर	"	१६७६
२१	१ "	"	१०८८	कार्तिक सुदि २	"	१७३४	१८ "	"	१६७७
२२	१ "	"	१०८९	कार्तिक सुदि ३	"	१७३५	८ "	"	१६७८
२३	१ "	"	१०९०	आश्विन सुदि ३	"	१७३६[8]	२७ सितंबर	"	१६७९
२४	१ "	"	१०९१	आश्विन सुदि ३	"	१७३७	१५ "	"	१६८०
२५	१ "	"	१०९२	प्रथम भाद्रपद सुदि ३	"	१७३८[9]	४ "	"	१६८१
२६	१ "	"	१०९३	भाद्रपद सुदि ३	"	१७३९[10]	२५ "	"	१६८२
२७	१ "	"	१०९४	भाद्रपद सुदि २	"	१७४०	१४ "	"	१६८३

(७) इसमें श्रावण अधिक था। (८) इसमें ज्येष्ठ अधिक था। (९) इसमें आश्विन अधिक और मार्गशीर्ष क्षय था। (१०) इसमें चैत्र अधिक था।

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख	विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि	ईसवी सन् मास और तारीख
२८	१ रमज़ान सन् १०९५	द्वितीय श्रावण सुदि २ सं० १७४१[11]	२ अगस्त सन् १६८४
२९	१ " " १०९६	श्रावण सुदि ३ " १७४२	२४ जुलाई " १६८५
३०	१ " " १०९७	श्रावण सुदि ३ " १७४३	१३ " " १६८६
३१	१ " " १०९८	द्वितीय आषाढ़ सुदि ३ " १७४४[12]	२ " " १६८७
३२	१ " " १०९९	आषाढ़ सुदि २ " १७४५	१९ जून " १६८८
३३	१ " " ११००	आषाढ़ सुदि ३ " १७४६	१० " " १६८९
३४	१ " " ११०१	ज्येष्ठ सुदि ३ " १७४७[13]	३० मई " १६९०
३५	१ " " ११०२	ज्येष्ठ सुदि ३ " १७४८	२० " " १६९१
३६	१ " " ११०३	ज्येष्ठ सुदि २ " १७४९[14]	८ " " १६९२

(११) इसमें श्रावण अधिक था। (१२) इसमें आषाढ़ अधिक था। (१३) इसमें वैशाख अधिक था। (१४) इसमें भाद्रपद अधिक था।

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख				विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि			ईसवी सन् मास और तारीख		
३७	१	रमजान	सन्	११०४	वैशाख सुदि २	संवत्	१७५०	२७ अप्रैल	सन्	१६९३
३८	१	"	"	११०५	वैशाख सुदि २	"	१७५१	१६ "	"	१६९४
३९	१	"	"	११०६	वैशाख सुदि २	"	१७५२[१५]	६ "	"	१६९५
४०	१	"	"	११०७	चैत्र सुदि ३	"	१७५३	२५ मार्च	"	१६९६
४१	१	"	"	११०८	चैत्र सुदि ३	"	१७५४	१५ "	"	१६९७
४२	१	"	"	११०९	चैत्र सुदि २	"	१७५५[१६]	३ "	"	१६९८
४३	१	"	"	१११०	फाल्गुन सुदि ३	"	१७५५	२२ फरवरी	"	१६९९
४४	१	"	"	११११	फाल्गुन सुदि २	"	१७५६	११ "	"	१७००
४५	१	"	"	१११२	माघ सुदि ३	"	१७५७[१७]	३० जनवरी	"	१७०१

(१५) इसमें आषाढ़ अधिक था। (१६) इसमें ज्येष्ठ अधिक था। (१७) इसमें आश्विन अधिक था।

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख				विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि			ईसवी सन् मास और तारीख			
४६	१	रमजान	सन्	१११३	माघ सुदि २	संवत्	१७५८	१९	जनवरी	सन्	१७०२
४७	१	„	„	१११४	माघ सुदि ७	„	१७५९	८	„	„	१७०३
४८	१	„	„	१११५	पौष सुदि ३	„	१७६०[18]	२९	दिसंबर	„	१७०३
४९	१	„	„	१११६	पौष सुदि ३	„	१७६१	१८	„	„	१७०४
५०	१	„	„	१११७	पौष सुदि ३	„	१७६२	७	„	„	१७०५
५१	१	„	„	१११८	मार्गशीर्ष सुदि २	„	१७६३[19]	२६	नवंबर	„	१७०६

(१८) इसमें श्रावण अधिक था। (१९) इसमें ज्येष्ठ अधिक था।

बहादुर शाह (शाह आलम)।

कुतुबुद्दीन मुहम्मद शाह आलम बहादुर शाह; बादशाह औरंगजेब का दूसरा शाहजादा (मुअज्ज़म) था और अपने पिता की मृत्यु के समय काबुल में था। वहाँ अपने पिता के देहांत की खबर सुनते ही उसने अपने को बादशाह मान लिया; परंतु उसके छोटे भाई शाहज़ादा आज़म ने भी इधर अपने को बादशाह प्रसिद्ध कर दिया। इस पर दोनों भाइयों में धौलपुर और आगरे के बीच ता० १८ रबीउल् अव्वल हि० स० १११९ (आषाढ़ वदि ४ वि० सं० १७६४ ता० ८ जून ई० स० १७०७) को बड़ी लड़ाई हुई जिसमें शाहज़ादा आज़म मारा गया और बहादुर शाह ने अपना दूसरा जुलूस ता० १ जिलहिज्ज हि० स० १११९ (फाल्गुन सुदि २ वि० सं० १७६४ = ता० १२ फरवरी ई० स० १७०८) को मनाया। इसका देहांत ता० २१ मुहर्रम हि० स० ११२४ (फाल्गुन वदि ७ वि० सं० १७६८ = ता० १८ फरवरी ई० सं० १७२२) को हुआ।

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख				विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि			ईसवी सन् मास और तारीख			
१	१	जिलहिज्ज	सन्	१११८	फाल्गुन सुदि ३	संवत्	१७६३	२३	फरवरी	सन्	१७०७
२	१	,,	,,	१११९	फाल्गुन सुदि २	,,	१७६४	१२	,,	,,	१७०८
३	१	,,	,,	११२०	फाल्गुन सुदि ३	,,	१७६५	१	,,	,,	१७०९
४	१	,,	,,	११२१	माघ सुदि ३	,,	१७६६[1]	२१	जनवरी	,,	१७१०
५	१	,,	,,	११२२	माघ सुदि २	,,	१७६७	१०	,,	,,	१७११
६	१	,,	,,	११२३	पौष सुदि २	,,	१७६८[2]	३०	दिसंबर	,,	१७११

(१) इसमें वैशाख अधिक था। (२) इसमें भाद्रपद अधिक था।

जहाँदार शाह।

मुहम्मद मुइज़ुद्दीन जहाँदार शाह बादशाह अपने पिता की मृत्यु के पीछे अपने भाइयों से लड़ता रहा और उनको नष्ट कर ता० १४ रबिउल् अव्वल हि० स० ११२४ (चैत्र सुदि १५ वि० सं० १७६९ = ता० १० अप्रैल ई० स० १७१२) को लाहौर में गद्दी-नशीन हुआ और अनुमान ९ महीने बाद आगरे के पास की लड़ाई में कैद होकर अपने भतीजे फर्रुखसियर की आज्ञा से ज़िलहिज्ज हि० स० ११२४ (वि० सं० १७६९ = ई० स० १७१३) में मार डाला गया।

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख	विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि	ईसवी सन् मास और तारीख
१	१४ रबिउल् अव्वल ११२४	चैत्र सुदि १५ संवत् १७६९	१० अप्रैल सन् १७१२

फ़र्रुखसियर ।

जहाँदार शाह को मरवाकर मुहम्मद फ़र्रुखसियर, ता० २३ जिलहिज हि० स० ११२४ (माघ बदि १० वि० सं० १७६९ = ता० १० जनवरी ई० स० १७१३) को देहली में गद्दी-नशीन हुआ। यह अपना जुलूस ता० १ रबिउल् अव्वल से मनाता रहा। ता० ८ रबिउस्सानी हि० स० ११३१ (फाल्गुन सुदि ९ वि० सं० १७७५ = ता० १७ फरवरी ई० स० १७१९) को यह अंधा किया जाकर कैद किया गया और ता० ५ रजब हि० स० ११३१ (ज्येष्ठ सुदि ११ वि० सं० १७७६ = ता० १८ मई ई० स० १७१९) को मार डाला गया।

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख				विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि		ईसवी सन् मास और तारीख			
१	१	रबिउल्	अव्वल	११२५	चैत्र सुदि ७	संवत् १७७०	१७	मार्च	सन्	१७१३
२	१	"	"	११२६	चैत्र सुदि २	" १७७१[1]	७	"	"	१७१४
३	१	"	"	११२७	फाल्गुन सुदि ३	" १७७१	२५	फरवरी	"	१७१५
४	१	"	"	११२८	फाल्गुन सुदि ३	" १७७२	१४	"	"	१७१६
५	१	"	"	११२९	फाल्गुन सुदि २	" १७७३	३	"	"	१७१७
६	१	"	"	११३०	माघ सुदि ३	" १७७४[2]	२३	जनवरी	"	१७१८
७	१	"	"	११३१	माघ सुदि ३	" १७७५	१२	"	"	१७१९

(१) इस वर्ष में आषाढ़ अधिक था। (२) इस वर्ष में ज्येष्ठ [illegible] था।

रफ़िउद्दरजात।

रफ़िउद्दरजात को, जो बादशाह शाहआलम का पोता और रफ़िउश्शान का बेटा था, सैयदों ने फर्रुख़सियर को क़ैद कर ता० ९ रबिउस्सानी हि० स० ११३१ (फाल्गुन सुदि १० वि० सं० १७७५ = ता० १८ फरवरी ई० स० १७१९) को तख़्त पर बैठाया; परंतु ३ महीने बाद ता० १९ रजब हि० स० ११३१ (आषाढ़ वदि ६ वि० सं० १७७६ = ता० २८ मई ई० स० १७१९ को इसका देहांत हो गया।

सन् जुलूस	हिजरी सन मास और तारीख़	विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि	ईसवी सन मास और तारीख़
१	९ रबिउस्सानी सन ११३१	फाल्गुन सुदि १० सं० १७७५	१८ फरवरी सन् १७१९

रफिअद्दौला।

रफिउद्दौला शाहजहाँ सानी को, जो रफिउद्दरजात का बड़ा भाई था, सैयदों ने रफिउद्दरजात के मरने पर ता० २० रज्जब हि० स० ११३१ (आषाढ़ वदि ७ वि० सं० १७७६ = ता० २९ मई ई० स० १७१९) को तख्त पर बैठाया, परंतु वह ता० ७ जिल्काद हि० स० ११३१ (प्रथम आश्विन सुदि ९ सं० १७७६ = ११ सितंबर ई० स० १७१९) को मर गया।

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख	विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि	ईसवी सन् मास और तारीख
१	२० रज्जब सन् ११३१	आषाढ़ वदि ७ सं० १७७६[१]	२९ मई सन् १७१९

(१) इस वर्ष में आश्विन अधिक था।

मुहम्मद शाह।

रफ़ीउद्दौला के मरने पर सैयदों ने शाह आलम के पोते और खुजिस्ता अख्तर के बेटे नासिरुद्दीन मुहम्मद शाह को ता० १५ ज़िल्काद हि० स० ११३१ (द्वितीय आश्विन वदि २ वि० सं० १७७६ = ता० १९ सितंबर १७१९ ई० स०) को तख्त पर बैठाया। इसने अपने पहले के दो बादशाहों अर्थात् रफ़ीउद्दरजात और रफ़ीउद्दौला का बादशाह होना स्वीकार न कर अपने को फर्रुखसियर का उत्तराधिकारी माना और अपने जुलूस का दिन वही रक्खा जिस दिन फर्रुखसियर गद्दी से उतारा जाकर रफ़ीउद्दरजात गद्दी पर बैठाया गया था। इसका देहांत ता० २७ रबिउस्सानी हि० स० ११६१ (वैशाख वदि ३० वि० सं० १८०५ = १६ अप्रैल ई० स० १७४८) को हुआ।

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख			विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि			ईसवी सन् मास और तारीख		
१	९ रबिउस्सानी	सन्	११३१	फाल्गुन सुदि १०	संवत्	१७७५	१८ फरवरी	सन्	१७१९
२	५ ,,	,,	११३२	माघ सुदि ११	,,	१७७६	८ ,,	,,	१७२०
३	५ ,,	,,	११३३	माघ सुदि ११	,,	१७७७	२७ जनवरी	,,	१७२१
४	५ ,,	,,	११३४	माघ सुदि ११	,,	१७७८	१६ ,,	,,	१७२२
५	५ ,,	,,	११३५	पौष सुदि ११	,,	१७७९[1]	६ ,,	,,	१७२३
६	९ ,,	,,	११३६	पौष सुदि १२	,,	१७८०	२७ दिसंबर	,,	१७२३
७	९ ,,	,,	११३७	पौष सुदि १०	,,	१७८१	१४ ,,	,,	१७२४
८	९ ,,	,,	११३८	मार्गशीर्ष सुदि ११	,,	१७८२[2]	४ ,,	,,	१७२५
९	९ ,,	,,	११३९	मार्गशीर्ष सुदि १०	,,	१७८३	२३ नवंबर	,,	१७२६

(१) इस वर्ष में श्रावण अधिक था। (२) इसमें आषाढ़ अधिक था।

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख			विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि			ईस्वी सन् मास और तारीख		
१०	१ रबिउस्सानी	सन	११४०	मार्गशीर्ष सुदि १०	संवत्	१७८४	१२ नवंबर	सन्	१७२७
११	१ "	"	११४१	कार्तिक सुदि ११	"	१७८५[३]	१ "	"	१७२८
१२	१ "	"	११४२	कार्तिक सुदि ११	"	१७८६	२२ अक्तूबर	"	१७२९
१३	१ "	"	११४३	आश्विन सुदि ११।१२	"	१७८७[४]	११ "	"	१७३०
१४	१ "	"	११४४	आश्विन सुदि ११	"	१७८८	३० सितंबर	"	१७३१
१५	१ "	"	११४५	आश्विन सुदि १०	"	१७८९	१८ "	"	१७३२
१६	१ "	"	११४६	भाद्रपद सुदि १०	"	१७९०[५]	७ "	"	१७३३
१७	१ "	"	११४७	भाद्रपद सुदि १०	"	१७९१	२८ अगस्त	"	१७३४
१८	१ "	"	११४८	भाद्रपद सुदि ११	"	१७९२	१७ "	"	१७३५

(३) इसमें वैशाख अधिक था। (४) इसमें भाद्रपद अधिक था। (५) इसमें आषाढ़ अधिक था।

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख			विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि		ईसवी सन् मास और तारीख		
१९	९ रबिउस्सानी	सन	११४९	श्रावण सुदि ११	संवत् १७९३[६]	६ अगस्त	सन्	१७३६
२०	९ ,,	,	११५०	श्रावण सुदि ११	,, १७९४	२६ जुलाई	,,	१७३७
२१	९ ,,	,,	११५१	श्रावण सुदि ११	,, १७९५[७]	१६ ,,	,,	१७३८
२२	९ ,,	,,	११५२	आषाढ सुदि १०	,, १७९६	५ ,,	,,	१७३९
२३	९ ,,	,,	११५३	आषाढ सुदि १०	,, १७९७	२३ जून	,,	१७४०
२४	९ ,,	,,	११५४	आषाढ सुदि १०	,, १७९८[८]	१२ ,,	,,	१७४१
२५	९ ,,	,,	११५५	ज्येष्ठ सुदि ११	,, १७९९	२ ,,	,,	१७४२
२६	९ ,,	,,	११५६	ज्येष्ठ सुदि ११	. १८००	२३ मई	,,	१७४३
२७	९ ,,	,,	११५७	ज्येष्ठ सुदि ११	,, १८०१[९]	११ ,,	,,	१७४४

(६) इसमें ज्येष्ठ अधिक था। (७) इसमें आश्विन अधिक था। (८) इसमें श्रावण अधिक था। (९) इसमें आषाढ़ अधिक था।

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख	विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि	ईसवी सन् मास और तारीख
२८	९ रबिउस्सानी सन् ११५८	वैशाख सुदि ११ संवत १८०२	१ मई सन १७४५
२९	९ " " ११५९	वैशाख सुदि ११ " १८०३	२० अप्रैल " १७४६
३०	९ " " ११६०	द्वितीय चैत्र सुदि १०, १८०४[10]	९ " " १७४७
३१	९ " " ११६१	चैत्र सुदि १० " १८०५	२८ मार्च " १७४८

(१०) इसमें चैत्र अधिक था।

अहमद शाह अपने पिता मुहम्मदशाह की मृत्यु के समय पानीपत में था और वहीं उसका समाचार पाने पर ता० २ जमादिउल् अव्वल हि० स० ११६१ (वैशाख सुदि ४ वि० स० १८०५ = ता० २० अप्रैल ई० स० १७४८) को गद्दी नशीन हुआ और उसने अपना जुलूस ता० १ जमादिउल् अव्वल से मनाना शुरू किया। इसके सातवें राज्य-वर्ष मे ता० १० शाबान हि० स० ११६७ (ज्येष्ठ सुदि १२ वि० स० १८११ = ता० २ जून ई० स० १७५४) को इसके वजीर इमादुलमुल्क ने इसे कैद कर अंधा कर दिया और बादशाह जहाँदार शाह के छोटे बेटे अज़ीज़ुद्दीन (आलमगीर दूसरे) को गद्दी पर बैठाया। अहमद शाह का देहांत ता० २७ शव्वाल हि० स० ११८८ (पौष वदि ३० वि० सं० १८३१ = ता० १ जनवरी ई० स० १७७५) को हुआ।

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख	विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि	ईसवी सन् मास और तारीख
१	१ जमादिउल् अव्वल ११६१	वैशाख सुदि ३ संवत् १८०५	१९ अप्रैल सन् १७४८
२	१ ” ” ११६२	वैशाख सुदि ३ ” १८०६[1]	८ ” ” १७४९
३	१ ” ” ११६३	चैत्र सुदि २ ” १८०७	२८ मार्च ” १७५०
४	१ ” ” ११६४	चैत्र सुदि ३ ” १८०८	१८ ” ” १७५१
५	१ ” ” ११६५	चैत्र सुदि ३ ” १८०९[2]	७ ” ” १७५२[3]
६	१ ” ” ११६६	फाल्गुन सुदि २ ” १८०९	७ ” ” १७५३
७	१ ” ” ११६७	फाल्गुन सुदि २ ” १८१०	२४ फरवरी ” १७५४

(१) इस वर्ष में भाद्रपद अधिक था। (२) इसमें आषाढ़ अधिक था। (३) जूलियस सीजर ने सौर वर्ष को ३६५¼ दिन का स्थिर किया जो वास्तविक सौर वर्ष से ११ मिनट १४ सेकेंड बड़ा था। इससे करीब १२८ वर्ष में १ दिन का अंतर पड़ने लगा। यह अंतर बढ़ते बढ़ते ई० स० १५८२ में १० दिन का हो गया। पोप ग्रेगरी ने सूर्य के चार में इतना अंतर पड़ता हुआ देखकर ता० २४ फरवरी ई० स० १५८२ को यह आज्ञा दी कि इस वर्ष के अक्टूबर

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख़		विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि		ईसवी सन् मास और तारीख़	
१	१० शाबान	सन ११६७	ज्येष्ठ सुदि १२	संवत् १८११	२ जून	सन १७५४
२	१० "	" ११६८	प्रथम ज्येष्ठ सुदि १३	" १८१२[1]	२३ मई	" १७५५
३	१० "	" ११६९	वैशाख सुदि ११	" १८१३	१० "	" १७५६
४	१० "	" ११७०	वैशाख सुदि १०	" १८१४[2]	२९ अप्रैल	" १७५७
५	१० "	" ११७१	चैत्र सुदि ११	" १८१५	१९ "	" १७५८
६	१० "	" ११७२	चैत्र सुदि १२	" १८१६	९ "	" १७५९

(१) इस वर्ष में ज्येष्ठ अधिक था। (२) इसमें आश्विन अधिक था।

शाहजहाँ दूसरा।

इमादुलमुल्क ने मुहियुस्सुन्नत को ता० ८ रबिउस्सानी हि० स० ११७३ (मार्गशीर्ष सुदि १० वि० सं० १८१६ = ता० २९ नवंबर ई० स० १७५९) को गद्दी पर बैठाया और उसका नाम शाहजहाँ दूसरा रक्खा। थोड़े ही समय बाद मरहठों ने देहली को लूटकर ता० २९ सफर हि० स० ११७४ को आलमगीर दूसरे के पोते और अलीगौहर के बेटे मिर्ज़ा जवाँबख़्त को दिल्ली के तख्त पर बैठाया, क्योंकि उसका पिता उस समय बंगाल में था।

सन् जुलूस	हिजरी सन मास और तारीख़	विक्रम संवत मास, पक्ष और तिथि	ईसवी सन्, मास और तारीख़
१	ता० ८ रबिउस्सानी सन ११७३	मार्गशीर्ष सुदि १० संवत् १८१६	२९ नवंबर सन् १७५९

शाह आलम दूसरा।

आलमगीर दूसरे के शाहज़ादे अलीगौहर को इमादुल्मुल्क से कैद होने का भय था जिससे वह भागकर बंगाल चला गया। अपने पिता के मारे जाने की खबर इसको बिहार में मिली। ता० ४ जमादिउल्अव्वल हि० स० ११७३ (पौष सुदि ६ वि० सं० १८१६ = ता० २५ दिसंबर ई० स० १७५९) को यह बादशाह बना और इसने शाह आलम दूसरा यह खिताब धारण किया। इसका देहांत ता० ७ रमज़ान हि० स० १२२१ (कार्तिक सुदी ९ वि० सं० १८६३ = ता० १९ नवंबर ई० स० १८०६) को हुआ। यह नाम मात्र का ही बादशाह रहा और राज्यसत्ता वास्तव में मरहठों (सेंधिया) के हाथ में थी।

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख		विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि		ईसवी सन् मास और तारीख	
१०	४ जमादिउल् अ०	सन् ११८२	भाद्रपद सुदि ५	संवत् १८२५[4]	१६ सितंबर	सन् १७६८
११	४ ,,	,, ११८३	भाद्रपद सुदि ५	,, १८२६	५ ,,	,, १७६९
१२	४ ,,	,, ११८४	भाद्रपद सुदि ६	,, १८२७	२६ अगस्त	,, १७७०
१३	४ ,,	,, ११८५	श्रावण सुदि ६,७	,, १८२८[5]	१६ ,,	,, १७७१
१४	४ ,,	,, ११८६	श्रावण सुदि ६	,, १८२९	४ ,,	,, १७७२
१५	४ ,,	,, ११८७	श्रावण सुदि ६	,, १८३०	२५ जुलाई	,, १७७३
१६	४ ,,	,, ११८८	आषाढ़ सुदि ५	,, १८३१[6]	१४ ,,	,, १७७४
१७	४ ,,	,, ११८९	आषाढ़ सुदि ५	,, १८३२	३ ,,	,, १७७५
१८	४ ,,	,, ११९०	आषाढ़ सुदि ५	,, १८३३[7]	२१ जून	,, १७७६

(४) इसमें श्रावण अधिक था। (५) इसमें आषाढ़ अधिक था। (६) इसमें वैशाख अधिक था। (७) इसमें भाद्रपद अधिक था।

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख				विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि		ईसवी सन् मास और तारीख		
२८	४ जमादिउल्	अ० सन्		१२००	फाल्गुन सुदि ७	संवत् १८४२	६ मार्च	सन्	१७८६
२९	४	,,	,,	१२०१	फाल्गुन सुदि ६	,, १८४३	२३ फरवरी	,,	१७८७
३०	४	,,	,,	१२०२	माघ सुदि ५	,, १८४४[11]	१२ ,,	,,	१७८८
३१	४	,,	,,	१२०३	माघ सुदि ५	,, १८४५	३१ जनवरी	,,	१७८९
३२	४	,,	,,	१२०४	माघ सुदि ५	,, १८४६	२० ,,	,,	१७९०
३३	४	,,	,,	१२०५	पौष सुदि ६	,, १८४७[12]	१० ,,	,,	१७९१
३४	४	,,	,,	१२०६	पौष सुदि ६	,, १८४८	३० दिसंबर	,,	१७९१
३५	४	,,	,,	१२०७	पौष सुदि ६	,, १८४९	१९ ,,	,,	१७९२
३६	४	,,	,,	१२०८	मार्गशीर्ष सुदि ७	,, १८५०[13]	९ ,,	,,	१७९३

(११) इसमें श्रावण अधिक था। (१२) इसमें आषाढ़ अधिक था। (१३) इसमें वैशाख अधिक था।

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख	विक्रम संवत् मास. पक्ष और तिथि	ईसवी सन् मास और तारीख
३७	४ जमादिउल् अ० सन १२०९	मार्गशीर्ष सुदि ७ संवत १८५१	२८ नवंबर सन् १७९४
३८	४ ,, ,, १२१०	कार्तिक सुदि ६ ,, १८५२[१४]	१७ ,, ,, १७९५
३९	४ ,, ,, १२११	कार्तिक सुदि ६ ,, १८५३	५ ,, ,, १७९६
४०	४ ,, ,, १२१२	कार्तिक सुदि ६ ,, १८५४	२५ अक्तूबर ,, १७९७
४१	४ ,, ,, १२१३	आश्विन सुदि ६ ,, १८५५[१५]	१५ ,, ,, १७९८
४२	४ ,, ,, १२१४	आश्विन सुदि ६ ,, १८५६	४ ,, ,, १७९९
४३	४ ,, ,, १२१५	आश्विन सुदि ६ ,, १८५७	२४ सितंबर ,, १८००
४४	४ ,, ,, १२१६	भाद्रपद सुदि ५ ,, १८५८[१६]	१३ ,, ,, १८०१
४५	४ ,, ,, १२१७	भाद्रपद सुदि ५ ,, १८५९	२ ,, ,, १८०२

(१४) इसमें भाद्रपद अधिक था। (१५) इसमें श्रावण अधिक था। (१६) इसमें ज्येष्ठ अधिक था।

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख	विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि	ईसवी सन् मास और तारीख
४६	४ जमादिउल् अ० सन् १२१८	भाद्रपद सुदि ५ संवत् १८६०	२२ अगस्त सन् १८०३
४७	४ ,, ,, १२१९	श्रावण सुदि ६ ,, १८६१[17]	११ ,, ,, १८०४
४८	४ ,, ,, १२२०	श्रावण सुदि ६ ,, १८६२	३१ जूलाई ,, १८०५
४९	४ ,, ,, १२२१	प्रथम श्रावण सुदि ,, १८६३[18]	२१ ,, ,, १८०६

(१७) इसमें चैत्र अधिक था। (१८) इसमें श्रावण अधिक था।

अकबर दूसरा।

शाह आलम दूसरे के पीछे उसका पुत्र मुहम्मद अकबरशाह ७ रमज़ान हि० स० १२२१ (कार्तिक सुदि ९ सं० १८६३ = ता० १९ नवंबर ई० स० १८०६) को दिल्ली के तख्त पर बैठा। इसकी मृत्यु ता० २८ जमादिउस्सानी हि० स० १२५३ (आश्विन वदि ३० सं० १८९५ = ता० २९ सितंबर ई० स० १८३७) को हुई। यह भी नाम मात्र का बादशाह था। इसके पीछे इसका बेटा बहादुर शाह बादशाह हुआ।

सन जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख			विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि		ईसवी सन् मास और तारीख		
१	७ रमज़ान	सन्	१२२१	कार्तिक सुदि ९	सं० १८६३	१९ नवंबर	सन्	१८०६
२	७ "	"	१२२२	कार्तिक सुदि ९	" १८६४	८ "	"	१८०७
३	७ "	"	१२२३	कार्तिक सुदि १०	" १८६५	२८ अक्टूबर	"	१८०८
४	७ "	"	१२२४	आश्विन सुदि ९	" १८६६[1]	१७ "	"	१८०९
५	७ "	"	१२२५	आश्विन सुदि ९	" १८६७	७ "	"	१८१०

(१) इसमें आश्विन अधिक था।

सन जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख	विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि	ईसवी सन् मास और तारीख
६	७ रमजान सन १२२६	आश्विन सुदि ९, संवत् १८६८	२६ सितंबर सन् १८११
७	७ " " १२२७	भाद्रपद सुदि ९ " १८६९[२]	१४ " " १८१२
८	७ " " १२२८	भाद्रपद सुदि ८ " १८७०	३ " " १८१३
९	७ " " १२२९	प्रथम भाद्रपद सुदि ९ " १८७१[३]	२४ अगस्त " १८१४
१०	७ " " १२३०	श्रावण सुदि ९ " १८७२	११ " " १८१५
११	७ " " १२३१	श्रावण सुदि ९ " १८७३	२ " " १८१६
१२	७ " " १२३२	प्रथम श्रावण सुदि ९ " १८७४[४]	२२ जुलाई " १८१७
१३	७ " " १२३३	आषाढ़ सुदि ९ " १८७५	१२ " " १८१८
१४	७ " " १२३४	आषाढ़ सुदि ९ " १८७६	२ " " १८१९

(२) इसमें वैशाख अधिक था। (३) इसमें भाद्रपद अधिक था। (४) इसमें श्रावण अधिक था।

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख			विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि			ईसवी सन् मास और तारीख		
१५	७ रमजान	सन्	१२३५	द्वितीय ज्येष्ठ सुदि ८	सं०	१८७७[5]	१९ जून	सन्	१८२०
१६	७ "	"	१२३६	ज्येष्ठ सुदि ९	"	१८७८	९ "	"	१८२१
१७	७ "	"	१२३७	ज्येष्ठ सुदि १०	"	१८७९[6]	२९ मई	"	१८२२
१८	७ "	"	१२३८	वैशाख सुदि १०	"	१८८०[7]	१९ "	"	१८२३
१९	७ "	"	१२३९	वैशाख सुदि ९	"	१८८१	७ "	"	१८२४
२०	७ "	"	१२४०	वैशाख सुदि ८	"	१८८२[8]	२६ अप्रैल	"	१८२५
२१	७ "	"	१२४१	चैत्र सुदि ९	"	१८८३	१६ "	"	१८२६
२२	७ "	"	१२४२	चैत्र सुदि ९	"	१८८४	५ "	"	१८२७
२३	७ "	"	१२४३	चैत्र सुदि ९	"	१८८५[9]	२४ मार्च	"	१८२८

(५) इसमें ज्येष्ठ अधिक था। (६) इसमें आश्विन अधिक और मार्गशीर्ष क्षय था, नेपाली पंचांग ने पौष क्षय माना था। (७) इसमें चैत्र अधिक था। (८) इसमें भाद्र अधिक था। (९) इसमें आषाढ़ अधिक था।

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख			विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि			ईसवी सन् मास और तारीख		
२४	७ रमजान	सन्	१२४४	फाल्गुन सुदि ८	सं०	१८८५	१३ मार्च	सन्	१८२९
२५	७ "	"	१२४५	फाल्गुन सुदि ९	"	१८८६	३ "	"	१८३०
२६	७ "	"	१२४६	फाल्गुन सुदि १०	"	१८८७	२१ फरवरी	"	१८३१
२७	७ "	"	१२४७	माघ सुदि ९	"	१८८८[10]	१० "	"	१८३२
२८	७ "	"	१२४८	माघ सुदि ९	"	१८८९	२९ जनवरी	"	१८३३
२९	७ "	"	१२४९	पौष सुदि ८	"	१८९०[11]	१८ "	"	१८३४
३०	७ "	"	१२५०	पौष सुदि ८	"	१८९१	७ "	"	१८३५
३१	७ "	"	१२५१	पौष सुदि ८	"	१८९२	२८ दिसंबर	"	१८३५
३२	७ "	"	१२५२	मार्गशीर्ष सुदि ९	"	१८९३[12]	१६ "	"	१८३६

(१०) इसमें वैशाख अधिक था। (११) इसमें भाद्रपद अधिक था। (१२) इसमें आषाढ़ अधिक था।

बहादुर शाह दूसरा ।

मुहम्मद बहादुर शाह अपने पिता के पीछे ता० २९ जमादिउस्सानी हि० स० १२५३ (आश्विन सुदि १ वि० सं० १८९४ = ता० ३० सितंबर ई० स० १८३७) को बादशाह बना । ईसवी सन् १८५७ (वि० सं० १९१४) के गदर में अँग्रेजों ने इसे कैद कर रंगून भेज दिया । बादशाह अकबर (प्रथम) ने जिस मुगल बादशाहत की नींव डाली थी और औरंगजेब (आलमगीर प्रथम) ने अपनी धर्मांधता के कारण जिस नींव को हिला दिया था, उस बादशाहत का अंत बहादुर शाह के कैद होने के साथ हो गया और हिंदुस्तान में से मुगलों की बादशाहत का नाम निशान भी उठ गया ।

सन् जुलूस	हिजरी सन मास और तारीख	विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि	ईसवी सन् मास और तारीख
१	२९ जमादिउस्सानी सन् १२५३	आश्विन सुदि १ संवत् १८९४	३० सितंबर सन् १८३७
२	२९ " " १२५४	आश्विन सुदि १ " १८९५	१९ " " १८३८
३	२९ " " १२५५	भाद्रपद सुदि १ " १८९६[1]	८ " " १८३९

(१) इस वर्ष में अधिक [illegible] था ।

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख			विक्रम संवत मास, पक्ष और तिथि			ईसवी सन् मास और तारीख		
४	२९ जमादिउस्सानी मं०		१२५६	भाद्रपद सुदि १	"	१८९७	२८ अगस्त	सन्	१८४०
५	२९	" "	१२५७	भाद्रपद सुदि १	"	१८९८[2]	१८ "	"	१८४१
६	२९	" "	१२५८	श्रावण सुदि १	"	१८९९[3]	७ "	"	१८४२
७	२९	" "	१२५९	श्रावण सुदि १	"	१९००	२८ जुलाई	"	१८४३
८	२९	" "	१२६०	प्रथम श्रावण सुदि १	"	१९०१[4]	१६ "	"	१८४४
९	२९	" "	१२६१	आषाढ़ सुदि १	"	१९०२	५ "	"	१८४५
१०	२९	" "	१२६२	आषाढ़ सुदि १	"	१९०३	२४ जून	"	१८४६
११	२९	" "	१२६३	द्वितीय ज्येष्ठ सुदि २	"	१९०४[5]	१४ "	"	१८४७
१२	२९	" "	१२६४	ज्येष्ठ सुदि १	"	१९०५	२ "	"	१८४८

(२) इसमें आश्विन अधिक और पौष क्षय था। (३) इसमें चैत्र अधिक था। (४) इसमें श्रावण अधिक था। (५) इसमें ज्येष्ठ अधिक था।

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख	विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि	ईसवी सन् मास और तारीख
१३	२९ जमादिउस्सानी सन् १२६५	ज्येष्ठ सुदि १ सन् १९०६	२३ मई सन् १८४९
१४	२९ " " १२६६	द्वितीय वैशाख सुदि १ " १९०७[६]	१२ " " १८५०
१५	२९ " " १२६७	वैशाख वदि ऽऽ " १९०८	१ " " १८५१
१६	२९ " " १२६८	वैशाख सुदि १ " १९०९[७]	२० अप्रैल " १८५२
१७	२९ " " १२६९	चैत्र सुदि १ " १९१०	९ " " १८५३
१८	२९ " " १२७०	चैत्र सुदि १ " १९११	२९ मार्च " १८५४
१९	२९ " " १२७१	चैत्र सुदि १।२ " १९१२[८]	१९ " " १८५५
२०	२९ " " १२७२	फाल्गुन सुदि १ " १९१२	७ " " १८५६
२१	२९ " " १२७३	फाल्गुन सुदि १ " १९१३	२५ फरवरी " १८५७

(६) इसमें वैशाख अधिक था। (७) इसमें भाद्रपद अधिक था। (८) इसमें आषाढ़ अधिक था।

(२) फारसी भाषा का एक ऐतिहासिक गद्य-पद्यमय काव्य।

[लेखक—बाबू ब्रजरत्नदास, काशी।]

कुछ समय हुआ कि मुझे गुदड़ी बाजार में फ़ारसी की एक पुस्तक मिली जिसका आकार ५½" × ४½" है। यह पुराने घाँसी काग़ज़ पर फारसी की शिकस्त लिपि में लिखी हुई है। इसमें तीन पुस्तकें हैं। पहली वही है जिसका हिंदी-अनुवाद प्रस्तुत कर पाठकों के सामने उपस्थित किया जाता है। यह पुस्तक छब्बीस पृष्ठों में पूरी हुई है तथा प्रत्येक पृष्ठ में दस पंक्तियाँ है। यह गद्य-पद्यमय है, पर अनुवाद गद्य ही में किया गया है। दोनों को अलग अलग जतलाने के लिए पद्यांश ऐसे [ ] कोष्ठकों में दे दिया गया है। दूसरी पुस्तक पत्रों का संग्रह है जो छानबे पृष्ठों में समाप्त हुई है और प्रत्येक पृष्ठ में दस दस पंक्तियाँ हैं। तीसरी भी पत्रों का संग्रह है, पर अपूर्ण है। इन दोनों में भी ऐतिहासिक सामग्री है जो उसके मनन करने के अनंतर पाठकों के सामने उपस्थित की जायगी। अस्तु; अब पहली पुस्तक के विषय में कुछ लिखना उपयुक्त होगा।

सं० १७९६ वि० में मूर्तिमान तमोगुण नादिर शाह ईश्वर की संहारिणी शक्ति का परिचय देने को भारत में आया था। उस चढ़ाई की दो घटनाओं का—कर्नाल युद्ध तथा दिल्ली की लूट का—इस पुस्तक में वर्णन है। इस पुस्तक के नाम का कुछ पता नहीं चलता। अंग्रेजी भाषा में 'हिस्टरी ऑव् इंडिया ऐज़ टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरिअंस' नामक एक विशद ग्रंथ आठ जिल्दों में है जिसमें केवल अरबी तथा फारसी इतिहासों ही से मसाला लिया गया है। उस ग्रंथ में इस घटना-

सन् जुलूस	हिजरी सन् मास और तारीख	विक्रम संवत् मास, पक्ष और तिथि	ईसवी सन् मास और तारीख
१३	२९ जमादिउस्सानी सन् १२६५	ज्येष्ठ सुदि १ सन् १९०६	२३ मई सन् १८४९
१४	२९ " " १२६६	द्वितीय वैशाख सुदि १ " १९०७(६)	१२ " " १८५०
१५	२९ " " १२६७	वैशाख वदि ३० " १९०८	१ " " १८५१
१६	२९ " " १२६८	वैशाख सुदि १ " १९०९(७)	२० अप्रैल " १८५२
१७	२९ " " १२६९	चैत्र सुदि २ " १९१०	९ " " १८५३
१८	२९ " " १२७०	चैत्र सुदि १ " १९११	२९ मार्च " १८५४
१९	२९ " " १२७१	चैत्र सुदि ११२ " १९१२(८)	१९ " " १८५५
२०	२९ " " १२७२	फाल्गुन सुदि १ " १९१२	७ " " १८५६
२१	२९ " " १२७३	फाल्गुन सुदि १ " १९१३	२५ फरवरी " १८५७

(६) इसमें वैशाख अधिक था। (७) इसमें भाद्रपद अधिक था। (८) इसमें श्रावण अधिक था।

नामकरण 'मीर-कृत नादिर-शाहनामा' के नाम से अस्थायी रूप में कर लिया जाता है।

मीर-कृत नादिर-शाहनामा

ईश्वर के नाम पर जो दयालु और कृपालु है।

[उन सम्राटों के सम्राट् और संसार के पालनेवालों के रक्षक के नाम की (स्तुति करता हूँ) जो चमकते हुए दोनों लोक, सूर्य्य, चंद्रमा और जगमगाते हुए तारों का स्वामी है। उसके द्वार के खड्गधारी भृत्य हैं जो सूर्य्य से चंद्र तक आज्ञा पहुँचानेवाले हैं। दोनों लोक उसके कटाक्ष के अधीन हैं और विद्रोहियों का सिर मैदान में चौगान का गेंद हो जाता है। उसके क्रोधरूपी नेत्र ही काटनेवाली तलवार हैं और उसकी खिंची तलवार विजय का चिन्ह है। यदि चाहे तो इच्छारूपी अक्षर से पृथ्वी को एक घड़ी में आकाश बना दे। यदि चाहे तो एक दास को राजगद्दी दे दे और राजाओं को कठोर आज्ञा के अधीन कर दे। एक कैदी को संसार का सम्राट् बना दे और नादिर नामक मनुष्य को आज्ञाधिकारी बना दे। (मेरी प्रार्थना है कि) मुहम्मद शाह का रक्षक हो जिस प्रकार प्रलय में नूह का (हुआ था)। मिट्टी और जल से बादशाही देता है और ईश्वर 'हो'[१] (कहकर) कुल सृष्टि रच देता है। आँखों से रक्त टपकवानेवाली लेखनी आ और इस अच्छे पदवाले शैर के कुछ अक्षरों का वर्णन कर दे।]

ईश्वर पवित्र है। इस खिलाड़ी आकाश ने अपने सामान से विचित्र खेल सजा है और प्रति दिन नए नए रंग से उसे सँवारता है। एक संसारी दास को सहायता से आगे बढ़ाकर राजगद्दी पर प्रतिष्ठित करता है और एक बार ही सम्राट् की तलवार को कागज़ के समान

१—मूल में कुन शब्द है जिसका अर्थ 'हो' है। मुसलमानी धर्म पुस्तकों में लिखा है कि खुदा ने यही शब्द कहकर सृष्टि की रचना की थी।

विषयक दस बारह पुस्तकों का उल्लेख है, पर यह पुस्तक इन सब से भिन्न है। साथ ही ग्रंथकर्ता के नाम का भी कहीं उल्लेख नहीं है, केवल उपनाम 'मीर' का एक शेर से पता चलता है। ऐसी अवस्था में जब तक दूसरी प्रतियाँ प्राप्त न हों और यदि उनमें नाम भी दिए गए हों, तब तक इन विषयों पर कुछ प्रकाश नहीं डाला जा सकता।

इस पुस्तक के पढ़ने से यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि ग्रंथकर्ता ने केवल आँखों देखी घटनाओं ही का वर्णन किया है। नादिर शाह की चढ़ाई का दिल्ली में समाचार मिलने पर मुहम्मद शाह ने किस प्रकार करनाल की ओर प्रस्थान किया, करनाल युद्ध, दोनों बादशाहों का दिल्ली लौट कर आना, कत्ले-आम और नादिर शाह का दिल्ली से बाहर निकलने तक का वर्णन देकर पुस्तक समाप्त कर दी जाती है। नादिर शाह करनाल तक किस प्रकार पहुँचा और दिल्ली से अपने देश लौटते समय रास्ते में क्या घटनाएँ हुईं, इनसे ग्रंथकर्ता से कोई सरोकार नहीं। उसने जो कुछ स्वयं देखा था वही लिख दिया। वह लिखता है कि—

मरा ज़ीं क़िस्से मक़सूदे न बाशद।
हमीं दानम गुज़ीं मूदे न बाशद॥
वले दिल रा ज़ शुद अज़ दर्द-बिरादर।
जिगर रा चश्मे ज़ख़्म अंदाज़ नादिर॥

मुझको इस क़िस्से से न कुछ स्वार्थ है और न अब कोई काम ही है, पर भाई के कष्ट से हृदय रंजा हो गया है जिसमें नादिर ने चोट मारी है। इसीलिये वह लेखनी से कहता है कि—

बया ऐ ख़ामये ख़ूँ दीदा अफ़शाँ।
बयाँ कुन चंद हर्फ़े मीर दीवाँ॥

इस पुस्तक का अनुवाद हिंदी के विज्ञ पाठकों के सम्मुख उपस्थित है और आशा है कि उनमें से कोई विद्वान इस पर अधिक प्रकाश डालने की अवश्य कृपा करेंगे। तब तक के लिये इस पुस्तक का

नामकरण 'मीर-कृत नादिर-शाहनामा' के नाम से अस्थायी रूप में कर लिया जाता है।

मीर-कृत नादिर-शाहनामा

ईश्वर के नाम पर जो दयालु और कृपालु है।

[उन सम्राटों के सम्राट् और संसार के पालनेवालों के रक्षक के नाम की (स्तुति करता हूँ) जो चमकते हुए दोनों लोक, सूर्य्य, चंद्रमा और जगमगाते हुए तारों का स्वामी है। उसके द्वार के खड्गधारी मृत्यु हैं जो सूर्य्य से चंद्र तक आज्ञा पहुँचानेवाले हैं। दोनों लोक उसके कटाक्ष के अधीन हैं और विद्रोहियों का सिर मैदान में चौगान का गेंद हो जाता है। उसके क्रोधरूपी नेत्र ही काटनेवाली तलवार हैं और उसकी खिंची तलवार विजय का चिन्ह है। यदि चाहे तो इच्छारूपी अक्षर से पृथ्वी को एक घड़ी में आकाश बना दे। यदि चाहे तो एक दास को राजगद्दी दे दे और राजाओं को कठोर आज्ञा के अधीन कर दे। एक कैदी को संसार का सम्राट् बना दे और नादिर नामक मनुष्य को आज्ञाधिकारी बना दे। (मेरी प्रार्थना है कि) मुहम्मद शाह का रक्षक हो जिस प्रकार प्रलय में नूह का (हुआ था)। मिट्टी और जल से बादशाही देता है और ईश्वर 'होवे[1]' (कहकर) कुल सृष्टि रच देता है। आँखों से रक्त टपकवानेवाली लेखनी आ और इस अच्छे पदवाले मीर के कुछ अक्षरों का वर्णन कर दे।]

ईश्वर पवित्र है। इस खिलाड़ी आकाश ने अपने सामान से विचित्र खेल सजा है और प्रति दिन नए नए रंग से उसे सँवारता है। एक संसारी दास को सहायता से आगे बढ़ाकर राजगद्दी पर प्रतिष्ठित करता है और एक बार ही सम्राट् की तलवार को कागज़ के समान

१—मूल में कुन शब्द है जिसका अर्थ 'हो' है। मुसलमानी धर्म पुस्तकों में लिखा है कि खुदा ने यही शब्द कहकर सृष्टि की रचना की थी।

युद्ध में फेंक देता है। प्रभावशाली सूर्य्य जो ठीक मध्याह्न के समय केतु से पकड़ा जाकर काला कर दिया जाता है और रात्रि में शोभित होनेवाला चंद्र जो नीच राहु से ग्रसा जाता है, सो उसी की महिमा है।

अंततः इन्हीं दिनों[1] एक कार्य्य आश्चर्यजनक चाल से हुआ कि ईरान के सुलतान[2] के नादिर[3] नामक एक दास ने स्वामिद्रोह पर पाँव रखा और अपने स्वामी को मृत्यु के मुख में डालकर, उसके दाँव[4] को काटकर और उसके जीवन के चिन्ह को जलाकर आप ही राज्य का स्वामी बन गया। कुछ ओछे और कम साहसी मनुष्यों के उभाड़ने से इसके मस्तिष्क में हिंदुस्तान के राज्य की लालसा पैदा हो गई। धोखे और बहाने से हर एक जाति और दिशाओं से बहुत भारी सेना एकत्र करके इसने इस कुकर्म्म के लिये दृढ़ता से कमर बाँधी और इस नीच विचार के साथ उस अयोग्य स्थान से दो लाख सवारों सहित कूच करता हुआ वह हिंदुस्तान की ओर चला।

१—इन शब्दों से ज्ञात होता है कि लेखक अपने समय की वर्त्तमान बातें लिख रहा है।

२—शाह का तहमास्प नाम था और इसने सुलतान हुसैन सफवी को उसकी अफगान सेना सहित परास्त किया था। सन् १७३२ ई० में नादिरशाह ने इसे गद्दी से उतार दिया और इसके अल्पवयस्क पुत्र शाह अब्बास को गद्दी पर बैठाकर स्वयं राज्य का प्रबंधकर्त्ता बन बैठा था।

३—इसका नाम नद्रकुली था और इसका जन्म सन् १६८८ ई० में खुरासान में हुआ था। इसका पिता तुर्की जाति का था जिसका नाम इमाम कुली था। पहले इसने खुरासान के सूबेदार की नौकरी की पर उद्दत स्वभाव के कारण निकाल दिया गया। तब किलात में चाचा के यहाँ गया, पर वहाँ भी उद्दंड रहने के कारण निकाला गया। तब डाकू हो गया और अपने चाचा को मार डाला। इसके अनंतर शाह तहमास्प से क्षमाप्रार्थी होकर इसने उनकी नौकरी कर ली थी।

४—जिस समय नादिर शाह तुर्कों को परास्त कर जॉर्जिया और आर्मीनिया प्रांतों पर अधिकार कर रहा था, उसी समय शाह अब्बास की मृत्यु हो गई। तब उसने मुगान नदी के तटस्थ नगर मोगन में कुल सर्दारों और सेनापतियों की एक बृहत् सभा करके निश्चित करा लिया कि वही ईरान का शाह होने योग्य है। इस प्रकार ६ फरवरी सन् १७३६ ई० को नद्रकुली खाँ नादिर शाह की पदवी से ईरान के तख्त पर बैठा।

[जब नादिरशाह ईरानी भारत की ओर चला तब ज्ञात होता था कि नूह[1] के समय का सा दूसरा प्रलय उपस्थित हुआ है। हलाकू[2] के वैभव और फिरऔन[3] के ऐश्वर्य के साथ वह संसार का कष्ट काबुल[4] आ पहुँचा। पहाड़ी अफगान भी उसके मित्र तथा पथप्रदर्शक हो गए और उसके लिये अटक नदी वैसी ही छिछली बन गई जैसे प्रलय समुद्र औज[5] के लिये था। एकाएक वह लाहौर के पास पैदा हो गया मानो पृथ्वी फट गई और उसमें से बड़ा शैतान दज्जाल[6] निकल आया हो। उसके क्रोध रूपी आरे के डर से जिकरिया[7] साहस

१—मुसलमानों में प्रसिद्ध है कि नूह के समय प्रलय हुआ जब संसार जलमग्न हो गया था। यह मत्स्य या मनु के प्रलय का सा है।

२—हलाकू खाँ तूलीखाँ का पुत्र और चंगेज़ खाँ का पोता और चौथा उत्तराधिकारी था। सन् १२५३ ई० में इसने अपने भाई मंगू खाँ के समय में फारस पर अधिकार किया और इस्माइलियों का नाश कर डाला। सन् १२५८ ई० में इसने बगदाद विजय कर वहाँ आठ लाख प्रजा को मरवा डाला। सीरिया में इसके एक सेनापति के परास्त होने पर इसने स्वयं वहाँ जाकर शांति स्थापित की और इसी वर्ष भाई की मृत्यु पर मारागा राजधानी बनाई और आठ वर्ष राज्य कर सन् १२६५ ई० में वह मर गया। इसके समय फारस का साहित्य उन्नत हुआ। सादी शीराज़ी इसी के समय में हुआ था।

३—मिस्र देश का एक बादशाह हो गया है जो बड़ा ऐश्वर्यशाली और घमंडी था। यह मूसा नामक पैगंबर का समकालिक था।

४—काबुल आने के पहले उसे एक वर्ष कंधार विजय करने में लग गया था और वर्तमान कंधार की नींव भी उसी ने नादिराबाद के नाम से डाली थी।

५—औज एक बहुत भारी शरीरवाले आदमी का नाम था जो आदम के समय पैदा हुआ था। कहते हैं कि यह ३५०० वर्ष जीवित रहा और नूह के प्रलय में समुद्र इसकी कमर तक पहुँचा था। इसके पिता का नाम औक था और मूसा ने अपनी छड़ी इसके टखने में मारकर इसे मार डाला था।

६—ईसा मसीह का शत्रु था।

७—अब्दुस्समद खाँ का पुत्र था और इसका पूरा नाम ज़िकरिया खाँ बहादुर हिज़ब्रजंग था। उस समय यह पंजाब का सूबेदार था और प्रबंध अच्छा करता था। लौटते समय नादिर शाह ने इसके कहने से बहुत से कैदी छोड़ दिए थे। सन् १७४५ ई० में सिंध में इसकी मृत्यु हुई। इसका बड़ा पुत्र शाहनवाज़ खाँ पंजाब का सूबेदार हुआ।

न कर सका और आतिथ्य तथा स्वागत के लिए वह बाहर निकला। जैसे ही यह समाचार हिंदुस्थान के बादशाह के पास लाया गया, वैसे ही उसने सर्दारों को कहने के लिये बुलवाया। वज़ीरुल्मुल्क आसफ़जाह और बख्शीउल्मुमालिक को बादशाह के पास लिवा लाए। (बादशाह ने) कहा कि दु:ख है कि अधर्मी नादिर आया है, इसलिये ईश्वरी धर्म के लिए साहस के साथ कमर बाँधना चाहिए। यह राफ़िज़ी[1] हम लोगों से युद्ध करने आया है; पर मैं तैमूर साहबकिरां[2] दूसरे के वंश का हूँ। सर्दारों ने प्रार्थना की कि ऐ संसार के पालक, हम लोगों का ईश्वर रक्षक है और यह बादशाही गद्दी बनी रहे। जब कि बादशाही प्रताप हमारे साथ रहेगा तब ऐसे सौ नादिरों को युद्ध होने पर रक्त में लोटावेंगे। युद्ध की सम्मति होने पर बादशाह अमीरों की सेना सहित दिल्ली के बाहर निकले। प्रकट में राज्य के सभी सर्दार एक मत थे, पर उनके हृदय में लोभ के कारण द्वेष और कपट भरा हुआ था।]

अंत में बादशाह ने सेना, ऐश्वर्य्य और बड़े सर्दारों के साथ जिसमें आसफ़जाह निज़ामुल्मुल्क बहादुर[3], उम्दतुल्मुल्क वज़ीरुल्मुमालिक कमरुद्दीन खाँ बहादुर,[4] बख्शीउल्मुल्क सिपहसालार खानेदौराँ

१—राफ़िज़ी उसे कहते हैं जो अपने मज़हब को छोड़ फिर जाय।

२—तैमूरलंग ने दो नक्षत्रों के संयोग के समय जन्म लिया था। इससे वह साहबकिरां कहलाता था। शाहजहां ने साहिबकिरां सानी अर्थात् दूसरा साहिबकिरां की पदवी धारण की थी।

३—इनका नाम चिनक़िलिच खाँ था। इन्होंने हैदराबाद के निज़ाम राजवंश का स्थापन किया था। इन्होंने सन् १७१७ ई० में असीरगढ़ विजय किया और तीन वर्ष के अनंतर दो मुगल सेनाओं को पराजित कर ये स्वतंत्र हो गए। मुहम्मद शाह ने बुलाकर इन्हें वज़ीर बनाया, पर कुछ दिन बाद ये असंतुष्ट हो दक्षिण लौट गए। नादिरशाह की चढ़ाई के समय आए और फिर हैदराबाद लौट गए जहाँ १०४ वर्ष की अवस्था को पहुँचकर सन् १७४८ ई० में इनकी मृत्यु हुई। इन्होंने एक दीवान भी बनाया था।

४—इनका नाम मीर मुहम्मद फ़ाज़िल था और ये एतमादुद्दौला मुहम्मद अमीन खाँ के पुत्र थे। सन् १७२४ ई० में ये वज़ीर नियत हुए और ११ मार्च सन् १७४८ ई० को सरहिंद के पास अहमद शाह अब्दाली के युद्ध में गोला लगने से मर गए।

बहादुर,[1] मुज़फ्फर खाँ बहादुर, मुज़फ्फरजंग मुहम्मद खाँ बहादुर,[2] अमीर खाँ बहादुर आदि सभी सर्दार थे, राजधानी शाहजहानाबाद अर्थात् दिल्ली से कूच किया। थोड़ी सेना के साथ युद्ध करने की सम्मति हुई। कुछ ओछे सर्दार इस सम्मति को निश्चित समझकर आपस के वैमनस्य से प्रगट में तो साथ रहे, पर हृदय में बादशाह से भेद रखकर पत्र और सँदेसे से स्वामिद्रोही होकर उन्होंने नादिर से प्रतिज्ञा कर ली। कूच करती हुई यह विजयवाहिनी करनाल के पास, जो राजधानी शाहजहानाबाद से बावन कोस पर है, पहुँच कर ठहरी। सबेरे मंगल के दिन १५ वीं जीक़द: को बुर्हानुलमुल्क सआदत खाँ कुशलतापूर्वक पीछे से पहुँच कर बादशाही सेना में मिल गए। बिना बादशाही सेवा में हाज़िर हुए और आज्ञा लिए अपनी इच्छा और कपट से मूर्खता पर इन्होंने युद्ध की तैयारी कर दी। जब यह आश्चर्यजनक समाचार मिला कि मूर्ख सआदत खाँ बिना बादशाह की आज्ञा तथा सर्दारों की सम्मति के शत्रु से लड़ने गया है, तब बादशाह ने उसकी मूर्खता पर शोक प्रकट किया। पर सहायता देना आवश्यक समझकर समसामुद्दौला बहादुर को उनके भाई मुज़फ्फर खाँ तथा बड़े सर्दारों सहित युद्धस्थल में भेजा। वे दोनों वीर जो वीरता रूपी वन के शेर तथा

1—यह सन् १७२१ ई० में सैयद हुसेन अली के मारे जाने पर अमीरुलउमरा नियुक्त हुए और इन्हें समसामुद्दौला की पदवी मिली। १६ फरवरी सन् १७३९ ई० को उसी युद्ध में मारे गए।

2—तारीखे हिंदी में जीहिज्ज का आरंभ लिखा है (इलि० डाउ० जि० ८ पृ० ६१) पर आनंदराम मुख़लिस के तज़किरा में १४ जीक़द है (इलि० डाउ० जि० ८ पृ० ८२)

3—'१४ जीक़द: को जब बादशाह से भेंटकर बुर्हानुलमुल्क अपने खेमे में पहुँचे तब समाचार मिला कि पानीपत से आते हुए उसके सामान को कज़िलबाश सेना ने लूट लिया और बहुत से सैनिक मारे गए। बुर्हानुलमुल्क क्रोध के मारे, युद्धस्थल की ओर बिना तैयारी के कुछ सेना के साथ दौड़ पड़े।' (इलि० डाउ० जि० ८ पृ० ८२)

साहस रूपी युद्धस्थल की तलवार थे, फुर्ती से मैदान में पहुँचे[1]। वहाँ सआदत खाँ ने, जो कि चाहता था कि अपने को प्रकट में शत्रु के हाथ कैद करा दे, उस सेना पर धावा कर दिया। नादिर शाह ने इस अवसर को अच्छा समझकर बहुत सवारों के साथ दाएँ तथा बाएँ की सेनाओं को सजाकर अपने मंत्री तहमास्प के अधीन चालीस हजार सवार का हरावल नियत किया। इन सवारों ने, सिंह और गर्दभ के युद्ध के समान उन वीरों से तीरों और गोलियों से युद्ध आरंभ किया। युद्ध की गर्मी, तोपों के गोलों की अतिवर्षा, चपल तीरों की बौछार और निडर वीरों के खड्ग चलाने से पृथ्वी और आकाश के बीच कोलाहल मच गया तथा साहसी बहादुरों के कठोर युद्ध से पृथ्वी पर की धूल स्वर्ग तक पहुँच गई थी। बादशाही सेना के वीर दृढ़ता से डटकर और धीरे धीरे रास्ता बनाते हुए स्वामि-भक्ति पर प्राण निछावर करने को तैयार रहकर बड़े कौशल तथा साहस के साथ शत्रु के हरावल पर टूट पड़े। नीच बजीर को उसके दुर्भाग्य की तलवार से काटकर गिरा दिया; पर मीर मुशरिफ के पुत्र मीर फज्ल, अली हामिद खाँ कोका, आकिल खाँ कमालपोश और इसलाद खाँ ख्वाजःसरा अपने साथियों के साथ वीरता के मैदान में बहादुरी दिखलाकर मारे गए। जब टंके पर चोट पड़ी तब मुजफ्फर खाँ ने तलवार लेकर तथा हाथी से उतरकर शत्रु पर आक्रमण किया और वे रुस्तम के समान वीरता दिखलाकर मारे गए। इस युद्ध में सात हाथी, नौ सौ घोड़े और तेरह सहस्र मनुष्य दोनों ओर के मारे गए तथा घायल हुए। अंत में ईश्वरेच्छा से उन्हें वीरगति प्राप्त हुई।

१—बुर्हानुलमुल्क के कई बार सहायता माँगने पर अमीर उलउमरा को जाने की आज्ञा हुई। वे सोच विचार में थे कि समाचार मिला कि बुर्हानुलमुल्क ने नादिर शाह को कुछ सवारों के साथ घेर लिया है। यह सुनकर शाह के कैद करने का यश लेने को ये वहाँ पहुँचे। (तारीख फरहबख्श, डाक्टर हूई कृत अनुवाद, जि० २, पृ० ५)।

[युद्ध में प्रलय के समान कोलाहल था मानो आजही असराफ़ील दौड़ रहे थे। पृथ्वी पारे के समान काँप उठी और आकाश पानी की तरह आग बरसा रहा था। एक के भौं रूपी कमान पर काल द्वारा प्रेरित भाग्य रूपी तीर आ लगा था। एक का सिर मैदान रूपी थाली में लाल दाँतवाले शहीदी तर्बूज के समान जुदा होकर पड़ा था। एक हाथ में तलवार लेकर शरीर काटता हुआ शेर के धावे के समान हर ओर दौड़ता था। बाण रूपी लेखनी से शिकस्त लिपि में एक की कपोल रूपी पट्टी पर लिखा हुआ था कि इस कृतघ्न संसार को बाग सा देखा, पर फूल में लालः सा घाव भी देखा। एक के ओंठ पर गहरे घाव की मुहर, तो एक के हृदय में कटारी की नोक थी। एक, जिसके पैर हिल नहीं सकते, मैदान में कमर तक रक्त में डूबा हुआ बैठा था। एक ने हाथ से तलवार मारी पर भाई ओर से दूसरे ने उसे मारा। एक जीन पर था पर प्राणहीन था और एक नाशमान चिह्न के समान लाल था। एक विजयी होकर रक्त से लाल हो गया था और एक ने जामे को लाल कर लिया था। एक ने भाले की अनी को छाती में निगल लिया था और एक का सिर टुकड़े टुकड़े हो गया था। एक ने पेट में तलवार रख ली थी, देखता हूँ कि जीवन से उनका मन भर गया था। एक घोड़ों के पैरों के नीचे चौगान से पड़े थे जो कभी सूखे में और कभी रक्त में लुढ़क रहे थे। एक तीर के हाथ से प्राणहीन था तो एक का शरीर बिना सिर के पड़ा हुआ था। करनाल का बिंदु नीचे हो जाय और नाम के पहले का अलिफ आगे दे दिया जाय तो करनाल कर्बला हो जाय जिससे जय्याद का पुत्र नादिर सार्थक हो जाय[1]।]

जब समसामुद्दौला ने बची हुई सेना की गड़बड़ी को अपनी

१—كرنال का बिंदु नीचे कर देने तथा ना का अलिफ़ आगे बढ़ाने से كربلا शब्द बन जाता है जहाँ इमाम हुसैन मारा गया था। जय्याद उस पुरुष का नाम था जिसने हजरत मुहम्मद के विरुद्ध गद्दारी की थी।

आँखों से देखकर अपने हरावल सिपहदार खाँ को आज्ञा भेजी कि जो सेना साथ हो उसे ले आगे बढ़कर शत्रुओं को दंड दें, उस समय खाँ ने आज्ञानुसार साहस किया कि उस आज्ञा का पालन करें। पर कर्म ने ऐसा किया कि ठीक घोर युद्ध के समय उसका दुष्ट हाथी भाग चला और न ठहरा। इसी समय इसे कई घाव लग चुके थे और मैदान से बादशाही सेना में लाए गए। परंतु सैयद शहामत खाँ बारहः, हुसेन खाँ लोदी, नवाब यादगार खाँ कश्मीरी का हमजुल्फ रहमतुल्ला खाँ, मलिक सर्दार, दरवेश अली खाँ अपने भाई के साथ और दूसरे अनुभवी सर्दारों ने स्वामिभक्ति पर प्राण निछावर करना निश्चित कर तथा हरावल के झंडों को न छोड़ कर चार घड़ी तक बड़ी वीरता से गोली गोले और तलवार से लड़ाई की। बहुत से शत्रुओं को नरक भेजकर तलवार का पानी पीने की इच्छा से शहादत की चाशनी चखी। खानेजमाँ मतवाले, गैरुल्ला खाँ बख्शी, तोपखाने का दारोगा शेर अली खाँ, बदनसिंह के पुत्र सूरजमल जाट और राजा जयसिंह कछवाहा की सेना मैदान में न ठहर सकी और भाग चली। जब दाएँ और बाएँ की सेना के स्थान खाली हो गए तथा हरावल के सैनिक मारे गए और घायल हो गए, तब दुष्टों की सेना ने मुसलमानों की सेना को 'साद के बय के समान' चारों ओर से घेर लिया। युद्धस्थल को कर्बला के रक्त से रँग दिया। इसी गड़बड़ में नवाब की सवारी के हाथी ने दूसरी गड़बड़ी मचा दी अर्थात् वह दुर्भाग्य से मस्त हो गया और दौड़ने लगा[1]। जब एक दूसरा भारी हाथी लाए तब नवाब पहला मिसरा कहने पर काफिया न मिलने से अच्छे अर्थ के न बैठने की घबड़ाहट के समान हौदे पर बैठे। दूसरे मसलः की रदीफ हुई कि आकाश जो अजीब आशय रखता था वह इस हाथी से भी अटपट गज़ल कहलाने लगा[1]। राय खुशहाल चंद के पुत्र रत्नराय ने अपना हाथी नवाब

१. अर्थात् वह भी मस्त होकर इधर उधर दौड़ने लगा।

बराबर लाकर प्रार्थना की कि इसपर सवार हों। नवाब प्रार्थना मानकर उस पर सवार हुए। नवाब के ठीक सवार होते समय ख्वाजा-उरा एतबार खाँ पास ही अपने हाथी को खड़ा कर गोली चला रहा था कि एकाएक एक गोली सिर पर लगने से हाथी पर से गिर पड़ा। रत्नराय ने नवाब की खवासी में रहने को साहस का वक्र आगे रखा था कि तीर अंदाजी की कलम झट उसपर चल गई अर्थात् एकाएक बंदूक का एक तीर भौं रूपी धनुष के बीच में कपोल पर धब्बे के समान आ लगा और मुख पर मृत्यु झलकने लगी। जब सर्दारों और मित्रों के इस प्रकार वीरगति प्राप्त करते और मृत्यु के विजयी झंडे को फहराते देखा तब अमीरुल्उमरा खानेदौराँ बहादुर थोड़े सैनिकों के रहने और पुत्र तथा भाई के मारे जाने पर भी तलवार से युद्ध करने की इच्छा से स्वयं मैदान में आने का विचार कर हाथी पर से कूद पड़े। उसी समय फर्मीदोष तोपखाने की छोटी तोप के दो गोले आकर बगल में लग गए। हाय हाय क्या बैठना क्या उठना [१]।

[ए कठोर हृदय अकाश यह क्या कपट है कि घाव पर नमक और शीशे के कंटर पर पत्थर मारता है। मारनेवाले के हाथ में तलवार देता है और हृदय छीननेवाली सुंदरी को खड्गयुक्त करता है। ऐसी भूल के साथ मित्रता करता है कि अली के पुत्र का सिर भाले पर रखता है। इस काले मुखवाले आकाश के प्रत्येक चक्र को देखो कि लोमड़ी शेर का शिकार करती है।]

अंत में बचे हुए लोगों ने नवाब को बचा हुआ न मानकर उनके शव को हाथी सहित युद्धस्थान से बाहर ले जाना निश्चित किया जिससे स्वामिभक्ति टपकती थी। लड़ते हुए भागकर बादशाही सेना में पहुँच गए। नवाब को एक खेमे में उतारकर उनके बचे हुए सैनिकों

१—खानेदौराँ के विषय में लेखक ने जिस प्रकार सहृदयता से तथा प्रशंसा के साथ लिखा है, उससे ज्ञात होता है कि वह स्यात् उनका आश्रित रहा हो।

से कुछ को रक्षा का काम सौंपा। सवेरे नवाब आसफ़जाह ने देखने के लिये आकर उनके घाव आदि का निरीक्षण किया, और पूछा कि समयानुकूल अब आपकी क्या सम्मति है। उत्तर दिया, कि जो कुछ हमारे समय के अनुकूल था, वह हो चुका। अब जो कुछ आप लोगों की सम्मति हो, उसे करने को आप स्वतंत्र हैं; पर हिंदुस्तान की प्रतिष्ठा का जन्मस्थान से अधिक ध्यान रखना आपको उचित है। इसके अनंतर आसफ़जाह को विदा करने पर प्राण निकल गया[1]।

[इस दुःखी कुव्यवस्थित संसार में अत्याचार तथा मिट्टी के घरों में अंधकार है। ऐसा हृदय न हुआ कि जिसे दुःख न हुआ हो और ऐसा कलेजा नहीं है जिसने रक्त का स्वाद न लिया हो। ऐसा सिर नहीं जिसे घूमते आकाश ने नहीं लूटा, और कोई कष्ट खून पीनेवाले से कम न होगा। नहीं जानता कि ऐ, अपवित्र आकाश तुमको घायल प्राण या हृदय से क्या द्वेष है। मुख्यतया यह कि तूने निर्दय नादिर शाह को हिंदुस्तान में भेजा और मुग़लों के इस शत्रु के हाथ में मुहम्मद शाह ग़ाज़ी को तू ने ले जाकर सौंपा। अंत में जब यह समाचार बादशाह को मिला कि ख़ानेदौराँ मर गया तो वह दुःखी हृदय से रोया और दिल टुकड़े टुकड़े किया। इसके अनंतर सेनापति आसफ़जाह ने निरुपाय होकर बादशाह से प्रार्थना की कि अब यही उचित है कि नादिर शाह से भेंट संधि कर ली जाय। सर्दारों ने भी यही निश्चित किया और बादशाह को भी यह राय पसंद आई[2]। जब

---

[1] [illegible] मारने वाले सदार को मुहम्मदशाह ने तत्काल ही यह पुरस्कार दिया कि अन्य अफ़सरों को भेजकर उनका सब संपत्ति उठवा मँगाई जो उनके उत्तराधिकारियों के लिये छोड़ देना अधिक उपयुक्त होता।

[2] [illegible] तज़किरा में लिखा है कि नादिर शाह ने पहले संधि का प्रस्ताव किया जिसका कारण बयान बख़्री में यह दिया गया है कि करनाल के युद्ध में हिंदुस्तान की सेना की वीरता देखकर जिन्होंने गोला गोलों का समस्त नादों से किया था, वे डर गए थे और इसलिये गोलुा

वृद्ध अनुभवी, एकमत हुए तब वह नादिर शाह के पास गए। बड़ी बुद्धिमानी से बहुत सी बातें; उससे कहीं और क्या देना होगा सो निश्चित किया कि वह अधिक धन देने पर ईरान की ओर मुख फेर देंगे। नादिर शाह को यह बात मान्य हुई और आसफ़जाह से प्रतिज्ञा कर ली। जब आसफ़जाह ने बादशाह के पास लौटकर हाल कहा कि यद्यपि मैंने बहुत धन पर अपने को बेचा, पर कूचे के मुँह को एक और से सी दिया। बादशाह इस उपाय से बड़े प्रसन्न हुए और उसी समय अमीरुलउमराई[1] की खिलअत दी। सआदत ख़ाँ ने जब यह जाना तब मारे द्वेष के कपटी हो गया। सैकड़ों उपाय करके ख़ानेदौराँ की मृत्यु बुलाई। पर अफ़सोस, कि मेरी इच्छा पूर्ण न हुई और अब दूसरा उपाय करना चाहिए। एकांत में नादिर शाह के पास चला और संसार उसके कारण दूसरे दिन दुर्घटनापूर्ण हुआ। (जाकर कहा कि) ऐ शाहंशाह हम लोगों की जान निछावर है। इतने ही धन पर तूने संधि कर ली, पर इस संधि का रहना ठीक नहीं। यदि दिल्ली में आप स्वयं जायँ तो हर ओर कोष खुलवाएँगे। जब नादिर ने यह बात कान से सुनी तब वह प्रसन्नता से सोए हुए ख़रगोश के समान कूद पड़ा। जाने का रास्ता पूछा तो अटके हुए सआदत ख़ाँ ने पता बतलाया कि पहले आसफ़जाह को बुलाना चाहिए और बहाने से अपने आगे बैठा रखिए। इसके बाद बादशाह को बुलवाइए और तब कुछ इच्छा पूर्ण हो जायगी। नसक़ची को बुलाकर कहा कि जल्दी आसफ़जाह को लिवा लाओ। नसक़ची आकर आसफ़जाह को लिवा ले गया और उससे नादिरशाह ने बहाना किया। आसफ़जाह के उपायों से उस शाह ने कहा कि ऐ वृद्ध नीतिज्ञ अपने बादशाह को यहाँ बुलाओ। नहीं तो

कि जब बादशाह कुल तोपख़ाने के साथ युद्ध करेगा तब न जाने क्या होगा। (इलि० डाउ० जि० ८ पृ० ८४)।

[1]—अमीरुल्उमरा की पदवी ख़ानदौराँ के मृत्यु के कारण रिक्त हो गई थी।

शाह को सर्दारों के सहित अपने साथ ईरान ले जाऊँगा। निज़ामुल्मुल्क ने जब यह होश उड़ा देनेवाली बात सुनी तो उसके हृदय को इस बात ने मोती को पत्थर के समान मारा। बादशाह को बुलाने के सिवा और कुछ न सूझा जो मूर्ख कपटियों की दवा है। प्रार्थना की कि ए दिलजले बादशाह! आपका आना यहाँ आवश्यक है; नहीं तो संसार नष्ट होगा और इसके अत्याचार से बुरा हाल होगा। मुहम्मद शाह ने जब यह सुना तब वह निज़ामुलमुल्क के कथन से निरुपाय होकर बहादुरी से तख्त पर बैठ उस अत्याचारी पड़ाव की ओर चला। नादिर शाह द्वार पर आया[1] और उसके भाग्य से खुदा राजी था। फिर मसनद की ओर चले और जहाँ मसनद बिछी थी, पहुँचे। दोनों वीर बादशाह साथ बैठे, मुहम्मदशाह और ईरानी बादशाह। हर ओर यह सुनाई पड़ने लगा कि फिर से मित्रता का मार्ग खुल रहा है। सआदत खाँ ने जब ये बातें सुनी (तो सोचा) कि राह भूल गया हूँ और अब दूसरी ठीक करनी चाहिए। वहाँ से नादिर के आगे गया और उसके कान में सैकड़ों मंत्र पढ़े[2]। वहाँ से नादिर शाह एकांत में गया और वहाँ दोनों ने एक राय ठीक की। अंत में यही राय ठीक हुई कि सआदत खाँ जल्दी दिल्ली जाय। वह ना-सआदत[3] भारी सेना के साथ चला तो मानों आँधी का दरिया को धक्का लगा हो। दुर्ग और नगर के बीच उतरा, सो मानों ईश्वरी कोप आया हो। उसने नादिरशाह को समाचार लिखा कि मैंने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। ज्योंही

१—शाह के पुत्र मिर्ज़ा नसरुल्ला ने पड़ाव की सीमा तक आकर स्वागत किया और खेमे तक लिवा गया जहाँ नादिर शाह ने स्वयं स्वागत किया था।

२—तज़किरा में बुर्हानुलमुल्क के विषय में इन सब षड्यंत्रों का उल्लेख नहीं किया गया है।

३—बुर्हानुलमुल्क का नाम सआदत खाँ था। सआदत का अर्थ है—नेकी या भलाई। उसी शब्द में ना लगा देने से अर्थ उलटा हो गया।

यह बात सुनी त्योंही नादिरशाह ने कूच का डंका पिटवा दिया। संसार से शोर उठा कि दैवी बला कहाँ से आ पड़ी। मनुष्यों को मारने पर कमर बाँध हलाकू के समान नादिर चला। कर्नाल से कूच कर दिल्ली नगर को दज्जाल (एक ईरानी नदी) के समान आया। कुल शहर में हड़ताल पड़ गई कि आग लगानेवाला नादिर आया है। मुहम्मद शाह और ईरान का यह सुलतान सर्दारों के साथ दुर्ग में गए। सबेरे नादिर शाह ने आज्ञा दी कि रत्नागार और कोष खोला जाय। सआदत खाँ के मन में कपट था, इससे कुछ कोष नादिर को दे दिया। पर सआदत खाँ के कथनानुसार कोष तथा माल का एक भाग भी न मिला। नादिर क्रोध से जल उठा कि ऐ वृद्ध, तैंने यह क्या कपट किया था। मुझसे सैकड़ों प्रतिज्ञाएँ कीं और अपने बादशाह से द्रोह किया (नमकहरामी की)। कहाँ वह कोष है जिसकी तूने प्रतिज्ञा की थी? पर तूने बादशाहों का क्रोध नहीं देखा है। अपने बुरे आचरण का फल देख कि तेरे प्रत्येक बाल को कष्ट दूँगा। जो नसकची शाह के सामने लाए थे, उन्हीं के कैद में रखा। जब सआदत खाँ ने यह क्रोध देखा तब उसे सिवाय मरने के दूसरा उपाय न सूझा। अपने हाथ के हीरे को खा लिया जिससे एक बार ही हृदय कट गया और वह मर गया[1]। नादिर ने कहा कि नमक के हक को कुचला और मर गया। जो लोग उसके रक्षक थे, उन्होंने उसका शव दुर्ग के बाहर फेंक दिया। अच्छे कवि ने ठीक कहा है कि लालची का अंत जंगल या धन में होता है। याद रखो कि धन अपनी काटनेवाली शक्ति से अलग नहीं है; क्योंकि देखा कि अपने कर्म का क्या फल हुआ। किसी

१—कई इतिहासों ने सआदत खाँ पर आत्महत्या का दोष लगाया है, पर अन्य इतिहासों से इनमें यही विशेषता है कि इसने विष का नाम लिख दिया है जो वास्तव में उस कठिन कारागार में उसी के शरीर पर प्रस्तुत था। इसी कारण साधारणतया इस विष का प्रयोग छिपा रह गया और उसकी मृत्यु रोग आदि से मान ली गई।

अत्याचार हो रहा था। नगर के बीच हर जगह मार काट हुई और मनुष्यों की लाशों का ढेर लग गया। दो लाख मारे गए[1]; स्त्री, पुरुष, वृद्ध और दुधमुँहे बच्चे गिने गए। यह कलेजा फाड़नेवाली बात कही नहीं जा सकती, यहाँ तक कि लेखनी रोती है कि छोड़ दो। जब मुहम्मद शाह को यह समाचार मिला, तब शोक से मन डाँवाडोल हो गया। तब ईरान के सुलतान नादिर के पास एकांत स्थान में साहस कर पहुँचा। कहा कि ऐ खुदा से न डरनेवाले! होश में आ, उस प्रलयकारी विजयी से डर। मनुष्यों के मारने पर क्या कमर बाँधी है, दोनों लोक के ईश्वर से नहीं डरता। इस विजय पर घमंड मत कर, क्योंकि यह तलवारबाजी दस दिन की है। मृत्यु के बाद प्रलय की याद कर कि मारे जानेवालों की फरियाद का क्या उत्तर देगा। रक्तपिपासु तलवार से संसार को शांति दे और ऐ होशियार पुरुष, क्रोध को रोक। जब नादिरशाह ने बादशाह की बात सुनी तब लज्जित हो अमान की आज्ञा दी। नसकची ने ज्योंही अमान की आवाज दी त्योंही संसार की लगी अग्निज्वाला बुझ गई। उसकी सेना के सभी आज्ञाकारियों ने मार काट से हाथ उठा लिया। उस निठुर ने अमान तब दिया, जब कलेजा रक्त हो चुका था और हृदय जल गया था। अब इस कष्टकर विषय का अंत कर, क्योंकि लेखनी इतना लिखते लिखते टुकड़े हो गई। जब नादिर ने मोतियों के कोष, सोने चांदी से भरे संदूक, हाथी, घोड़े, तलवार, खंजर और तख्त पाया तब चलने की तैयारी की। मुहम्मद शाह को सर्दारों सहित एकांत में बुलाकर गुप्त रूप से कहा कि कि हम अब ईरान को जाते हैं, तुम हिंदुस्तान

---

[1]—नादिरनामा हिंदी में यह संख्या एक लाख लिखी गई है, पर बयाने वकी में लिखा है कि कोतवाल से पूछने पर पता लगा कि लगभग बीस सहस्र मनुष्य मारे गए होंगे। (इ० डाउ० जि० ८ पृ० ६४)

[2]—बयाने वकी में भी मुहम्मद शाह की प्रार्थना पर कत्ल का बंद होना लिखा गया है।

(३) रोला छंद के लक्षण *

[लेखक—बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर बी० ए०, अयोध्या]

हमारे देखने में अब तक पिंगल शास्त्र के जो ऐसे ग्रंथ आए हैं, जिनमें रोला छंद का लक्षण मिलता है, उनमें 'प्राकृतपिङ्गलसूत्राणि' नामक ग्रंथ सबसे प्राचीन तथा प्रामाणिक है। इस शास्त्र के ज्ञाता उसको बहुत आदर की दृष्टि से देखते हैं। उक्त ग्रंथ में रोला छंद का यह लक्षण रोला छंद ही में लिखा है, जैसे कि प्रायः और छंदों के लक्षण भी उन्हीं छंदों में दिए हैं—

अथ रोला छंद।

पढ़म होइ चउवीस मत्त अन्तर गुरु जुत्ते।
पिङ्गल हीते संसणाअ तणं रोला वुत्ते॥
एगाराहा हारा रोलाछन्दो गुज्जइ।
एक्के एक्के टुट्टइ अण्णो अण्णो बड्ढइ॥७७॥

उक्त ग्रंथ पर चार टीकाएँ उपलब्ध हैं, पर खेद का विषय है कि इस लक्षण के अर्थ के विषय में चारों टीकाकारों के मतों में ऐक्य नहीं है। उनके मतों की आलोचना यहाँ विस्तार-भय से नहीं की जाती, और वस्तुतः इस लेख में उसकी कोई आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि उन लोगों का मुख्य मत-भेद इस छंद के प्रभेदों के विषय में है। प्रश्नकर्ता की जो मुख्य जिज्ञासा है, उसके विषय में किसी के मत से कोई संशय नहीं उपस्थित होता।

---

* काशी के साहित्य विद्यालय ने ना० प्र० सभा से पूछा था कि रोला छंद में ग्यारह मात्राओं पर विरति होनी चाहिए या नहीं। सभा ने विद्यालय का वह पत्र श्रीयुत बा० जगन्नाथदास रत्नाकर बी० ए० के पास भेज दिया था। रत्नाकर जी ने उस पत्र का जो उत्तर भेजा है, सर्वसाधारण की जानकारी के लिये वह ना० प्र० पत्रिका में प्रकाशित किया जाता है—संपादक।

किसी टीकाकार ने कोई ऐसी बात नहीं लिखी है जिससे उसमें ग्यारह मात्राओं पर विरति की आवश्यकता प्रतीत होती हो। प्रत्युत् वंशीधर के इस वाक्य से कि "रोलायां चतुर्विंशतिर्मात्राः प्रति चरणं देया इत्यावश्यकं। तत्र प्रकारद्वयेन संभवति। लघुद्वययुक्तैकादशगुरुदानेन, यथेच्छं गुरुलघुदानेन वा।" इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक प्रकार के रोला में गुरु लघु का यथेच्छ आना उनको मान्य है। फिर वंशीधर ही ने यह भी लिखा है—"वक्ष्यमाण-काव्यच्छंदसश्चास्याय-मेव भेदः यत्काव्ये लघुद्वयं जगणांतर्गतं मध्ये पतति, अत्र तु यथेच्छ-मिति।" इससे भी उनका यही सिद्धांत ठहरता है कि रोला छंद में लघु गुरु यथेच्छ रखे जाते हैं।

कृष्णदत्त ने अपनी व्याख्या में लिखा है—"रोलेति नवगुरो-र्नामेति केचित्।" इससे भी स्पष्ट ही विदित होता है कि सर्व गुर्वात्मक भी रोला होता है, जिससे रोला छंद में ग्यारह मात्राओं पर विरति के नियम का निराकरण होता है; क्योंकि सर्वगुर्वात्मक रूप में, ग्यारह क्या, किसी विषम संख्या पर विरति हो ही नहीं सकती।

लक्ष्मीनाथ भट्ट ने अपनी व्याख्या में यह वाक्य लिखा है—"अत्र च यथा कथञ्चित्प्रतिचरणं चतुर्विंशतिः कलाः कर्तव्या इति"। इस वाक्य से भी ग्यारह मात्राओं पर विरति के नियम का न होना ही सिद्ध होता है।

इन सब बातों के अतिरिक्त लक्षण-रोला के तृतीय पाद में यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध होती है कि यदि ग्रंथकार को इस छंद में ग्यारह मात्राओं पर विरति का नियम करना इष्ट होता, तो वह लक्षण-रोला के तृतीय पाद में इष्ट नियम का भंग न करता।

ऊपर के लेख से विदित होता है कि प्राकृत-पिंगल के अनुसार रोला छंद में ग्यारह मात्राओं पर विरति का होना आवश्यक नहीं है।

अब वाणीभूषण नामक ग्रंथ के अनुसार उसका विचार किया जाता है। उक्त ग्रंथ में रोला छंद का यह लक्षण लिखा है—

रोलावृत्तमवेहि नागपिङ्गलकविभणितं ।
प्रतिपदमिह चतुरधिककला विंशति परिगणितम् ॥
एकादशमधि विरतिरखिलजनचित्ताहरणं ।
सुललितपद मदकारि विमलकवि-कण्ठाभरणम् ॥५९॥

इस लक्षण का अर्थ यह होता है—

[अथ तुम] नागपिङ्गल कवि का कहा हुआ, अखिल जनों के चित्तों को हरनेवाला, सुललित पद से मद को करनेवाला (ओज उपजानेवाला) [तथा] कवियों का विमल कण्ठाभरण रोला छंद समझ लो। इसमें प्रति पद (प्रत्येक चरण) चौबीस कलाओं (मात्राओं) से परिगणित होता है और ग्यारह [मात्राओं] पर विरति होती है।

ऊपर लिखे हुए लक्षण से एकाएक तो यही भासित होता है कि वाणीभूषण के कर्त्ता पण्डित दामोदर मिश्र रोला छंद में ग्यारह मात्राओं पर विरति होने का नियम बतलाते हैं, जो मत प्राकृत-पिंगल सूत्र के लक्षण से नहीं मिलता। पर दामोदर मिश्र ने अपने ग्रंथ में प्राय: सभी छंदों के लक्षणों में नागपति पिंगल की दुहाई दी है, जैसा कि उन्होंने इस छंद के लक्षण में भी किया है। उनके इस कहने से कि नागपिंगल कवि का कहा हुआ रोला छंद जानो, यह बात लक्षित होती है कि उनका मत पिंगल कवि के मत से पृथक् नहीं है। अतः इस भासमान पृथकता पर सूक्ष्म विचार करना उचित है।

प्रत्येक छंद में एक विशेष प्रकार की लय, अर्थात् गति की विशेषता होती है। छंद की लय क्या वस्तु है, इसका शब्दों के द्वारा कहना दुस्तर कार्य है। इसको अनुभवी लोगों के हृदय ही समझ सकते हैं। पर प्रत्येक छंद की लय किन किन नियमों का पालन

के नामों से कहे जाते हैं। उन्हीं समूहों में से एक समूह का नाम रोला छंद है, जिसमें चौबीस मात्राओं के ७५०२५ रूपों में से कुछ परिमित रूप आते हैं।

चौबीस मात्राओं के रूपों के अंतर्गत जितने रूप रोला छंद में पिंगलाचार्य के मत से आ सकते हैं, उनकी लयों में यद्यपि एक प्रकार का साम्य अवश्य होता है, जिसके कारण वे सब एक ही समूह में परिगणित होते हैं, तथापि प्रत्येक रूप की लय में कुछ विशेषता भी अवश्य ही रहती है, जिसके कारण किसी रूप की लय शिथिल, किसी की ओजस्विनी, किसी की सामान्य और किसी की विशेष रोचक होती है। रोला छंद के अंतर्गत जो रूप आते हैं, उनमें जितने रूपों में ग्यारह मात्राओं पर विरति होती है, उनकी लय कुछ विशेष मनोहारिणी, ओजवर्धिनी एवं रोचक मानी जाती है।

पिंगलाचार्य्य के मतानुसार जितने रूप रोला छंद में परिगणित होने के योग्य हैं, उनमें से जो विशेष मनोहर, ओजस्वी तथा कवियों के कंठों में अधिक चढ़े हुए हैं, उन्हीं को अपना लक्ष्य बनाकर पंडित दामोदर मिश्र ने ऊपर उद्धृत किया हुआ लक्षण लिखा है; और इसी कारण "अखिलजनचित्ताहरणं," "सुललितपदमदकारि," एवं "विमलकविकण्ठाभरणं," अपने लक्ष्य छंद के विशेषण रख दिए हैं। अतः उनके लक्षण का अभिप्राय यह होता है कि नागपिंगल कवि के निर्दिष्ट रोला छंद के भेदों के समूह में से जो रूप-समूह अखिल जनों के चित्तों को हरनेवाला, अपने सुललित पदों से ओज उत्पन्न करनेवाला एवं कवियों के कंठों का विमल आभूषण है, उसको तुम इस लक्षण से जानो कि उसका प्रति पद चौबीस मात्राओं से परिगणित होता है और उसमें ग्यारह मात्राओं पर विरति होती है।

इस प्रकार से अर्थ करने पर पिंगलाचार्य्य तथा पंडित दामोदर मिश्र के मतों में भेद नहीं रह जाता। इसके अतिरिक्त यह भी बात

ध्यान देने की है कि यद्यपि एक आचार्य्य को अन्य आचार्य्य के मत से भिन्न मत स्थापित करने का अधिकार है, पर यह अधिकार किसी को नहीं है कि वह कहे तो यह कि मैं अमुक आचार्य्य का कहा हुआ मत कहता हूँ, पर कहे उसके मत से भिन्न ही मत। अतः जो अर्थ हमने दामोदर मिश्र के लक्षण का किया है, यदि वह उनको अभीष्ट नहीं था तो यह मानना पड़ेगा कि उन्होंने दुहाई तो नागपिंगल कवि के मत की दी, पर अपने लक्षण में वस्तुतः भिन्न ही मत स्थापित किया। पर यह बात किसी माननीय तथा श्रेष्ठ पंडित के विषय में, किसी विशेष कारण के बिना, मानना शिष्टाचार के सर्वथा विरुद्ध है। अतः दामोदर मिश्र के लक्षण के विषय में यही मानना समीचीन है कि वह लक्षण रोला छंदों में से एक विशेष प्रकार के समूह मात्र का लक्ष्य करके दिया गया है।

संस्कृत के अन्य प्रसिद्ध पिंगल ग्रंथों जैसे श्रुतबोध, पिंगलसूत्र, वृत्त-रत्नाकर, छंदोमंजरी इत्यादि में रोला छंद का लक्षण नहीं दिया है। भाषा के पिंगल ग्रंथों में सुखदेव कवि का वृत्तविचार नामक ग्रंथ बहुत प्रामाणिक माना जाता है। वह संवत् १७२८ का बना है। उसमें रोला छंद का यह लक्षण मिलता है—

> बारह गुरु जहँ होय सु कवि सुखदेव सु आछे।
> घटै भृगीगन एक बढ़ै द्विकला सों पाछे॥
> मत्तकला चौबीस होय गुरु अंतहि आवै।
> पिंगलपति यों कहै छंद रोला सु कहावै॥

इस लक्षण में स्पष्ट ही कहा है कि रोला छंद के पहले भेद में बारह गुरु होते हैं, और फिर भेदांतरों में एक एक गुरु घटता जाता है और उसके स्थान पर दो दो लघु बढ़ते जाते हैं। इस लक्षण के अनुसार रोला छंद में ग्यारह मात्राओं पर विरति का होना संभव ही नहीं है; क्योंकि चौबीसों मात्राओं के गुरु रूप से आने पर

ग्यारह क्या, किसी विषम राख्य र मात्राओं पर विरति हो ही नहीं सकती।

भिखारीदास ने छदार्णव पिंगल में चौबीस मात्राओं के छदों में रोला छद के विषय में केवल इतना ही लिखा है—

"अनियम ह्वैहै रोला"

इससे रोला में किसी विशेष स्थान पर विरति के नियम का निराकरण होता है। जो उदाहरण उक्त छद का उन्होंने दिया है, उसमें ग्यारह मात्राओं पर विरति होने के नियम का निर्वाह भी नहीं किया है।

रविछवि देखत घूघू घुसत जहाँ तहँ बागत।
कोकनि कों ताही सों अधिक हियो अनुरागत॥
त्यों कारे कान्हहिं रावि मनु न तिहारो पागत।
हम कों तौ वाही तें जगत उज्यारो लागत॥

ज्ञात होता है कि वाणीभूषणमें रोला छद के लक्षणमे जो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, उनके मुख्य आशय पर बिना ध्यान दिए ही संस्कृत के किसी किसी पिंगलकार ने वही लक्षण सामान्य रोला छद का लिख दिया होगा, क्योंकि संस्कृत में रोला छद का उपयोग कदाचित् ही होता है। अत सस्कृत के कवियों से उक्त छद के यथार्थ स्वरूप निरूपण मे उपेक्षा संभव है, और उनके ऐसे लक्षणों से भिखारीदास जी के समय में भी रोला छद की ग्यारहवीं मात्रा पर विरति के होने की आवश्यकता के विषय मे मतभेद हो गया होगा। इसी भ्रम को मिटाने के निमित्त उन्होंने अपने उदाहरण में ग्यारह मात्राओं पर विरति का निर्वाह नहीं किया है।

ऊपर जो बातें लिखी गई है, उनका साराश यही निकलता है कि रोला छद में ग्यारह मात्राओं पर विरति होना आवश्यक नहीं है, पर यदि हो तो अच्छी बात है।

ग्यारह क्या, किसी नियत संख्या की मात्राओं पर विरति हो ही नहीं सकती।

भिखारीदास ने छंदार्णव पिंगल में चौबीस मात्राओं के छंदों में रोला छंद के विषय में केवल इतना ही लिखा है—

"अनियम ह्वै रोला"

इससे रोला में किसी विशेष स्थान पर विरति के नियम का निराकरण होता है। जो उदाहरण उक्त छंद का उन्होंने दिया है, उसमें ग्यारह मात्राओं पर विरति होने के नियम का निर्वाह भी नहीं किया है।

रविछबि देखत घूघू घुसत जहाँ तहँ भागत।
कोकनि कों ताही सों अधिक हियो अनुरागत॥
त्यों कारे कान्हहिं तजि मनु न तिहारो पागत।
हम कों तौ वाही तें जगत उज्यारो लागत॥

ज्ञात होता है कि वाणीभूषण में रोला छंद के लक्षण में जो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, उनके मुख्य आशय पर बिना ध्यान दिए ही संस्कृत के किसी किसी पिंगलकार ने वही लक्षण सामान्य रोला छंद का लिख दिया होगा, क्योंकि संस्कृत में रोला छंद का उपयोग कदाचित् ही होता है। अतः संस्कृत के कवियों से उक्त छंद के यथार्थ स्वरूप-निरूपण में उपेक्षा संभव है, और उनके ऐसे लक्षणों से भिखारीदास जी के समय में भी रोला छंद की ग्यारहवीं मात्रा पर विरति के होने की आवश्यकता के विषय में मतभेद हो गया होगा। इसी भ्रम को मिटाने के निमित्त उन्होंने अपने उदाहरण में ग्यारह मात्राओं पर विरति का निर्वाह नहीं किया है।

ऊपर जो बातें लिखी गई हैं, उनका सारांश यही निकलता है कि रोला छंद में ग्यारह मात्राओं पर विरति होना आवश्यक नहीं है, पर यदि हो तो अच्छी बात है।

---

(४) संस्कृत साहित्य की विदुषी स्त्रियाँ

[लेखक—पं० बलदेव उपाध्याय, एम. ए., शास्त्री]

प्रतिभा लिङ्गविशेष की अपेक्षा नहीं करती। काव्यप्रतिभा का सम्बन्ध आत्मा के साथ रहता है; स्त्री या पुरुष के विभाग से उसे कुछ काम नहीं। पुरुष यदि दावा करे कि कविता जैसी ललित कलाओं का सुन्दर अंकुर उसी के हृदय में उत्पन्न होता है, और उसकी उर्वरा शक्ति से वह लहलहाने लगता है, तो वह सदा झूठा ही समझा जायगा। सच तो यह है कि कविता, संगीत, चित्रकला आदि मधुर हृदयहारी कलाओं का बीज नारियों के सहानुभूतिपूर्ण, रस से शराबोर हृदय में पुरुषों के कठोर हृदय की अपेक्षा अपने उगने के लिये अधिक सहकारी सामग्री पाता है और वहीं वह सदा हरा भरा भी पाया जाता है। नवीन पश्चिमी संसार के उदाहरणों को छोड़ देने पर भी यदि अभिनव भारत के ही दृष्टान्तों पर दृष्टिपात किया जाय, तो स्त्रियों में प्रतिभा की कमी नहीं देख पड़ती। आज कल जब कि स्त्रियों में शिक्षा का बहुत ही कम प्रचार है, ऐसी दशा देखने को मिलती है, तो प्राचीन भारत में, जब कि शिक्षा सार्वजनिक थी, स्त्री-कवियों के अस्तित्व से हमें चकित नहीं होना चाहिए।

सर्व-पुरातन ग्रन्थरत्न ऋग्वेद में ही अनेक स्त्रियों की बनाई हुई ऋचाएँ संगृहीत हैं जिनके देखने से उनके उन्नत विचारों का पता भली भाँति लगता है। कविता की दृष्टि से भी ऋचाएँ उच्च कोटि की मानी जाती हैं। इन सबका दिग्दर्शन फिर कराया जायगा। उन स्त्री कवियों की कविता का स्वाद भी आज पाठकों को न चखाया जायगा जिन्होंने सांसारिक भोग विलास को लात मारकर बौद्ध धर्म की

नारी-कवि के जीवन की घटनाएँ भी अभेद्य अन्धकार के अज्ञात परदे में छिपी हुई हैं, जिससे उन्हें निकालकर सर्वसाधारण के सामने उपस्थित करना एक अत्यंत दुःसाध्य कार्य प्रतीत होता है।

इनका नाम कहीं विज्जका या विज्जाका मिलता है और कहीं विद्या। इनका शुद्ध नाम 'विज्जका' ही प्रतीत होता है जिसका संस्कृतीकृत रूप 'विद्या' है। शार्ङ्गधर पद्धति के एक पद्य में 'विज्जका' ने महाकवि दण्डी को डाँट बताई है। वह सर्व-प्रसिद्ध पद्य यह है:—

नीलोत्पलदलश्यामां विज्जकां मामजानता।
वृथैव दण्डिना प्रोक्तं "सर्वशुक्ला सरस्वती"॥

पद्य का चतुर्थ चरण काव्यादर्श के मंगलाचरण श्लोक का अंतिम पाद है। विज्जका का कहना है कि नील कमल के पत्ते के समान श्याम रंगवाली मुझे बिना जाने ही दण्डी ने व्यर्थ ही सरस्वती को सर्वशुक्ला कह डाला है। इस गर्वोक्ति से विज्जका के असाधारण पाण्डित्य का पता लगता है। इससे इतनी ही ऐतिहासिक बात निकलती है कि 'विज्जका' के आविर्भाव का समय 'दण्डी' के कुछ इधर है; परंतु कितना उतरकर है, इसे निश्चय करने के यथेष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।

विज्जका के कई पद्यों को संस्कृत आलंकारिकों ने उदाहरण-स्वरूप अपने ग्रंथों में उद्धृत किया है। मम्मटाचार्य ने अपने 'शब्द-व्यापार विचार' में इनके 'दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि' (नं० ५०० कवीन्द्र वचन समुच्चय) और 'धन्यासि या कथयसि' (२९८ कवीन्द्र०) को उद्धृत किया है। दूसरा पद्य काव्य-प्रकाश के चतुर्थ उल्लास में अर्थमूलक वस्तु प्रतिपाद्य अलंकार ध्वनि के उदाहरण में दिया गया है। पहला पद्य धनिक के 'दशरूपावलोक' तथा मुकुल-भट्ट के 'अभिधावृत्ति मात्रिका' में उद्धृत किया गया है। भट्ट मुकुल का समय लगभग ९२५ ई० है। अतएव पूर्वोक्त पद्य की रचयित्री का समय अनुमान से ८५० ई० कहा जा सकता है। विज्जका

का आविर्भाव काल दण्डी तथा मुकुल भट्ट के बीच का काल (७१० ई०—८५० ई०) माना जा सकता है।

कुछ विद्वानों का यह अनुमान है कि 'विज्जका' तथा कार्णाटी 'विजया', जिसकी वैदर्भी रीति की प्रशंसा राजशेखर ने कालिदास से उपमा देकर खूब की है,[1] दोनों एक ही व्यक्ति हैं[2]। पुलकेशी द्वितीय के ज्येष्ठ पुत्र चन्द्रादित्य की महारानी 'विजयभट्टारिका' के साथ 'विजया' की एकता नाम-साम्य की भित्ति पर मानकर इनका समय ६६० ई० माना गया है[3]; क्योंकि विजयभट्टारिका के इसी समय के लेख पाए जाते हैं। अतएव वे 'विज्जका' को भी सप्तम शताब्दी में बतलाते हैं।

उन विद्वानों की यह पूर्वोक्त सम्मति उतनी अच्छी नहीं जँचती। कर्नाट देश की रहनेवाली 'विजया' सम्भवतः महारानी विजया ही सकती है; क्योंकि इसके पोषक प्रमाण हैं। 'चन्द्रादित्य' सम्पूर्ण महाराष्ट्र

---

१. सरस्वतीव कार्णाटी विजयाङ्का जयत्यसौ।
या विदर्भ गिरां वासः कालिदासादनन्तरम् ॥ (शार्ङ्ग० १८४)

इसमें 'विजया' का कर्णाट देशीय होना सिद्ध होता है। इस उल्लेख के अतिरिक्त इस गर्वोक्तिमय पद्य को विज्जिका की रचना मानना पड़ता है —

एकोऽभून्नलिनात्ततश्च पुलिनाद् वल्मीकतश्चापरे
ते सर्वे कवयो भवन्ति गुरवस्तेभ्यो नमस्कुर्महे।
अर्वाञ्चो यदि गद्यपद्यरचनैश्चेतश्चमत्कुर्वते
तेषां मूर्ध्नि ददामि वामचरणं कर्णाटराजप्रिया ॥

(कर्पूर म०, काव्यमाला, पृ० ५ भूमिका)

२. देखें—साहित्यदर्पण की भूमिका पृ० ४१; डाक्टर एस. के. दे. अलंकार शास्त्र का इतिहास।

३. Nerur plates and Kocherein plates of the Queen in Indian Antiquary Vol. VII & VIII.

का राजा था, कर्नाटक उसकी राज्य सीमा के भीतर ही था। अतएव 'महारानी विजयभट्टारिका' के, कर्नाटदेशीय होने में कोई विशेष सन्देह नहीं है। दूसरे भट्टारिका शब्द तो केवल उपाधिसूचक है। जिस प्रकार महाराज को 'भट्टारक' कहा जाता था, उसी प्रकार राजमहिषी भी भट्टारिका कही जाती थी। अतएव उनका भी नाम 'विजया' ही हो सकता है। इस एकीकरण में अधिक सन्देह नहीं मालूम पड़ता। परन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में 'विजया' को 'विज्जका' का ही नामान्तर मानना हमारी सम्मति में उचित नहीं प्रतीत होता। एक ही प्रमाण ऐसा है जिससे 'विज्जका' और कार्णाटी 'विजया' की एकता सिद्ध हो सकती है। विज्जका ने स्वयं ही अपने को उक्त उद्धृत पद्य में 'सरस्वती' माना है तथा विजया के विषय में राजशेखर ने भी 'सरस्वतीव कार्णाटी' कहा है। अतः काव्य-प्रतिभा में दोनों ही सरस्वती के समान मानी गई हैं। इस वर्णन से सम्भव है, दोनों एक ही व्यक्ति हों। अतएव विज्जका' का समय ७वीं शताब्दी में मानना ठीक नहीं। ७वीं शताब्दी के अन्त में होनेवाले महाकवि दण्डी के पूर्वोक्त उद्धरण से भी इसमें सन्देह प्रकट किया जा सकता है। 'विज्जका' के विषय में इतना ही कहना अवशिष्ट है कि इनका जन्म सम्भवतः दक्षिण देश में हुआ था। इससे अधिक इनके विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं।

इनकी रसभावमयी कविता की चर्चा की जा चुकी है। अधिकांश कविताओं में शृङ्गार रस का ही प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है, भाव का सौष्ठव देखते ही बनता है। स्वभावोक्ति की भी मात्रा खूब है। जरा इनके काव्य रस का आस्वादन कीजिए।

विज्जका सहृदय भावुक का वर्णन कितने मार्मिक तथा सच्चे शब्दों में कर रही हैं —

> कवेरभिप्रायमशब्दगोचरं स्फुरन्तमार्द्रेषु पदेषु केवलम्।
> वदद्भिरङ्गैः कृतरोमविक्रियैर्जनस्य तूष्णीं भवतोऽयमञ्जलिः ॥

सच्चा कवि अपने भावों को अभिधा के द्वारा कभी प्रकट नहीं करता। यदि बात साफ तौर से कह डालें तो उसमें मजा ही क्या आवेगा ? वह केवल व्यञ्जना की सहायता से उन्हें प्रकट करता है। शब्दों के द्वारा अभिप्राय की अभिव्यक्ति नहीं होती, वरन् कुछ रसभरे मनोहर पदों में यह भाव झलकता रहता है। ऐसे महाकवि का सच्चा आस्वादक किसे कह सकते हैं ? उर्दू कविता के भावुकों की भाँति केवल भावावेश में 'वाह वाह' कहकर ही अपनी सहृदयता का पता देना संस्कृत कविता के सच्चे रसिक का काम नहीं। कवि के गूढ़ व्यञ्जना द्योतित अभिप्राय को समझकर जो रसिक शब्दों के द्वारा काव्यानन्द की सूचना नहीं देता, वरन चुप रहकर भी जिसके रोमाञ्चित अवयव हृदय की आनन्द लहरी का पता साफ शब्दों में बतलाते हैं, वही सच्चा रसिक है। ऐसे सहृदय शिरोमणि को मैं प्रणाम करता हूँ। रसिक की यही सच्ची परिभाषा है। सारांश यह है कि जिस प्रकार सच्चे कवि का कार्य ध्वनि के द्वारा भावबोधन कराना है, उसी भाँति सच्चे भावुक का कार्य व्यञ्जना के द्वारा ही उसकी सराहना करना है।

> कोष स्फीततर स्थितानि परित पत्राणि दुर्गं जलम्,
> मैत्र मण्डलमुज्वल चिरमधो नीतास्तथा कण्टका
> इत्याद्युद्धशिलीमुखेन रचनां कृत्वा तदप्यद्भुत
> यत्पद्मेन जिगीषुणापि न जित मुग्धे ! त्वदीय मुखम्।

हे मुग्धे ! कमल ने बड़ी बड़ी तैयारियाँ करके तुम्हारे मुख पर धावा बोल दिया है। परन्तु फल क्या हुआ ? कुछ भी नहीं। अपना विषण्ण वदन लेकर चुपचाप बैठ गया। भरा हुआ कोश उसका खजाना (कोष) है, चारों ओर फैले हुए पत्ते पत्र (वाहन) हैं, जल दुर्गम (किला) है, उज्ज्वल मित्रमण्डल (सूर्य मण्डल) उसका मित्र है। कण्टकों को भी उसने नीचे कर दिया है। इतना ही नहीं, उसने शिलीमुख

(बाण तथा भ्रमर) को भी खींच रक्खा है। परंतु हजरत से इतने सामान के रहते हुए भी कुछ नहीं हो सका। होता भी क्या खाक! आज तक इस मुख को किसी ने जीता है कि वे जीतने चले हैं! कमल-विजयी मुख की प्रशंसा कितनी सुन्दर है!

> केनात्र चम्पकतरो बत रोपितोऽसि,
> कुग्रामपामरजनान्तिकवाटिकायाम्।
> यत्र प्रकटनवशाकविवृद्धिलोभात्
> गोभग्नवाटपटनोचितपल्लवोऽसि॥

हे चम्पक के पेड़! तुम्हें किसने इस वाटिका में रोपा है? जानते नहीं हो, इसके आसपास दुष्ट जनों की बस्ती है, जो इस गरज से कि लगे हुए साग—साधारण तरकारी—और भी बढ़ते जायँ, तुम्हारे पल्लव की गाय से तोड़ी हुई चहार-दीवारी की तरह बुरी दशा कर डालेंगे।

> विलासमसृणोल्लसन्मुसललोलदोः कन्दली-
> परस्परपरिस्खलद्वलयनिःस्वनोद्धन्धुराः।
> लसन्ति कलहुंकृतिप्रसभकम्पितोरः स्थल-
> त्रुटद्गमकसंकुलाः कलमकण्डनीगीतयः॥

धान कूटने का क्या ही सुन्दर स्वाभाविक वर्णन है! स्त्रियाँ चिकने तथा सुन्दर मूसलों से धान कूट रही हैं। इस कार्य में उनके चञ्चल हाथों के चलने से वलय आपस में टकराते हैं जिससे बहुत ही रमणीय ध्वनि होती है। वे बीच में मनोहर 'हुंकार' कर रही हैं; उनके उरस्थल अत्यन्त कम्पित हो रहे हैं। गमकों—तालस्वरों-से युक्त इन धान कूटनेवालियों के गीत कैसे मनोहर जान पड़ते हैं। श्लोक में स्वभावोक्ति अलंकार की अनुपम छटा है!

> गते प्रेमाबन्धे हृदयबहुमानेऽपि गलिते
> निवृत्ते सद्भावे जन इव जने गच्छति पुरः।

सच्चा कवि अपने भावों को अभिधा के द्वारा कभी प्रकट नहीं करता। यदि बात साफ तौर से कह डालें तो उसमें मजा ही क्या आवेगा? वह केवल व्यंजना की सहायता से उन्हें प्रकट करता है। शब्दों के द्वारा अभिप्राय की अभिव्यक्ति नहीं होती, वरन् कुछ रसभरे मनोहर पदों में यह भाव झलकता रहता है। ऐसे महाकवि का सच्चा आस्वादक किसे कह सकते हैं? उर्दू कविता के भावुकों की भाँति केवल भावावेश में 'वाह वाह' कहकर ही अपनी सहृदयता का पता देना संस्कृत कविता के सच्चे रसिक का काम नहीं। कवि के गूढ व्यंजना द्योतित अभिप्राय को समझकर जो रसिक शब्दों के द्वारा काव्यानन्द की सूचना नहीं देता, वरन चुप रहकर भी जिसके रोमांचित अवयव हृदय की आनन्द लहरी का पता साफ शब्दों में बतलाते हैं, वही सच्चा रसिक है। ऐसे सहृदय शिरोमणि को मैं प्रणाम करती हूँ। रसिक की क्या ही सच्ची परिभाषा है। सारांश यह है कि जिस प्रकार सच्चे कवि का कार्य ध्वनि के द्वारा भावबोधन कराना है, उसी भाँति सच्चे भावुक का कार्य व्यंजना के द्वारा ही उसकी सराहना करना है।

> कोष स्फीततरं स्थितानि परितः पत्राणि दुर्गं जलम्,
> मैत्रं मण्डलमुज्ज्वलं चिरमधो नीतास्तथा कण्टकाः
> इत्याकृष्टशिलीमुखेन रचनां कृत्वा तदप्यद्भुतं
> पद्मेन जिगीषुणापि न जितं मुग्धे! त्वदीयं मुखम्।

हे मुग्धे! कमल ने बड़ी बड़ी तैयारियाँ करके तुम्हारे मुख पर धावा बोल दिया है। परन्तु फल क्या हुआ? कुछ भी नहीं। अपना विषण्ण वदन लेकर चुपचाप बैठ गया। खिला हुआ कोश इसका खजाना (कोष) है, चारों ओर फैले हुए पत्ते पत्र (वाहन) हैं, जल दुर्गम (किला) है, उज्ज्वल मैत्रमण्डल (सूर्य मण्डल) इसका मित्र है। कण्टकों को भी इसने नीचे कर दिया है। इतना ही नहीं, इसने शिलीमुख

(बाण तथा भ्रमर) को भी खींच रखा है। परंतु हजरत से इतने सामान के रहते हुए भी कुछ नहीं हो सका। होता भी क्या खाक ! आज तक इस मुख को किसी ने जीता है कि वे जीतने चले हैं ! कमल-विजयी मुख की प्रशंसा कितनी सुन्दर है !

> केनात्र चम्पकतरो बत रोपितोऽसि,
> कुग्रामपामरजनान्तिकवाटिकायाम् ।
> यत्र प्ररूढनवशाकविवृद्धिलोभात्
> गोभग्नवाटघटनोचितपल्लवोऽसि ॥

हे चम्पक के पेड़ ! तुम्हें किसने इस वाटिका में रोपा है ? जानते नहीं हो, इसके आसपास दुष्ट जनों की वस्ती है, जो इस गरज से कि लगे हुए साग—साधारण तरकारी—और भी बढ़ते जायँ, तुम्हारे पल्लव को गाय से तोड़ी हुई चहार-दीवारी की तरह बुरी दशा कर डालेंगे ।

> विलासमसृणोल्लसन्मुसललोलदोःकन्दली-
> परस्परपरिस्खलद्वलयनिःस्वनोद्बन्धुराः ।
> लसन्ति कलहुङ्कृतिप्रसभकम्पितोरःस्थल-
> त्रुटद्गमकसङ्कुलाः कलमकण्डनीगीतयः ॥

धान कूटने का क्या ही सुन्दर स्वाभाविक वर्णन है ! स्त्रियाँ चिकने तथा सुन्दर मूसलों से धान कूट रही हैं । इस कार्य में उनके चञ्चल हाथों के चलने से वलय आपस में टकराते हैं जिससे बहुत ही रमणीय ध्वनि होती है । वे बीच में मनोहर 'हुंकार' कर रही हैं, उनके उरस्थल अत्यन्त कम्पित हो रहे हैं । गमकों—तालस्वरों-से युक्त इन धान कूटनेवालियों के गीत कैसे मनोहर जान पड़ते हैं । श्लोक में स्वभावोक्ति अलंकार की अनुपम छटा है ।

> गते प्रेमाबन्धे हृदयबहुमानेऽपि गलिते
> निवृत्ते सद्भावे जन इव जने गच्छति पुरः ।

अयि जड़ विधे ! कल्याणाय व्यपेतनिजक्रमा;
कुलशिखरिणी क्षुद्रा नैते न वा जलराशयः ॥

कोई कवि सज्जनों पर विपत्ति ढानेवाले ब्रह्मा को चेतावनी दे रहा है—हे ब्रह्मा, मनस्वी सज्जनों पर आफत गिराने का परिश्रम क्यों कर रहे हो ? यह परिश्रम बिल्कुल ही व्यर्थ होगा। इससे इनका धैर्य कभी टूट नहीं सकता। क्या ये लोग क्षुद्र कुल-पर्वत हैं या जल-राशि हैं जो प्रलय काल में अपने कार्यक्रम को बिल्कुल ही छोड़ देते हैं ? कल्पांत में डिगनेवाले कुल-पर्वतों से तथा अपनी मर्यादा का उल्लंघन करनेवाले समुद्रों से आफत में भी धैर्य न छोड़नेवाली महा-पुरुषों की तुलना क्या कभी की जा सकती है ?

मायद्दिग्गजदानलिप्तकरटप्रक्षालनक्षोभिताः
(२) क्रीडाः सीम्नि विचेरुरप्रतिहता यस्योर्मयो निर्मलाः।
कष्टंभाग्य विपर्ययेण सरसः कल्पांतरस्थायिन
स्तस्याप्येक बक प्रचार कलुषं कालेन जातं जलम् ॥

तालाब की दशा में कैसा विचित्र परिवर्तन हुआ है ! मतवाले दिग्गजों के मद से लिप्त गण्डस्थलों के प्रक्षालन से क्षुब्ध होकर जिसकी निर्मल तरंगें बिना रोक टोक के आकाश की सीमा में विचरण करती थीं, कल्पान्तर स्थायी उसी तालाब का जल अब एक ही बगुले के चलने से कलुषित हो गया है। बड़े कष्ट की बात है ! भाग्य के फेर से ही ऐसे बड़े तालाब की ऐसी दुर्दशा हो गई। क्या किया जाय ! दैव सबसे बलवान् है।

सुभद्रा

'सुभद्रा' नामक कवयित्री की प्रसिद्धि उतनी नहीं है;क्योंकि इनकी रचनाओं का कुछ भी पता नहीं लगता। वल्लभदेव की सुभाषिता-वलि में इनका केवल एक ही पद्य उद्धृत किया गया है, और वही इनकी अवशिष्ट रचना है। 'सुभद्रा' ने अवश्य ही अनेक कविताओं

की रचना की होगी; नहीं तो राजशेखर को इनके कविता-चातुर्य के वर्णन का अवसर ही कहाँ मिलता। राजशेखर ने स्पष्ट शब्दों में इनकी कविता को मनोमोहिनी बतलाया है:—

पार्थस्य मनसि स्थानं लेभे खलु सुभद्रया।
कवीनां च वचोवृत्तिचातुर्येण सुभद्रया॥

(सूक्तिमुक्तावली)

जिस प्रकार सुभद्रा ने अर्जुन के मन में अपने सौन्दर्य के कारण स्थान पाया था, उसी प्रकार सुभद्रा ने भी अपनी रचनाओं की चतुरता से कवियों के मन में स्थान पाया है। इस उल्लेख से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि 'सुभद्रा' दसवीं शताब्दी के पहले हुई थीं। इनकी जीवनी भी बिल्कुल अज्ञात है।

अपने पद्य में इन्होंने स्नेह से होनेवाले दुष्परिणाम की बात बतलाई है:—

दुग्धं च यत्तदनु यत्क्वथितं ततोनु, माधुर्यमस्य हृतमुन्मथितं च वेगात्।
जातं पुन घृतकृते नवनीत वृत्ति स्नेहो निबन्धनमनर्थ परम्पराणाम्॥

स्नेह ने बिचारे दूध की कैसी दुर्दशा कर डाली है। स्नेह-घृत-के ही लिये बिचारा दूध गरम किया जाता है—खूब औंटा जाता है। काँजी डालकर उसका मीठापन भी दूर किया जाता है; फिर बड़े जोरों से मथा जाता है; तब घी के ही लिये इसे मक्खन का रूप धारण करना पड़ता है। बताइए तो सही, बिचारे दूध पर इतनी आफत क्यों? केवल स्नेह (घी तथा प्रेम) के ही लिये। वास्तव में स्नेह मनुष्य के हजारों दुःखों का मूल है। स्नेह की इस अनर्थकारिता के विषय में किसी कवि का यह प्राचीन श्लोक भी सुभद्रा के सुभग पद्य की सत्यता का ही प्रतिपादन कर रहा है:—

स्नेहं परित्यज्य निपीय धूमं कान्ताकचा मोक्षपथं प्रपन्नाः।
नितम्बसङ्गात्पुनरेव बद्धाः अहो दुरन्ता विषयेषु सक्तिः॥

फल्गुहस्तिनी

इनका भी नाम संस्कृत साहित्य में अधिक नहीं। कविता की अनुपलब्धि ही इसका मूल कारण प्रतीत होती है। सुभाषितावलि में दो पद्य उद्धृत किए गए हैं जिनमें पहला पद्य (सृजति तावदशेष गुणाकरं) भर्तृहरि के नीतिशतक में भी पाया जाता है, अतएव उसके रचयिता के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। सूक्ति संग्रह-कर्त्ताओं की भूल से ऐसा बहुधा देखा गया है कि किसी का पद्य किसी दूसरे के माथे मढ़ा हुआ रहता है। दूसरा पद शार्ङ्गधर पद्धति में भी पाया जाता है। पद्य यह है:—

> त्रिनयनजटावल्लीपुष्पं मनोभवकार्मुकं
> ग्रहकिसलयं सन्ध्या नारी नितम्बनखक्षतम्।
> तिमिरभिदुरं व्योम्नः शृंगं निशावदनस्मितं
> प्रतिपदि नवस्येन्दोर्बिम्बं सुखोदयमस्तु वः॥

आकाश में प्रतिपद्‌चन्द्र का उदय हुआ है। चन्द्र के वर्णन में कितने मनोरम रूपकों की उद्भावना की गई है। यह शिव की जटारूपी लता का फूल है, काम देव का टेढ़ा धनुष है, ग्रहों का नवीन पल्लव है, सन्ध्या रूपी नारी के नितम्ब पर लाल नख क्षत है (उदय के समय में चन्द्रमा में कुछ लालिमा रहती है और क्षत भी लाल होता है), अन्धकार को नष्ट करनेवाला आकाश का शिखर है, निशारूपी नायिका के वदन की कोमल मुसकुराहट है। ऐसे मनोरम चन्द्र का उदय तुम्हारे सुख के लिये हो। इस पद्य में रूपक की छटा कितनी सुहावनी है।

इससे स्पष्ट है कि फल्गुहस्तिनी में उस ऊँची प्रतिभा की कमी नहीं थी जो सच्चे कवि में होनी चाहिए।

मोरिका

'मोरिका' के नाम से सुभाषितावलि और शार्ङ्गधर पद्धति दोनों संग्रहों में कुल चार पद्य मिलते हैं। इन पद्यों के सिवाय न तो इनके किसी काव्य का ही पता चलता है और न किसी ऐतिहासिक वृत्तान्त का। शार्ङ्गधर में उद्धृत कवि धनदेव की उक्ति में स्त्री कवियों में 'मोरिका' का भी नाम आया है —

शीला विज्जा मारुला मोरिकाद्या
काव्यं कर्तुं सन्ति विज्ञाः स्त्रियोऽपि।
विद्यां वेत्तुं वादिनो निर्विजेतुं
विश्वं वक्तुं यः प्रवीणः स वन्द्यः॥

इससे स्पष्ट सूचित होता है 'मोरिका' काव्य-रचना में बड़ी प्रवीण थी। यही उल्लेख इनके विषय में ज्ञात इतिहास का सार है। इनकी कविता साधारण तथा अच्छी है। सब पद्यों में शृङ्गार रस ही लबालब भरा है।

यामीत्यध्यवसाय एव हृदये बध्नातु नामास्पदं
वक्तुं प्राणसमा समक्षमधुरं नेत्थं कथं पार्यते।
उक्ते न मे तथापि निर्भरगलद्बाष्पं प्रियाया मुखं
दृष्ट्वापि प्रवसन्त्यहो धनलवप्राप्तिस्पृहा मादृशाम् (? मादृशाः)

कोई विदेशी कह रहा है कि पहले तो जाने का अध्यवसाय ही हृदय में किसी तरह स्थान पाता है। परन्तु अपनी प्राणप्यारी के सामने भला ऐसी बात कैसे कही जा सकती है। यदि कह दूँ तो प्रिया की आँखों से वियोग के कारण आँसुओं की झड़ी बँध जाती है। परन्तु क्या करूँ? उसे भी देखकर हमारे जैसे निर्धन लोग परदेश में धन कमाने की इच्छा से आते हैं। क्या किया जाय, लाचारी है। नहीं तो किसी प्रकार अपनी प्रिया को दुःख सागर में छोड़कर आना न्याय प्राप्त नहीं।

लिखति न गणयति रेखा निर्भरबाष्पाम्बु धौतगण्डतला
अवधिरिव सावसानं मा भूदिति शङ्किता बाला।

पति परदेश से कुछ ही दिनों के लिये घर आया है। बाला नायिका की आँखों से आँसुओं की धारा बह रही है जिससे उसका कपोल बिल्कुल धुल गया है। वह अवधि के दिनों की रेखाएँ लिखती है जरूर, परन्तु गिनती नहीं। डरती है कि कहीं ऐसा न हो कि अवधि पूरी हो जाय और प्रिय पति के जाने का दुस्सह दुःख अभी उपस्थित हो जाय। पद्य में नायिका के कोमल हृदय का पता बड़ी खूबी के साथ दिया गया है।

प्रियतमस्त्वमिमामनगार्हसि, प्रियतमा च भवन्तमिहार्हति।
नहि विभाति निशारहितः शशी, नच विभाति निशापि विनेन्दुना।

दूती नायक को समझा रही है कि हे प्रिय, तुम इस नायिका के योग्य हो और यह भी तुम्हारे ही योग्य है। देखो, बिना रात्रि के चन्द्रमा की शोभा नहीं होती और रात भी चन्द्रमा के बिना कभी नहीं सोहती।

नायक परदेश जाने को तैयार है। इसकी सूचना मिलते ही नायिका की कैसी करुणाजनक दशा उपस्थित हो जाती है। दूती नायक को नायिका की इस वियोग-दशा की खबर दे रही है—

मा गच्छ प्रमदाप्रिय, प्रियशतैर्भूयस्त्वमुक्तो मया
बाला प्राङ्गणभूगतेन भवता प्राप्नोति निष्ठां पराम्।
किं चान्यत् कुचभारपीड़नसहैर्यत्नप्रवृद्धैरपि
व्युत्थत्कञ्चुकजालकैरनुदिनं निःसूत्रमस्मद्गृहम्॥

हे प्रमदाप्रिय, विदेश मत जाओ, मैं हजारों बार तुम्हें निहोरा कर रही हूँ। तुम्हारी दयिता तुममें बहुत ही प्रेम धारण करती है। मैं उसकी विषम दशा का वर्णन क्या करूँ? तुम जानेके लिये आँगन में पैर रखोगे, यह सोच कर ही स्तनों के भार को सहने में समर्थ तथा

यत्नपूर्वक बाँधी गई उसकी कञ्चुकी बार बार टूटी जा रही है, उसके लिये हमारे घर में डोरा भी नहीं बच गया। अभी तुम्हारे जाने के समय की ऐसी दशा है। आगे न जाने क्या होगा।

इन्दुलेखा

'इन्दुलेखा' का नाम भी स्त्री कवियों में है। इनका जन्म कहाँ हुआ, कब हुआ, इन्होंने किस काव्य ग्रन्थ का निर्माण किया, इन प्रश्नों का कुछ भी उत्तर नहीं दिया जा सकता। वल्लभ देव की सुभाषितावलि में इन्दुलेखा का एक पद्य दिया गया है।

सूर्यास्त के विषय में कवियित्री की सुन्दर कल्पना है:—

एके वारिनिधौ प्रवेशमपरे लोकान्तरालोकनम्
केचित् पावकयोगितां निजगदुः क्षीणेऽह्नि चण्डार्चिषः।
मिथ्या चैतदसाक्षिकं प्रियसखि प्रत्यक्षतीव्रातपं
मन्येऽहं पुनरध्वनीनरमणीचेतोऽधिशेते रविः॥

मारुला

यद्यपि इनके नाम से एक ही कविता सुभाषितावलि में मिलती है, तथापि धनदेव के उल्लेख से जान पड़ता है कि ये प्रवीण स्त्रियों में गिनी जाती थीं। यह प्रशंसा केवल एक ही पद्य पर अवलम्बित नहीं हो सकती; अतः इन्होंने अन्य कविताओं की भी रचना की होगी, यह सहज में ही माना जा सकता है।

इन की रचना नीचे दी जाती है—

कृशा केनासित्वं ? प्रकृतिरियमङ्गस्य ननु मे
मलाधूमा कस्मान् ? गुरुजनगृहे पाचकतमा।
स्मरस्यस्मान् कच्चिन्नहि नहि नहीत्येवमगमत्
स्मरोत्कम्पं बाला मम हृदि निपत्य प्ररुदिता॥

कोई विरही अपने मित्र से स्त्री की बात कह रहा है:—तुम दुबली क्यों हो, मेरे इस पूछने पर उसने कहा कि जन्म से ही मेरे शरीर की ऐसी दशा है। जब मैंने पूछा कि तुम मैली क्यो देख पड़ती हो, तब उसने जवाब दिया कि श्वसुर जी के घर में भोजन पकाने से। जब मैंने पूछा कि क्या तुम मुझे याद करती हो, तब तो वह मुग्धा बाला "नहीं, नहीं" कहती हुई काम-जनित पीड़ा से काँपने लगी और मेरे हृदय से लगकर जोरों से रोने लगी।

इस श्लोक मे सरलता खूब है। यह पद्य कड़े दिल में भी सहानुभूति पैदा कर रहा है। नायिका की मुग्धता का क्या ही सच्चा चित्र खींचा गया है। (अपूर्ण)

---

(५) सुंग वंश का एक शिलालेख

[लेखक—बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर बी० ए०, अयोध्या]

एक मंदिर की देहली के नीचे के पत्थर पर डेढ़ पंक्तियाँ प्राचीन अक्षरों की खुदी हुई हैं। एक दिन मेरी दृष्टि उन पर पड़ी। प्राचीन लिपियों से मुझे कुछ परिचय है। अतः मैंने उनको ध्यान से देखा, तो उनमें पुष्यमित्र का नाम पढ़ा गया; पर उस समय और कुछ न ज्ञात हुआ। पुष्यमित्र के विषय में मुझे इतना स्मरण था कि वह एक पौराणिक तथा ऐतिहासिक राजा था, और यह भी सुना था कि उसका कोई शिलालेख इत्यादि अब तक नहीं मिला है। अतः यह शिलालेख ऐतिहासिक दृष्टि से मुझे बड़े महत्व का प्रतीत हुआ। यह समझकर मैंने उसकी एक प्रतिलिपि कागज पर लिख ली। घर लाकर जब उसको ध्यानपूर्वक पढ़ा, तो, यद्यपि प्रतिलिपि में कुछ अशुद्धियाँ होने के कारण स्पष्ट अर्थ तो न लगा, पर यह निश्चय अवश्य हो गया कि लेख बड़े काम का है।

उसकी एक प्रति मैंने अपने मित्र बाबू श्यामसुन्दरदास जी के द्वारा रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद जी ओझा के पास, उनकी सम्मति प्राप्त करने के निमित्त, भेजी और एक प्रति मिस्टर आर० बर्न साहब सी० एस० आई० को दिखलाई। इन दोनों महाशयों ने कहा कि लेख तो अवश्य महत्व का ज्ञात होता है; पर जब तक उसकी यथार्थ छाप न प्राप्त हो, तब तक उसके विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। अतः मैंने अब की यात्रा में उक्त लेख की एक यथार्थ छाप प्राप्त कर ली, और उस छाप का फोटो भी उतरवाया। पत्थर के स्थान स्थान पर घिस जाने एवं कहीं कहीं ऊँचे नीचे होने के कारण छाप जैसी स्पष्ट होनी चाहिए, वैसी तो नहीं आई,

तथापि ध्यान देने से पढ़े जाने के योग्य हो गई। उसके फोटो की भी यही दशा हुई। उसको मैंने अपनी समझ के अनुसार पढ़ा और फिर फोटो की एक प्रति पर काला तथा श्वेत रंग भरवाकर उसको स्पष्ट पढ़े जाने के योग्य बनवा लिया।

उसके पढ़ने पर ज्ञात हुआ कि उक्त शिलालेख वस्तुतः बड़े महत्व तथा काम का है। अतः प्राचीन इतिहासवेत्ताओं तथा अनुसंधान-कर्ताओं के देखने के निमित्त उसके दो ब्लाक इस पत्रिका में प्रकाशित किए जाते हैं, जिसमें इस शास्त्र के प्रेमियों को उस पर विचार करने तथा उससे उस समय के ऐतिहासिक विषय के अनुसंधान करने का अवसर प्राप्त हो सके।

ब्लाक नं० १ यथुवों छाप के ज्यों के त्यों फोटो से बनवाया गया है; और ब्लाक नं० २ रंग भराए हुए फोटो से।

इस शिलालेख का नागरी अक्षरांतर मेरी समझ के अनुसार यह होता है—

कोसलाधिपेन द्विरश्वमेधयाजिनः सेनापतेः पुष्यमित्रस्य षष्ठेन कौशिकीपुत्रेण ध
........................धर्मराज्ञा पितुः फल्गुदेवस्य केतनं कारितं।

इस पाठ का अर्थ यह होता है—

दो अश्वमेध यज्ञों के कर्ता सेनापति पुष्यमित्र के छठे (पुरुष अथवा भाई) कौशिकीपुत्र कोसलाधिप ध........................
........................धर्मराजने (अपने) पिता फल्गुदेव का केतन (स्मारकगृह) बनवाया।

इस शिलालेख के कुछ अक्षरों का पता नहीं है। पहली पंक्ति के अंत में जो एक अक्षर 'ध' है, उसके पश्चात् एक और अक्षर का कुछ चिह्न सा लक्षित होता है जो संभवतः 'म' हो सकता है। यदि

वह 'म' हो तो पहली पंक्ति के अंत में 'धर्म' शब्द की संभावना है; पर इस 'धर्म' शब्द की विभक्ति आदि का पता नहीं है। यह भी संभव है कि कुछ अक्षर भित्ति के नीचे दब गए हो। इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि पहली पंक्ति के ऊपर एक या दो पंक्तियाँ और भी हों, जो कि देहली के नीचे आ गई हों। इन बातों का अनुसंधान फिर अवसर प्राप्त होने पर किया जायगा। उसके निमित्त इस लेख का रोक रखना उचित न समझकर जो छाप इस समय प्राप्त हुई, उसी के ब्लाक प्रकाशित कर दिए गए हैं।

दूसरी पंक्ति के आरंभ के कुछ अक्षर ऐसे घिस गए हैं कि उनका चिह्न तक नहीं रह गया है। फिर चार अक्षर स्पष्ट नहीं हैं। पर मेरी समझ में उनको "धर्मराज्ञा" पढ़ना युक्तियुक्त है। पहला अक्षर तो 'ध' और दूसरा 'म' अवश्य ही है। 'म' की दाहिनी भुजा ऊपर जाकर कुछ मुड़ी हुई भी प्रतीत होती है। अतः प्रथम दो अक्षरों का 'धर्म' पढ़ना युक्त है। तीसरे अक्षर के 'र' होने में भी कोई बाधा नहीं है। उसके ऊपर जो मात्रा लगी है, वह अवश्य संदेहात्मक है। वह दाहिनी ओर चलकर बाईं ओर झुकती हुई ऊपर को गई है, जिससे उसका 'इकार' की मात्रा होना भासित होता है। परंतु यदि चौथा अक्षर 'ज्ञा' अथवा 'ज्ञः' है तो 'र' पर आकार ही की मात्रा का होना मानना पड़ता है; और ऊपर के घुमाव को पत्थर का गड्ढा मात्र। क्योंकि 'रिज्ञा' अथवा 'रिज्ञः' दोनों ही शब्द निरर्थक होते हैं; और 'राज्ञा' तथा 'राज्ञः' दोनों सार्थक। चौथे अक्षर के ऊपर का भाग पहली पंक्ति के तेरहवें अक्षर 'ज' से बहुत मिलता है। भेद इतना ही है कि इसके बीच की लकीर कुछ दाहिनी ओर बढ़कर ऊपर को तिरछी हो गई है, जिसके कारण उसको 'ज' में आकार की मात्रा लगी हुई माना गया है; क्योंकि प्राचीन लेखों में बहुधा 'ज' में आकार की मात्रा इस प्रकार से लगी हुई पाई जाती है। (देखो "प्राचीनलिपिमाला" लिपिपत्र २)

इन विचारों से दूसरी पंक्ति के प्रथम चार अक्षरों को 'धर्मराज्ञा' पढ़ना उचित ज्ञात होता है।

दूसरी पंक्ति में 'फल्गु' शब्द भी कुछ संदिग्ध सा है। पर इस शब्द के प्रथमाक्षर की दाहिनी भुजा ऊपर के सिरे पर कुछ बाईं ओर घूमी हुई है, जिससे उसका 'फ' होना प्रतीत होता है। इस अक्षर के नीचे एक अक्स धब्बा सा दिखाई देता है। उसको पत्थर का चिह्न मात्र समझना चाहिए। क्योंकि यदि उस स्थान पर एक छोटी लकीर का होना संभावित माना जाय, तो 'फ' में उकार की मात्रा का होना मानना पड़ता है। पर 'फु' को उसके पश्चात् के अक्षर 'ल्गु' में मिलाने से कोई सार्थक शब्द नहीं बनता। 'फल्गु' शब्द के द्वितीयाक्षर का ऊर्ध्व भाग तो पहली पंक्ति के तीसरे अक्षर 'ल' से सर्वथा मिलता ही है; और उसके नीचे जो अक्षर लगा है, उसके रूप का 'ग' "प्राचीन लिपिमाला" के तीसरे लिपिपत्र में दिखाई देता है, और उसकी दाहिनी टाँग जो दाहिनी ओर आड़े बल में बढ़ी है, वह 'उकार' की मात्रा है। अतः इस शब्द का 'फल्गु' पढ़ना अनुचित नहीं जान पड़ता। गंगादत्त, जमुनाप्रसाद, गोमतीदत्त इत्यादि की भाँति 'फल्गुदेव' नाम का होना भी संभव है, विशेषतः ऐसी दशा में जब कि पुष्यमित्र का वंश मगध प्रांत ही का था।

जो अनुवाद इस शिलालेख का ऊपर लिखा गया है, उसमें 'पत्नेन' के पश्चात् 'पुरुषेन' अथवा 'भ्रात्रा' का अध्याहार किया गया है। यदि 'पुरुषेन' का अध्याहार ठीक माना जाय, तो 'फल्गुदेव' पुष्यमित्र के पौत्र का पौत्र होता है, और 'फल्गुदेव' का पुत्र इस शिलालेख में निर्दिष्ट गृह का बनवानेवाला एवं उस समय का 'कौसलाधिप' ठहरता है। पर यदि 'भ्रात्रा' पद का अध्याहार ठीक समझा जाय, तो उक्त 'केतन' का बनवानेवाला तथा उस समय का 'कोसलाधिप' पुष्पमित्र का छठा भाई, जिसकी माता का नाम 'कौशिकी' था, ठहरता है, और

पुष्यमित्र के पिता का नाम 'फल्गुदेव' सिद्ध होता है। इन दोनों अवस्थाओं में 'धर्मराज्ञा' पद उक्त केतन बनवानेवाले का या तो विशेषण माना जा सकता है या नाम।

पर यदि 'षष्ठेन' पद के पश्चात् किसी पद का अध्याहार न माना जाय, तो शिलालेख के वाक्य का यह अर्थ होगा—

"दो अश्वमेध यज्ञों के कर्त्ता सेनापति पुष्यमित्र के छठे कौशिकी-पुत्र (कौशिकी रानी के गर्भ से उत्पन्न छठा पुत्र; अथवा छठा पुत्र जो कौशिकी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था) कोसलाधिप ध...... धर्मराज ने पिता फल्गुदेव का केतन (स्मारकगृह) बनवाया।"

पर इस अर्थ में एक बड़ी असमंजस पड़ती है। वह यह कि उक्त गृह के बनवानेवाले के पिता का नाम "फल्गुदेव" ठहरता है। पर यह हो नहीं सकता; क्योंकि वह इस अर्थ के अनुसार पुष्यमित्र का छठा कौशिकी-पुत्र है। इस अर्थ मे सामंजस्य लाने के निमित्त दूसरी पंक्ति मे जो 'पितुः' पद है, उसके पश्चात् तथा 'फल्गुदेवस्य' पद के पूर्व किसी शब्द का 'फल्गुदेवस्य' पद के विशेषण रूप से अध्याहार करना पड़ेगा। यदि वह अध्याहृत पद 'पूज्यस्य' माना जाय, तो दूसरी पंक्ति का पाठ अर्थ के निमित्त इस प्रकार माना जायगा—

'धर्मराज्ञा पितुः (पूज्यस्य) फल्गुदेवस्य केतन कारितं'।

इस दशा मे द्वितीय पंक्ति का अर्थ यह होगा—

"धर्मराज ने (अपने) पिता (अर्थात् पुष्यमित्रों) के पूज्य फल्गुदेव का मंदिर बनवाया।"

इस अर्थ मे 'फल्गुदेव' नामक किसी देवता अथवा महात्मा को पुष्यमित्र का पूज्य देव मानना पडता है।

इस अर्थ में भी 'धर्मराज्ञा' पद 'केतन' बनवानेवाले का नाम अथवा विशेषण दोनो ही हो सकता है।

खेद का विषय है कि इस शिलालेख के कुछ अक्षर ऐसे लुप्त

हो गए हैं कि निश्चयपूर्वक इसका अर्थ निर्धारित नहीं किया जा सकता। पर जिस दशा में वह इस समय मुझे मिला है, उसकी छाप विद्वानों के देखने के निमित्त प्रकाशित कर दी गई है और उसका नागरी अक्षरांतर, तथा अर्थ भी अपनी समझ के अनुसार लिख दिया गया है। आशा है कि इस विषय के विद्वान् लोग इस पर विशेष विचार करके अपना अपना मत प्रकाशित करेंगे; और मैं भी फिर इस पर विचार करूँगा।

जिस मंदिर में यह शिलालेख है, उसका नाम, पता तथा विशेष विवरण, एवं इस विषय पर पौराणिक तथा ऐतिहासिक टिप्पणियाँ मैं फिर किसी अवसर पर अपने स्वतंत्र विचारों के साथ प्रकाशित करूँगा क्योंकि इस समय मैं हरिद्वार में हूँ, जहाँ मुझे उपयुक्त सामग्री, पुस्तकें इत्यादि प्राप्त नहीं हो सकतीं।*

---

* इस शिलालेख के संबंध में हम अपने विचार पत्रिका की आगामी संख्या में प्रकाशित करेंगे—सम्पादक।

(६) भगवंतराय खीची

[लेखक—बा० ब्रजरत्नदास, काशी]

प्रत्येक जाति का यह सर्वदा ध्येय रहा है कि वह अपने को सजीव बनाए रखने तथा उन्नति पथ पर दृढ़ता से सर्वदा अग्रसर होने का प्रयत्न करती रहे। इसका एक प्रधान साधन उसके पूर्व-गौरव की स्मृति है जो सदा संजीवनी शक्ति का संचार करते हुए उसको अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिये उत्साहित करती रहती है। इस स्मृति की रक्षा उस जाति के साहित्य-भंडार में उसे सुरक्षित रखने ही से हो सकती है और इसको सुरक्षित न रखना अपने ध्येय को नष्ट करना है। हम भारतवासियों के लिये यह पूर्व-गौरव की स्मृति अत्यधिक आवश्यक है; क्योंकि उसके न रहने पर संसार की जाति-प्रदर्शिनी में हमें स्यात् कोई स्थान मिलना असंभव हो जायगा। प्रकृति ने हमारे भारत पर ऐसी कृपादृष्टि बना रखी है कि यहाँ सभी प्रकार के जल-वायु, नदी, निर्भर, अन्न, फल, फूल, पशु आदि वर्तमान हैं और यहाँ के रहनेवालों को जीवन की किसी आवश्यक वस्तु के लिये दूसरों का मुख देखना नहीं पड़ता। इसी कृपादृष्टि के कारण प्रकृति ने इसे सुरक्षित बनाने को पर्वतमालाओं तथा सागर-तरंगों से घेर रखा है। पर अन्य देशवासियों ने, स्यात् इसी द्वेष के कारण, इन पर्वतमालाओं को भेदकर तथा समुद्र के वक्षस्थल को चीर कर इस भारत पर चढ़ाई कर इसे युद्ध-क्रीड़ा का क्षेत्र बना डाला है। ऐसी अवस्था में भारत के शृंखलाबद्ध इतिहास का मिलना कहाँ तक संभव है, सो नहीं कहा जा सकता। फिर भी जो सामग्री उपलब्ध है या प्रयत्न द्वारा उपलब्ध की जा सकती है, उसमें चार

बातें मुख्य हैं—प्राचीन पुस्तकें, विदेशियों के लिखे यात्रा-विवरण तथा इतिहास, प्राचीन शिलालेख तथा दानपत्र और सिक्के, मुद्रा तथा शिल्प।

प्रथम प्रकार की सामग्री में संस्कृत, प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओं तथा उन्हीं से व्युत्पन्न आधुनिक देशी भाषाओं की पुस्तकें हैं। पाश्चात्य तथा देशीय इतिहासवेत्ता विद्वानों ने प्राचीन भाषाओं के ग्रंथों का परिशीलन कर इतिहास पर जितना प्रकाश डाला है, उतना आधुनिक भाषाओं के ग्रंथों पर परिश्रम नहीं किया गया है। अर्वाचीन तथा आधुनिक इतिहास अधिकतर फारसी तथा उसी के आधार पर लिखे गए अँग्रेजी इतिहासों से तैयार किया गया है। देशी भाषाओं की पुस्तकों से भी, जो वास्तव में अधिक नहीं हैं, इस इतिहास के प्रस्तुत करने में सहायता मिल सकती है; पर उसका उपयोग नहीं किया गया।

हिंदी के साहित्य-भांडार की प्राचीन ऐतिहासिक पुस्तकों में पृथ्वीराज-रासा, खुम्माण रासा, राना रासा, रामपाल रासा, हम्मीर रासा, बीसलदेव रासा आदि ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। इन ग्रंथों के अनंतर अर्वाचीन समय में भी बहुत से ग्रंथ प्रस्तुत किए गए हैं, जिनमें कवियों ने अपने आश्रयदाता नरेशों के चरित्र वर्णन किए हैं। इन चरित्रों, रासों तथा विरुदावलियों में कोरे इतिवृत्त ही नहीं दिए गए हैं; बल्कि उन्हें कवियों ने अलंकारादि से खूब सजाकर पाठकों के सम्मुख रखा है। आश्रयदाताओं के दान आदि का वर्णन करते समय कल्पना की उड़ान अभूतपूर्व ही रहती है। युद्धादि के वर्णन में अक्षरों के भी विचित्र युद्ध दिखलाई पड़ते हैं; अर्थात् बहुत से वर्ण एक दूसरे में पिच्ची कर दिए जाते हैं। इन सब के होते हुए भी ऐतिहासिक विवरण शुद्ध रूप में ही पाया जाता है; अर्थात् पक्षपात करके ये कविगण सत्यभ्रष्ट होना उचित नहीं समझते। महाकवि केशवदास कृत 'वीरसिंह-चरित' तथा 'रत्न-बावनी' और

गोरेलाल कृत 'छत्रसाल' में बुंदेला नरेशों का इतिहास संक्षिप्त रूप में तथा चरितनायक का विशद रूप में वर्णित है। राजविलास में प्रसिद्ध महाराणा राजसिंह और सुजानचरित्र में भरतपुर-नरेश सूरजमल जाट का चरित्र दिया गया है। जंगनामा, हिम्मत बहादुर विरुदावली आदि में ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण दिया गया है।

इन ऐतिहासिक ग्रंथो के अतिरिक्त अन्य काव्य ग्रंथों में भी कवियों ने निज वंश तथा अपने आश्रयदाताओं के वंश का वर्णन देकर और निर्माण संवत् लिखकर इतिहास का बहुत उपकार किया है, पर इस सामग्री से अभी तक विशेष सहायता नहीं ली गई है। ओड़छा-नरेश उदोतसिंह के नाम फारसी, उर्दू तथा अंग्रेजी इतिहासों में उदयसिंह, अधोतसिंह तथा उदितसिंह लिखे गए हैं। पर उन्हीं के आश्रित कवियो के ग्रथों से निश्चित होता है कि वस्तुतः उनका नाम उदोतसिंह था। हंसराज बख्शी ने 'श्री जुगल-स्वरूप विरह पत्रिका' में लिखा है—

गहिरवार कासी-कलस हिरदैसाहि नरेस।
पारथ सम भारत करे गुन गन सकै न सेस॥
सूबा महमद साहि को बगस महमद खान।
कैद कस्यो छोड़्यो बहुरि जानत सकल जहान॥

पर मैंने जितने फारसी आदि भाषाओं के इतिहास देखे, उनमें किसी के लेखक को स्यात यह नहीं मालूम था; क्योंकि किसीने इसका उल्लेख नहीं किया। इस विषय पर फिर कभी विचार किया जायगा। इस प्रकार की अनेक घटनाओं का इन ग्रथों में उल्लेख मिलता है।

भारत सरकार की सहायता से काशी नागरीप्रचारिणी सभा हस्तलिखित प्राचीन पुस्तकों की खोज सन् १९०० ई० से बराबर करा रही है जिससे बहुत से अलभ्य ग्रथों तथा अज्ञात ग्रंथकारों का पता लगता जा रहा है। यदि इस प्रकार की खोज राजपूताने

में भी कराई जाय तो निश्चित है कि इतिहास की बहुत कुछ सामग्री वहाँ मिल सकेगी। इसी खोज में इस वर्ष एक छोटी पुस्तक 'रासा भगवंतसिंह' का पता लगा है जिसकी प्रतिलिपि भी ले ली गई है। इस अप्राप्य पुस्तक का ऐतिहासिक महत्त्व समझकर कुछ टीका टिप्पणी के साथ सभा की मुखपत्रिका में इसे प्रकाशित कर देना उचित हुआ।

इस छोटे से ग्रंथ में एक सौ चार छंद हैं। पर कवि ने इतने ही में सत्रह प्रकार के छंदों का प्रयोग कर उसकी रोचकता बढ़ा दी है। भगवंत सिंह का वंश-परिचय तथा चरित्र नहीं दिया गया है। केवल उनके अंतिम युद्ध का संक्षिप्त उल्लेख है। वीर रस का काव्य होने पर भी इसमें मिलित वर्णों का प्रयोग नहीं के समान है। भाषा ओजस्विनी है और बात चीत में फारसी वाक्यांशों का भी प्रयोग किया गया है। इस ग्रंथ में इस घटना की—अर्थात् भगवंतसिंह के मारे जाने की—तिथि इस प्रकार दी है—

> सँवत सत्रह सौ सतानबे कातिक मंगलवार।
> सित नौमी संग्राम भो विदित सकल संसार॥

अर्थात् कार्तिक शुक्ल ९ मंगलवार सं० १७९७ को यह घटना हुई। पर इस दोहे के पढ़ने में प्रथम पंक्ति की धारा ठीक नहीं होती, अर्थात् एक मात्रा बढ़ती है। साथ ही अन्य इतिहासों में इस घटना का समय सन् १७३६ दिया गया है जिसमें चार वर्ष की भिन्नता भी पड़ती थी। इन कारणों से दोहे की मिती की जाँच की गई। ऐफेमे-रिस नामक विशद पंचांग ग्रंथ से मिलान करने पर यह ज्ञात हुआ कि सं० १७९७ वि० में उस तिथि को मंगलवार न होकर शनिवार (१८ अक्तू० सन् १७४०) था, पर सं० १७९२ वि० में उस तिथि को मंगलवार पड़ता है। 'बानबे' पाठ करने से दोहे की धारा ठीक हो जाती है और उस तिथि को अँग्रेजी तारीख के १४ अक्तूबर सन्

१७३५ ई० होने से भिन्नता भी एक प्रकार से दूर हो जाती है। इस लिये पुस्तक में 'बानवे' ही पाठ रखा गया है।

भगवंतराय खीची के विषय में अन्य इतिहासों से जो कुछ ज्ञात हुआ है, उसका संक्षेपतः उल्लेख कर दिया जाता है। सन् १९०९–१९१० की खोज की रिपोर्ट में गोपाल कवि कृत 'भगवंतराय की विरुदावली' नामक एक पुस्तक का उल्लेख है। इसमें भी उसी अंतिम युद्ध का वर्णन है और यह पुस्तक भी आकार में लगभग इसी रासा के बराबर है।

सन् १५४३ ई० में देवराजसिंह नामक एक चौहान क्षत्रिय मध्य भारत के खीचीदरा, प्रसिद्ध नाम राघवगढ़, से अंतर्वेदी में आकर बस गए और यमुना तटस्थ ऐफी राज्य के गौतम वंशीय राजा की पुत्री से उनका विवाह हो गया। इसके अनंतर यह उस राज्य के स्वामी हो गए। इनके वंश में परशुरामसिंह हुए जिनके पुत्र का नाम अराजूसिंह था। अन्य पुस्तकों में अजाजू, अजारू तथा उदारू नाम भी मिलता है। यह पैतृक संपत्ति में भाग न पाने के कारण दरिद्रावस्था में थे कि भाग्य से इन्हें खेत जोतते समय कुछ गड़ा धन प्राप्त हो गया जिससे इन्होंने असोथर[1], ऐफी[2], मुत्तौर[3] तथा आयासाह[4] के परगने खरीद लिए।

कहा जाता है कि इन्होंने कानपुर तथा फतेहपुर में सोलह परगने और क्रय किए थे। इस वंश के राजा असोथर के राजा ही कहलाते हैं। इस स्थान का प्राचीन नाम अश्वत्थामापुर कहा जाता है। इसके

---

(१) २५° ४५' उ० ८०° ५३° पू०। फतहपुर से सात कोस दक्षिण–पूर्व नहर पर है। (२) असोथर से ठीक ढाई कोस पश्चिम है। (३) २५° ४७' उ० और ८०° ३८' पू०। फतेहपुर से सात कोस दक्षिण–पश्चिम है। (४) ये चारों स्थान गाजीपुर तहसील में है और अयासाह इस तहसील के उत्तर का अंश है। यह फतेहपुर, गाजीपुर, मुत्तौर और टप्पाजार परगनों से घिरा हुआ है।

पास ही अरारुसिंह ने सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में एक दुर्ग बनवाया था जिसका भारी ढूह अब तक वर्तमान है। इस पर एक स्थान है जिसे लोग द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा का बतलाते हैं जो महादेव जी का प्राचीन मंदिर ज्ञात होता है। अरारुसिंह ने सन् १५९१ ई० के लगभग गाजीपुर से एक मील उत्तर पैंता ग्राम में एक दुर्ग बनवाया था जो पहले चंदेलों के अधिकार में था, पर उस समय खँडहर हो रहा था। यह अब फतेहगढ़ कहलाता है। इन्हीं अरारुसिंह के पुत्र भगवंतराय खीची थे।

भगवंतसिंह योग्य, वीर तथा साहसी थे और दैवयोग से इन्हें वह समय भी मिल गया था जब औरंगजेब की मृत्यु के अनंतर मुग़ल साम्राज्य में चारों ओर अशांति फैल गई थी और साम्राज्य छिन्न भिन्न हो रहा था। भगवंतसिंह ने इसी समय स्वतंत्रता का झंडा खड़ा किया था और इन्होंने आजीवन उसे बादशाही सेनाओं से लड़ भिड़कर सुरक्षित रखा। मुहम्मद शाह बादशाह के समय कोड़ा परगने का फ़ौजदार जाननिसार खाँ था जो प्रधान मंत्री क़मरुद्दीन खाँ का बहनोई* था। भगवंतसिंह से और इससे बराबर लड़ाई हुआ करती थी। इसी समय इलाहाबाद सूबे के अध्यक्ष सरबुलंद खाँ कोड़ा में आए जिनसे जान-निसार खाँ ने भगवंतराय को नष्ट करने के लिये सहायता माँगी। सरबुलंद खाँ ने यह बहाना निकाला कि भगवंतराय को दमन करने में बहुत समय व्यतीत होगा और उसके पास सेना में वेतन बाँटने के लिये धन नहीं है। हाँ यदि जान-निसार खाँ उसकी धन से सहायता करे तो वह युद्ध के लिये तैयार है। पर जान-निसार खाँ के इससे सम्मत न होने पर सरबुलंद खाँ इलाहाबाद लौट गया। भगवंतसिंह को इन बातों का पता था और वह अवसर देख रहा था। कुछ समय व्यतीत कर इसने एकाएक जाननिसार खाँ पर धावा कर दिया और

---

* फ़तेहपुर के डिस्ट्रिक्ट गजे० पृ० १५६ में इसे कमरुद्दीन का भाई लिखा है।

उसे युद्ध में मारकर उसका कैंप लूट लिया। उसके घर की स्त्रियों को लूटकर अपने साथवालों में वितरण कर दिया। मुंशी सदासुखलाल कृत मुंतख़ाबुत्तवारीख़ में लिखा है कि उसके पुत्र रूपराय ने जान-निसार खाँ की पुत्री अपने लिये ली; पर उसने विष खाकर आत्महत्या कर ली।

इस घटना का समाचार जब क़मरुद्दीन खाँ को मिला, तब उसने बहुत ही क्रुद्ध होकर बड़ी सेना के साथ भगवंतसिंह पर चढ़ाई की*। इसने ग़ाज़ीपुर के दुर्ग में अपनी रक्षा ऐसे दृढ़ता तथा साहस के साथ की कि कमरुद्दीन खाँ को अंत में निष्फल प्रयत्न होकर लौट जाना पड़ा। जाते समय भगवंतसिंह को दंड देने का भार फर्रुख़ाबाद के नवाब मुहम्मद खाँ बंगश को सौंप गए थे। पर इन्होंने कुछ धन लेकर इस कार्य की पूर्ति कर दी और अपनी राजधानी फर्रुख़ाबाद को लौट गए। भगवंतसिंह ने इसके अनंतर कोड़ा पर अधिकार कर लिया और बादशाही राज्य के आस पास लूट मार करने लगे।

जब मुहम्मद शाह बादशाह ने अवध के नवाब बुर्हानुल्मुल्क को इस परगने का अधिकार दे दिया, तब यह ससैन्य यहाँ शांति-स्थापन के लिए आए। भगवंतसिंह यह समाचार सुनकर तीन सहस्र सवारों के साथ ग़ाज़ीपुर के दुर्ग से बाहर निकले और नवाब की सेना के सामने जा डटे। नवाब के तोपख़ाने से कुछ क्षति उठाकर यह उसके रुख को बचाते हुए अबूतुराब खाँ के अधीनस्थ हरावल पर जा टूटे। उस अफ़-सर को मारकर तथा हरावल को छिन्न भिन्न कर भगवंतसिंह नवाब की शरीर-रक्षक सेना पर जा पड़े। मीर खुदायार खाँ छः सहस्र सवारों

---

* सैरुल मुताख्खिरीन में लिखा है कि इसने नजाबुल्लाह खाँ को दंड देने के लिये भेजा। यह समाचार सुनकर भगवंतराय जंगलों में भाग गए। इसके अनन्तर नजाबुल्लाह ख हिम्मत बेग आदि को यह कार्य सौंप दिल्ली लौट गए। भगवंतराय ने भी लौटकर इन सरदारों को मार डाला और उनके चकले पर अधिकार कर लिया।

के साथ रास्ता रोकने को आगे बढ़ा, पर घोर युद्ध के अनंतर इसे परास्त होना पड़ा। अब नवाब स्वयं आगे बढ़े और गहरा युद्ध होने लगा। शेख अब्दुल्ला गाजीपुरी, शेख रुहुलअमीन बिलग्रामी, दुर्जनसिंह चौधरी, दिलावर खाँ, अजमत खाँ और अन्य पठानों ने भगवंतसिंह को घेर लिया जो अंत में शत्रुओं से लड़ते भिड़ते दुर्जनसिंह के हाथ मारे गए। दुर्जनों से किसी प्रकार की दूसरी आशा करना व्यर्थ है। भगवंतसिंह का सिर दिल्ली भेजा गया।*

तारीखे-हिंदी में लिखा है कि बुर्हानुलमुल्क के आने का समाचार सुनकर भगवंतसिंह पचीस सहस्र सवार तथा पैदल सेना लेकर आगे बढ़ा। बुर्हानुल् मुल्क दो सहस्र सवारों के साथ गंगा जी उतर चुके थे और बाकी सेना उस पार ही थी कि भगवंतसिंह ने धावा कर दिया और युद्ध होने लगा। भगवंतसिंह ने एक तीर मारा जो बुर्हानुल्मुल्क के हाथ में लगा; पर नवाब ने उस तीर को निकालकर फेंक दिया और एक तीर ऐसा मारा कि इनके सिर में लगकर प्राणघातक हो गया। इसकी बहुत सेना मारी गई और बाकी भाग गई। भगवंतसिंह तथा इनके पुत्र का सिर भालों पर लगाकर राजधानी (दिल्ली) भेज दिया गया। †

इस युद्ध का वर्णन दो इतिहासों से—एक हिंदू तथा दूसरा मुसलमान-कृत उद्धृत किया गया है और दोनों की विभिन्नता स्पष्ट है। भगवंतसिंह के पुत्र रूपसिंह सन् १७८० ई० तक जीवित रहे और उनकी मृत्यु पर धरिआरसिंह उनके उत्तराधिकारी हुए। नवाब आसफुद्दौला के समय इनका राज्य छिन गया और यह अवध राज्य की ओर से कुछ पेंशन मिलने पर बाँदा में जा बसे। इनके उत्तराधिकारी इनके

* हरनामसिंह कृत सआदत जवेद इलि० डाउ० जि० ८ पृ० ३४१-२। इतिहासों में लिखा है कि भगवंतसिंह के शरीर में भूसा भरकर कमरुद्दीन के पास भेजा गया था।

† गुलाम अली कृत तारीखे हिंदी, इलि० डाउ० जि० ८ पृ० ५२।

दत्तक पुत्र दुनियापतिसिंह हुए जिनकी पेंशन नवाब वाक़रअली ख़ाँ ने बंद कर दी। दुनियापतिसिंह ने एकडाला तथा ग़ाज़ीपुर में लूट मार आरंभ की, तब यह पेंशन पुनः मिलने लगी। सन् १८०१ ई० के नवम्बर को सआदत अली ख़ाँ ने कोड़ परगना और उसके पूर्व के दोआबे, रुहेलखंड, गोरखपुर आदि स्थान ब्रिटिश सरकार को दे दिए, तब इनकी पेंशन पुनः बंद कर दी गई। इस पर दुनियापतिसिंह ने पुनः अपनी पुरानी प्रथा का अनुसरण किया। इलाहाबाद के कलेक्टर अहमुदी ने गाज़ीपुर के पास उन पर धावा किया, पर युद्ध में घायल हो गए। सन् १८०४ ई० में कलेक्टर कथबर्ट के यहाँ जाकर अधीनता स्वीकार कर ली। सरकार ने इन्हें पेंशन की एक सनद दी जो ७३०६ रु० ११ आना की थी। दुनियापतिसिंह के भ्रातृपुत्र तथा दत्तकपुत्र रघुबरसिंह के निस्संतान मरने पर उनकी स्त्री ने लक्ष्मणसिंह को गोद लिया। इनकी सन् १८९१ ई० में मृत्यु हुई। इनके दो पुत्र राजा नृपतिसिंह और कुँअर चंद्रभूषण सिंह हैं।

रासा के रचयिता पं० सदानंद मिश्र के विषय में कुछ ज्ञात न हो सका और न उन्होंने अपनी रचना ही में अपने विषय में कुछ लिखा है। केवल इतना मालूम होता है कि वे अपने आश्रयदाता के समसामयिक थे और उन्होंने आँखों देखी घटनाओं का उल्लेख किया है।

[पाद-टिप्पणी में शब्दों के अर्थ छंद-संख्या के अनुसार दिए गए हैं। चिह्न अन्य टिप्पणियों से संबंध रखते हैं।]

रासा भगवंतसिंह का

[दोहा]

येक दिवस भगवंत जू अति आनँद सों लीन ।
कोड जहानाबाद * को हुकुम कूच को कीन ॥ १ ॥

[छंद पद्धरी]

सजे सुवीर बज्जे निसान । लज्जे सुरेस, भज्जे गुमान ।
फुट्टो सुमेरु, टुट्टे अगति । छुट्टो छितेक लिदेन साति ॥ २ ॥

[दोहा]

आइ जहानाबाद में करत मुलुक की गौर ।
सोधत खास अवास सभ लखि कैठौर अठौर ॥ ३ ॥
साह मुहम्मद † छत्रपति खान खुमान जहान ।
सूवा कीनो अवध को विदित सहादत खान ‡ ॥ ४ ॥
करे जे रक्षित बाहुबल दीन्हें नृपति निकारि ।
गनें जे धरमाग्य अति सकल विचारि विचारि ॥ ५ ॥
शाह मुहम्मद को हुकुम वेगहि रात इत आव ।
छोड़ि चले मनसूर × को नेकु बिलंब न लाव ॥ ६ ॥

---

(४) सूवा = सूबेदार, प्रान्ताध्यक्ष । (६) वग = आज्ञापत्र ।

* जिला फतेहपुर के अन्तर्गत कोड़ परगने में कोड़ और जहानाबाद नाम की दो बस्तियाँ हैं जिनके बीच से नहर और पक्की सड़क अलग करती है। ये दोनों बस्तियाँ बहुत पास पास हैं, इससे इन दोनों को मिलाकर कोड़ जहानाबाद के नाम से भी पुकारा जाता है। भौगोलिक स्थिति २६°७' उ० और ८०°२२' पू० है।

† साह मुहम्मद—दिल्ली के सम्राट मुहम्मद शाह बादशाह गाजी जिनका राजत्व-काल सं० १७७६ से १८०५ तक था।

‡ सहादत खान—अवध के प्रथम नवाब बुर्हानुलमुल्क सआदत खाँ का नाम इस रासा में सहादत खान, सादति खाँ आदि दिया गया है।

× मनसूर—अवध के द्वितीय नवाब तथा सआदत खाँ के दामाद अबुलमनसूर खाँ सफदर जंग।

पढ़्यो पत्र बाहर कढ्यो है बारन असवार ।
सहित कटक चौहान * को आवत लगी न वार ॥७॥
निसा रह्यौ तेहि ठौर ही प्रात चल्यौ तेहि आद ।
सहित चमू पहुँच्यौ तबै नगर रसूलाबाद † ॥८॥
नूर मुहम्मद को कह्यौ तुम न करो कछु ढील ।
कड़ा इजारे लीन्ह हम जाइ करो तहसील ॥ ९ ॥
कै सलाम तिन कूच किय सुरसरि उतरि तुरंत ।
नाम सुनत आयो तुरक लूट लियो भगवंत ॥ १० ॥
दूत सहादत खान सों बोल्यो बचन प्रमान ।
लूटि लियो भगवंत ने नूर मुहम्मद खान ॥ ११ ॥

[मत्तगयंद छंद]

लूटन नायब को सुनिकै मलिकै कर दाँतन जीभ गह्यौ है ।
सीस डुलाइ डुलाइ तऊ फिरि बोलत नाजिम मूक रह्यौ है ॥
क्रोरि बिचारि बिचारि करै पुनि रोस के ज्वालन अंग दह्यौ है ।
खात न पान न पानि पियै तजि आनन पानन नींद लह्यौ है ॥ १२ ॥

[छंद त्रोटक]

उठि प्रात चमू चतुरंग चली ।
सब लोक ससंकित भूमि हिली ॥
ताको दल व्योम न नेकु थिरै ।
अहिराज न कैसेहु धीर धरै ॥ १३ ॥

---

(७) बारन = हाथी । (९) इजारे = अधिकार । (१२) नाजिम = प्रबंधकर्ता, प्रांताध्यक्ष । क्रोरि = करोड़ी, वह अफसर जिसके अधीन एक करोड़ दाम या इससे अधिक आय की जमीन उगाहने के लिये हो । चालीस दाम का एक रुपया होता है ।

* चौहान—भगवंत राय खीची से तात्पर्य है, जो चौहान थे ।

† रसूलाबाद—कानपुर जिले के अंतर्गत उस नाम के नगर के बीस कोस उत्तर-पश्चिम है । यहाँ तहसील है । मराठा राज्य (सन् १७५६-६२ ई०) के समय का बना हुआ एक दुर्ग भी यहाँ है ।

अति रोर निसाल सुमेरु हलै।
थल को तजि दिग्गज भागि चलै॥
धर रेनु उडी नभ जाइ छई।
नभ सूर छिप्यो जनु रैनि भई॥ १४॥
तन ही सर छाँडि मराल गये।
चकई चकवा बहु सोच लये॥
अति हर्ष उलूकन नैन खुले।
सकुचे जलजात कुमुद फुले॥ १५॥
दल में करि घोर चिकार करें।
अति मद चलें बहु नीर झरें॥
रथ खच्चर बेसर ऊँट घने।
दल अगिनित हैं तेहि कौन गने॥ १६॥

[दोहा]

यहि विधि जाइ नवाब जू सदानन्द कवि धीर।
सहित चमू यलगार हों पहुँचे सुरसरि तीर॥ १७॥
आइ चौधरी कोड को मिल्यो वेगि यहि वार।
दुर्जन* नाम प्रसिद्ध वहि विदित सकल ससार॥ १८॥

[छंद भुजंगप्रयात]

कही दूत न दुर्जन सिंह आयो।
तनै हर्ष हुव पास ताको बुलायो॥
मिल्यो आइकै से तनै भेंट दीन्ही।
तहाँ पानि छुइकै तिसै माफ कीन्ही॥ १९॥

---

(१७) यलगार = धावा (करते हुए)। (१९) पनि = हाथ से। इसके अनन्तर ...नों की बात चीत में फारसी भाषा का भी कुछ कुछ प्रयोग है।

* दुर्जनसिंह नागरी—जिसके हाथ भगवन्तराय खीं ना मारे गए।

बिगो इद्धुरावी कुजा दुष्ट सोहै।
मिदानं न ई अस्त कुह बीच सो है ॥
तु दानी सबै भेद क्यों मंत्र कीजै।
मिदानं बले बात ही दुष्ट छीजै ॥ २० ॥

दिगर अर्ज मेरी न काहू हरौंगो।
कि तो सीस देहौं कि जीता धरौंगो ॥
चिरा मीदह्द सीस ऐसा न कीजै।
सोई बात कीजे जथा दुष्ट छीजै ॥ २१ ॥

हमीं कर्द साहब अमा पान पावैं।
न हैहै चिरा रद अबी बाँधि लावैं॥
बिगोरो सिरोपाव औ पान लीजै।
करौंगो तुरा खूब यों बात कीजै ॥ २२ ॥

तहाँ देइ बीरा निसा ताहि कीन्ही।
भले राफखाने सरंजाम लीन्ही ॥ २३ ॥

[दोहा]

बाँधि लियो पुल ख्याल ही नेकु न लागी बार।
सहित फौज मन मौज सों उतरे सुरसरि पार ॥ २४ ॥

[कवित्त]

सुरसरि जू में बाँध बाँधि लीन्ही ख्याल ही तें,
ऐसी सुध उन्हें दीन्ही दूत बेगि जाइकै।

---

(२०) बिगो इद्धुरावो (?) कुजा = कहो वह दुष्ट विद्रोही कहां है। मिदानं न ई अस्त कुह बीच सो है = जानता हूं कि वह नहीं है, पहाड़ों में चला गया है। कुह एक स्थान का भी नाम है। दानी = जानना है। बले = हाँ, ठीक है। (२१) दीगर = दूसरी। चिरा म देहद = क्यों देते हो। (२२) हमीं कर्द साहब अमा—यही करेंगे साहब पर। पान = किसी बड़े कार्य के आरंभ मे पान या बीड़ा देने की प्रथा थी और है। चिरा रद = कार्य का बिगड़ना। बिगोरो सिरोपाव = खिलअत लो। तुरा खूब = तुझको प्रसन्न। (२३) निसा = खातिरजमा, संतुष्ट। राफखाने ?।

पार भई फौजैं अरु चल्यौ है प्रबल दल
सेस कलमल्यौ रज रही व्योम छाइकै ॥
धमक निमान तें गहर चढ़ि जात भई,
मन पछितान्यौ सुध गई है भुलाइकै ॥
सुनि भगवंत भगवंत को सुमिरि कहै
तुरुक की तुरुक मिटैगी इत आइकै ॥ २५ ॥

[दोहा]

इत नवाब जू कूच कै जाजमऊ * चलि जाय ।
नरवर † दूजे दिन रहे पहुँचे खजुहा ‡ आइ ॥ २६ ॥
तब डेरहु दाखिल भये कीन्ह विविध विधि खोज ।
खबर आइ इतहू दई तीनि कोस पर फौज ॥ २७ ॥

[छंद भुजंगप्रयात]

सुन्यो फौज को नाम यों रोस छायो ।
चल्यो पेसवा खानजादे बोलायो ॥
हमीं के जु बंदे कृपानेग है जू ।
छुटै तोपखाना परी रानि है जू ॥ २८ ॥
छुट्यौ तोपखाना भयो रोरु दूनौ ।
कहाँ लौं कहौं जो मनो भार भूनौ ॥

---

(२८) पेसवा = आगे चलनेवाले । बंद = दास, गुलाम ।

* जाजमऊ—कानपुर जिले में है । कनिंघम ने कन्नौज में 'अजुमी' की दूरी २२ फर्सख लिखा है । यह गंगा जी के तट पर है और यहाँ सिद्धेश्वर तथा सिद्धदेवी के मन्दिर हैं । इसका प्राचीन नाम सिद्धपुरी है और यह ययाति की राजधानी बतलाई जाती है । गंगा जी पर निकला हुआ ऊँचा टीला राजा चन्द्रब्रह्म चंदेला का दुर्ग कहा जाता है ।

† नरवल—कानपुर जिले के अन्तर्गत तहसील है ।

‡ खजुहा—२६°२' उ० ८०°३२' पू० । यह कोड़ से साढ़े पाँच कोस पूर्व तथा फतेहपुर से साढ़े दस कोस पश्चिम स्थित है । इसी स्थान पर औरंगजेब ने सन् १६५९ ई० में शाह शुजा को परास्त किया था ।

यही भाँति बीती निसा भो सवारा।
तबै कूच फौजानि बाजे नगारा॥ २९॥
चलै बीर बानैत जो धावलकैं।
गरे बीच में सेत त्रानै झलकैं॥
लये हाथ साँगी करी बेधि मालैं।
जिरह खूब सोहै गरे बीच ढालैं॥ ३०॥
चली सैन ऐसे सुरेसौ डेगनो।
उठी रेनु के बीच सूरो छिपानो॥
भजै दिग्गजैं चिक्करै चारु गारे।
भई रात मानौ बिना चंद तारे॥ ३२॥

[दोहा]

पहुँचे जाइ नवाब जू जहँ नृप की थी फौज।
देखत ही आगे चले परे ताहि के खोज॥ ३३॥

[मत्तगयंद छंद]

प्रात चले चतुरंग चमू धर रेनु उड़ी तम भानु छिपानो।
कंपत कच्छ सबै अवनी कहि 'नंद' कवी मन इंद्र डेरानो॥
हालत है नग पन्नग सत्रु क सीस फटो उर साह सकानो।
रोर परो सब अंतरवेदि* जु कीन्ह सहादति खान पयानो॥३४॥

[छप्पै छंद]

रिपु सुभट्ट भजि जात चलत चामुंड इंद्र गिरि।
बिटप टूटि रज मिलत कूर्म नहिं धरत नेकु थिरि॥
भार भूमि भरि रहत फनिक फुंकरत संक करि।
हहरि हलत ध्रुव लोक रेनु नभ रहत पंथ भरि॥

---

* अंतर्वेदी—गंगा जो तथा यमुना नदियों के बीच की भूमि जिसे दो आब भी कहते हैं।

जब चढ्यौ सआदति खान जग लोक लोक व्याकुल भयो।
कहि 'सदानंद' भगवंत जू हठि जुद्ध तासु संमुख ठयो ॥३५॥

[दोहा]

कीन्हो कूच नवाब जू आयो तेहि पुर धाम।
सुनत खबर चकृत भयो कीन्हो बचन प्रकास ॥ ३६ ॥

[छंद भुजंगप्रयात]

बड़े धीर मंत्री जू गोत्री बोलायो।
महाबीर धौंके तिन्हों सीस नायो॥
कहै राय जैसे कहा मंत्र कीजै।
रहै धर्म जामें वही सिग्र कीजै ॥ ३७ ॥
उठो जोगि मंत्री दुऔ पानि जोरी।
वहीं मंत्र सोई जथा बुद्धि मोरी॥
सोई ग्यान जानौ चंदेरी* जु कीन्ही।
मरे छंद जैसे नहीं फेरि दीन्ही ॥ ३८ ॥
फगी जो पट्टी† आमर्ती में लगाई।
लई भूमि जाकी नहीं फेरि पाई॥

---

* चंदेरी शाहगढ़ के पास चंदेरी एक स्थान है। यहाँ एक दुर्ग है जिस पर सन् १०२२ ई० में मुहम्मदतुगलुक ने चढ़ाई की थी। यहाँ के राजा हिंदूसिंह चंदेल ने दुर्ग की ऐसी दृढ़ता से रक्षा की कि अंत में कपट से उस दुर्ग पर अधिकार करने का निश्चय किया गया। मुहम्मदतुगलुक ने राजा गोपालसिंह भदौरिया को भेजा जिसने हिंदूसिंह को समझाया कि बादशाह से विग्रह करना उचित नहीं। इसलिये यदि वह तीन दिन के लिये दुर्ग छोड़ दे तो, उस समय के अनंतर संधि हो जाने पर वह दुर्ग उसे फिर लौटा दिया जायगा। गोपालसिंह के शपथ खाने पर विश्वास कर हिंदूसिंह ने वैसा ही किया, पर मुहम्मदतुगलुक के ■ अनुसार तीसरे दिन गोपालसिंह ने उस दुर्ग पर स्वयं अधिकार कर लिया। हिंदूसिंह ने निरुपाय हो छत्रसाल बुंदेला की शरण ली। इसके कुछ ही दिनों बाद गोपालसिंह की मृत्यु हो गई।

† प्रतापगढ़—जिले में पट्टी नामक एक स्थान है। इस युद्ध का कोई विवरण नहीं प्राप्त हुआ।

घड़ो सिंह गौरा* सोऊ बात जानो।
कहौं मंत्र सोई महाराज मानो ॥ ३९ ॥
निकासे किते भूप को को गनावै।
लई भूमि जाकी नहीं फेरि पावै॥
महाराज ऐसे तुम्हो जो सिधारो।
नहीं फेरि पावो जमीं देह धारो ॥ ४० ॥

[दोहा]

नायब लूट्यो नूर खाँ यही कृत्य यह कीन्ह।
साके कर जनु बादि को मनौ चुनौती दीन्ह ॥ ४१ ॥

[छंद कुंडलिया]

जानिसार खाँ † तुम्ह हयो सोइ सुमिरि कै रोस।
करौ मामिले कोटि विधि पुनि देइय तुव दोस ॥
पुनि देइय तुव दोस फैद यैके सिर पंडै।
करौ कोटि उपचार बहुरि कबहूँ नहिं छंडै ॥
छंडै बहुरि न तोहि जुद्ध सन्मुख अब ठानी।
और मंत्र नहिं भूलि बात निश्चै यह जानी ॥ ४२ ॥

[दोहा]

जब मंत्री ऐसे कह्यो लै कर मैं करवार।
रुंड मुंड कै देव महि करत न लावौं वार ॥ ४३ ॥

[छंद गीतिका]

करि रुंड मुंड वितुंड मुंडनि समर हनि मारे खलौ।
भट भूरि तूरि गरूरि डारि मरोरि हौ जौनी टलौ ॥

---

(४४) अराति = शत्रु।

* गौरा सिंह के विषय में कुछ पता नहीं चला।

† कोई जहानाबाद का फौजदार था। इसके विषय में भूमिका देखिए।

असि हत्थ गहि समरत्थ ज्यों किय पन्थ पौरुष ना घलौ।
भगवंत है विकराल सिंह अराति मृग सादूति-दलौ ॥४४॥

[दोहा]

मोहि कह्यो सो वीरवर तुरतहि वीर बुलाय।
कहा कहौं जानत यही परी लाज अब आइ ॥ ४५ ॥

[मत्त गयंद छंद]

वीर कहैं भगवंत सुनौ रनभूमि में पाउँ कवौं नहिं टारैं।
छोड़ि गयंद तुरंगन के पति मूलि कवौं पद ते नहिं मारैं॥
मुंड अनेक गिरैं धर में भरमैं नहिं पग्ग द्वऊ कर म्हार।
ज्वानन कै हुलसै थिरकै रन सादनि ग्यानको आनन फारैं ॥४६॥

[दोहा]

जोधन को संवाद सुनि सोचि डुलायो सीस।
करि विचारि आनंदजुत करन लग्यो बकसीस ॥ ४७ ॥

[लीलावती छंद]

तीछन निपटि कटक पर खंडनि पच्छिन के जनु रोम भरे जू।
चलत अवनि पग लगत नहिंन थिर लखि गति मनहिं समीर डरे जू॥
कसे जीन जगमगित जवाहिर मनसिज ज्यों बहु रूप धरे जू।
'सदानंद' भगवंत सिंह नृप ते बाजी बकसीस करे जू ॥४८॥

[मत्तगयंद छंद]

मत्त चलैं अति मत्त मदा मद गंडन ते बहु भीर भरें जू।
कज्जल से गिरि गाजत भू पर ताडि लगे घन संक धरे जू॥
है जु सिंगार निजे द्रग को अरि के दल को जिम काल चिरे जू।
'नंद' सदा भगवंतसिंह नृप ते बारन बकसीस करे जू ॥४९॥

(४४) सादूल=दल, सेना। (४८) पर = पंख।

॥ दोहा ॥

अपर दान अगिनित दये जथा जउन बेउहार।
पुर अनंद प्रति मंदिरनि होत संख धुनि द्वार ॥ ५० ॥
पुर में पहुँची खबर जब दीन्ही दूत जवाब।
दक्षिण जोजन एक पर आयो प्रबल नवाब ॥ ५१ ॥
सुनत बचन भगवंत नृप तबहि रह्यो ह्वै मौन।
कै विचार आनंदमय गयो आपने भौन ॥ ५२ ॥
पानि जोरि रानी कहै सुनहु महामतिधीर।
नहिं विरोध इन्ह सं करौ ये हैं बड़े अमीर ॥ ५३ ॥
भूमि छाँड़ि कै पार चलि कछु दिन तहाँ गँवाय।
जब दिल्ली को जाइंगे बहुरि बसैंगे आय ॥ ५४ ॥

[मत्तगयंद छंद]

भूमि हमारि रवई यह है जिह में मखदान अनेक कियो है।
जाचक और अजाचक को मन हर्षि सदा गज बाजि दियो है ॥
केतिक सत्रु निपात किये तुम जानति हो हम जीति लियो है।
नाम प्रसिद्ध अहै जग में मम भूमि तजे फल कौन जियो है ॥५५॥

[दोहा]

ऐसो कहि बाहर कढ़्यो करि विचार मन कोरि।
जीति लेउँगो निमिष मे कहे बहोरि बहोरि ॥ ५६ ॥

[चंद्रकला छंद]

करि धीरज कों नृप बैठि रह्यो तब ही अस दूतन बात कही।
प्रभु दच्छिन आइ नवाब पर्‌यो कित है करिहै तुव खेत जही ॥
सुनि कोपि कै हत्य कृपान गह्यौ यह यूझत साइति है कबही।
यक विप्र कहे विवि दंडु बिताइकै आपु कहैं अबही अबही ॥५७॥

---

(५७) विवि = दो।

यह बात सुनी जब ही नृप की अति आतुर है सब बीर सजै ।
जिरहै अरु कौच दई सिर कूँडि लसै मन में इन धीर तजै ॥
कटि त्रोन कसे धनु बान लये अरि के कुल कान प्रतच्छ गजै ।
रन जुद्ध विरुद्ध महा विजई कढ़ि बाहर है, जिमि सिंह गजै ॥५८॥

[दोहा]

बूझ्यो नृपति 'नवाब जू करत कहा हैं काम ?'
'अब डेरन दाखिल भयो करन लग्यो आराम' ॥ ५९ ॥
तब मुसुकाइ महीप कहि सुनियें वचन प्रमान ।
तुरुक-हीन अवनी करौं कहा सहादति ख्यान ॥ ६० ॥
दूतन कह्यो नवाब ते समाचार सिर नाय ।
अति गरूर अरि की सुनी तुरत चढ्यो बिलखाय ॥ ६१ ॥

[छंद गीतिका]

बिलखाय माँगि गयंद को तब पग्ग लै तबही चढ़यो ।
अति बाजि दुंदुभि संक लंक नवाब जू तब ही कढ़्यो ॥
चढ़ि कै तुरंगन बीर धीर प्रचंड आतुर से चले ।
सनुत्रान गजत चारु ते तनु जातु स्याह्व बादले ॥६२॥
धनि फौज सादति ख्यान की गढ़ छोड़ि कै गरबी भगे ।
भजि जात दिग्गज डोल परवत सार सों अहि यों जगे ॥
तब जाइ कैं तहँ ही जुरे जहँ खेत बैरिन को रचे ।
उततैं चल्यो भगवंत जू रन आजु तो हम सों सचै ॥ ६३॥

[छंद त्रोटक]

सब बीर भयानक रूप ठयें ।
जिव मालन्ह चंदन गौरि दयें ॥
सिर डालन कूँड़ि विराजत है ।
जिन्ह को लखिकै घन लाजत है ॥ ६४ ॥

(५८) जिरह = कवच । कूँडि = लोहे का टोप ।

जिरहैं तनत्रान न बीर कटे।
जिन्ह देखत ही अनुराग बढ़े॥
सकती पुनि हाथ न दंड धरे।
जिन्ह के पहँ आवत काल डरे॥ ६५॥
करि जोरहि फौज दबाइ लई।
दल दुंद जुरे अति दुंद भई॥
हुलसे भट जुद्ध लसे पिरचै।
असि काढ़ि अराति करे किरचै॥ ६६॥

[दोहा]

तब सम्मुख ऐसे चल्यो जानो बड़ो गरीब।
पग पग नापत अवनि को मानो करत जरीब *॥ ६७॥

[त्रिभंगी छंद]

छूटी हथनालैं औ सुतनालैं चली जँजालैं दाबि लिया।
पुनि दुंदुभि बाजे सुनि घन लाजे बहु भट साजे रोस पिया॥
रहह्रू बहु छुट्टै बहु सिर टुट्टै जोधन कुट्टै मारि दिया।
भे मोगल दिवाने गिल बिललाने आजु खुदा ने कहर किया॥६८॥
फौजैं जब दंपी घन सम लंपी भूली संपी डरथौ हिया।
धीरज मन त्यागे चले न भागे प्रभु सों माँगा चहे जिया॥
यहि बिधि भट जेते संकित तेते धीरज चेते कहे बिया।
भे मोगल दिवाने गिल बिललाने आजु खुदा ने कहर किया॥६९॥

[दोहा]

तब भूपति बीरन सहित सारद को सिर नाइ।
दौरि परे दल बीच मों कूदे संख बजाइ॥ ७०॥

---

(६८) हथनाल = हाथी पर रखी हुई बड़ी तोप। सुतनाल = ऊँटों पर चढ़ाई हुई छोटी तोप। जँजाल = छोटी लंबी तोप। कहर = प्रलय, क्रोध।

* जरीब—भूमिकर निश्चित करने को भूमि नापने का वह गज जो लोहे की कड़ियों का बना रहता है।

[छंद भुजंगप्रयात]

परे दौरि कै ते तबै पग्ग मारैं।
फटै ज्यौं घटा वीर चौंधा निहारैं॥
परी मार ऐसी खरी बाढ़धारी।
करै टूकड़े द्वै महासानवारी ॥ ७१ ॥
किती नागिनी सी चली है सिरोही।
भगे देखि कै वीर लागे डरोही ॥
प्रलै काल सो भाजहीं बान छूटे।
चली रामचंगी किते सीस टूटे ॥ ७२ ॥
छुट्यौ तोपखाना कहाँ कौन चालै।
भयौ रोर उत्पात सों भूमि हालै ॥
चलै जो जुनब्बी चमकै छटा ज्यौं।
कटै वारने-जुत्थ फाटै घटा ज्यौं ॥ ७३ ॥

[ससिवदना छंद]

बहुरि न बोलै। तहँ धर डोलै ॥
अति भट भारे। अवनि पछारे ॥७४॥
उदर बिदारै। भुजा उचारै ॥
अरु सिर फट्टे। महि अति पट्टे ॥७५॥
पुनि भट कुद्धे। निपटि विरुद्धे ॥
अति रन-माते। कहि जै बातें ॥७६॥

[संखनारी छंद]

लखे जुद्ध जाके। महावीर बाँके ॥
करै साँग गाहैं। निते खेत चाहैं ॥७७॥

---

(७२) सिरोही = सिरोही राज्य का बना हुई तलवार।
(७३) जुनब्बी = हिलनेवाला गोला।

करैं जुद्ध लागे । चले मत्त आगे ॥
कृपाने बजावैं । बड़ो सुख्ख पावैं ॥ ७८ ॥

[रूपघना छंद]

नृप भगवंत जब लीन्ही है कृपान कर,
निपट अडोल, बीर तेऊ उठैं होलि होलि ।
कीन्हो है धरा में अति भारत धवल महा,
ढाहे बाट बारी सिर जथा धरै तौलि तौलि ॥
मारे भट मारे धाय घूमै मतवारे चले,
स्रोनित पनारे ज्यों अटा के दये खोलि खोलि ।
जोगिनी सुचित्त भरि खप्पर बचत नहिं,
गानन रचत बहु मुंड चढत बोलि बोलि ॥ ७९ ॥

[सर्वकल्यान दंडक]

चमकै छटा सी ज्यौं घटा सो दल फारि देत,
केतिक पटा कै भट जुत्थन सुभाइकै ।
भूप भगवंत की कृपान ज्यौं करत खेदु,
खंडै खल सीस भुज समर चुनाइकै ॥
जोति सी जगी है अनुराग सों रँगी है,
वज्र ज्वाल सौं पगी है गति अद्भुत पाइकै ।
आरत कौं छांड़ते विचारि तन मानो मूढ़,
मोगल सँघारत तुराब खान खाइकै ॥ ८० ॥

[दोहा]

सुनिये मोगल तुराब ज्यौं था नवाब के संग ।
सो चरित्र जैसो भयो तैसो कहौं प्रसंग ॥ ८१ ॥
भूप चल्यो जब समर को पूछयो दूत बुलाइ ।
केहि सरूप सादति अहै मोहिं कहो समुझाइ ॥ ८२ ॥

पानि जोरि के दूत यह सुनो बचन नृप गूढ़ ।
अति उदंड भुज दंड है बरस साठि कौ वूढ़ ॥ ८३ ॥
यहै बात नृप चित चढ़ी कीन्हो समर पयान ।
यह चरित्र जैसो भयो तैसो कहौं प्रमान ॥ ८४ ॥
सादति खाँ कुंभी चढ्यौ मुंडा हौदा सोइ ।
दूजे यारन एलची पीछे कुंजर दोइ ॥ ८५ ॥
करी चारि की गोल तहँ आगे वान निसान ।
पुनि पचास पदतीत द्वौ नेजा बीस प्रमान ॥ ८६ ॥
और चमू पीछे कछू तौन न होत लखाइ ।
उत्तर दिसा तुराब जिमि तैसो कहौं बुमाइ ॥ ८७ ॥
अंबारी गज पै कसी तापर चढ्यौ तुराव ।
अंतर बीसहि दंड को ठाढ़ो जितै नवाव ॥ ८८ ॥
साथ चमू चतुरंग चय जानहु सादति सोइ ।
एक रूप * दोऊ हुते जानै विरला कोइ ॥ ८९ ॥

[त्रोटक छंद]

नृप जानि सहादति मोह चढ्यौ ।
कख जानि करी पर बाजि चढ्यौ ॥
मुगलै भ्रम-भीत न साँस लई ।
नृप साँगि हनी वहि पार गई ॥ ९० ॥

---

(८५) कुंभी = हाथी । एलची = राजदूत ।

* जिस समय बुर्हानुलमुल्क पड़ाव पर आए, उस समय वे हरे रंग की पोशाक पहने हुए थे । जासूसों ने भगवंतसिंह से उनके हरे वस्त्र तथा सफेद दाढ़ी की पहिचान बतलाई । उन्होंने तुरंत धावा किया । बुर्हानुलमुल्क भी युद्धार्थ बाहर निकले, पर इस समय वे सफेद कपड़ा पहने हुए थे । अबूतुराब खाँ तूरानी, जो उनका एक मान्य सरदार था, उस समय दुर्भाग्य से हरी पोशाक पहने हुए था और उसकी दाढ़ी भी सफेद था । भगवंतसिंह उसीको नवाब समझकर उसके हाथी पर टूटे और घोड़ा कुदाकर बर्छी इस जोर से मारी कि वह पीठ की ओर बाहर निकल गई । (सियरुल् मुताखिरीन उर्दू जि० ३ पृ० ३१)

दिय पग्ग बहोरि महीं सिर है।
कटि जात भई सिगरी जिरहै॥
हुलसे अँग अग अनंद भई।
तनत्रान तनी सब टूटि गई॥ ९१॥
विहँस्यो नृप मोद बढ्यौ मन में।
जनु राजत चारु ससी घन में॥
तब सादति मूक भयो न बुचे।
भ्रम बात लगे जनु पान डुले॥ ९२॥

[दोहा]

फित नवाब जूम्भन लग्यो बीर समर रन मंत।
बोल्यौ अबहि तुराबरों कह्यौ बार भगवंत॥ ९३॥

[छंद त्रोटक]

छनपान महा कवि कौन कहै।
नहि धीरज हू कर धीर रहै॥
चमु भागि समूह चली सिगरी।
धुनि सीस नवाब कहै बिगरी॥ ९४॥
उत खानमहम्मद कोप करै।
दलसिंह मले एहि ओर भिरै॥
उत दीनमहम्मद पग्ग धरै।
इत नौल नितै महि रुंड भरै॥ ९५॥
उत खान अली सँग बीर भले।
इन कोपि भवानि प्रसाद दले॥
उत मीर मुहम्मद धीर रजौ।
इत मर्दनसिंह महा गरज्यौ॥ ९६॥
उत मेरअली चमु मंडत है।
जैसिंह इतै रन खंडत है॥

यहि भाँति जुझ्यौ दल धीर भिरे।
परि भारत ह्वै रनभूमि गिरे ॥ ९७ ॥

[सर्वक्स्याम छन्द]

मारे मीर महम्मद त्यौं हारे रिपु भारे भारे,
फाटे मुंड काटे जिन्हे छोनी छंद सत हैं।
कुन्धन पै टुट्थ धरि प्रबल समर्थन की,
कुंडन रुधिर लखि भूप हरसत हैं ॥
डोले निकराल काल जम्बुक कराल हाल,
भूत प्रेत ताल धर भैरो निरतत हैं।
ज्वालिन समेत भवबारी सो फिरनि रन,
जै जै नृप जू की कहि काली हरसति हैं ॥ ९८ ॥

[दोहा]

जुझ्यौ दुर्जनसिंह रन निरख प्रचारि प्रचारि।
महाबीर भगवंत के नेकु न मानत हारि ॥ ९९ ॥
तासु बंधु छा को बनै तेजसिंह तेहि नाम।
लै कृपान कर क्रुद्ध ह्वै कीन्ह विषम संग्राम ॥ १०० ॥
तज्यौ प्रान हठि समर सों रुंड मुंड करि खेत।
प्रलै काल सम जुद्ध लखि कायर होत अचेत ॥ १०१ ॥

[छप्पै छंद]

अति उद्दंड बरिबंड धीर जिय रनहि सराहैं।
जे समत्थ तेहि सत्थ हत्थ गहि जुरन्त दहैं ॥
जुद्ध क्रुद्ध अविरुद्ध सद्धरन सेउ दृढावे।
गज अमत्त अरु मत्त मारि दिसि चारि भगावै ॥
निकराल रूप भगवंत को लखि नबाब डर सों डर्‌यौ।
उतपात घात रद्द बान जनु कान बेगि धावत पर्‌यौ ॥ १०२ ॥

भयौ लोक अवलोकि सोक भय जहँ तह पछयौ ।
लखि चरित्र विधि-हरि-हर हिय अनुराग उपज्यौ ॥
प्रेरित गन चलि वेगि समर अवनी महँ आयौ ।
कहि प्रसंग कर जोरि अमियमय वचन सुनायो ॥
आसरि सुचारु चहुँ दिसि चमर चारु ढरत आनँद भयौ ।
राजाधिराज भगवंत जू चढ़ि बिमान सुरपुर गयौ ॥ १०३ ॥

[दोहा]

संवत सत्रह आनवे कातिक मंगलवार ।
सित नौमी सग्राम भो विदित सकल संसार ॥ १०४ ॥

इति श्री कवि सदानंद विरचितं भगवंतसिंह खीची और नवाब सहादति खान जुद्ध वरननो नाम सुभ सुभमस्तु सुभं भूयात् ॥ लि० मिति सावन वदी ८ अष्टमी सन् १२५७ बारह सय सतावन म। लिखा।

(७) पृथ्वीराज-विजय

[लेखक—पंडित शिवदत्त शर्म्मा, अजमेर ।]

आर्य्यावर्त के सुप्रसिद्ध सम्राट् पृथ्वीराज के विषय में "पृथ्वीराज-विजय" नामक संस्कृत का एक महाकाव्य है, जिसकी एक प्रति पंडितवर बुहलर महोदय को ई० सन् १८७५ में संस्कृत भाषा की हस्तलिखित प्रतियों के अन्वेषणार्थ यात्रा करते हुए कश्मीर में प्राप्त हुई थी। वही शारदा लिपि में लिखी हुई प्रति पूने के डेकन कालेज के पुस्तकालय में रखी है और आज तक उसको छोड़कर इस ग्रंथ-रत्न की और किसी प्रति के विद्यमान होने की सूचना नहीं है। इस ग्रंथ के नाम-मात्र को सुनकर ही पुरातत्वान्वेषी एवं इतिहास-प्रिय पुरुषों के हृदय प्रफुल्लित होते हैं और उनके तरल लोचन इसकी अंतरवर्ती वार्तों को जानने के लिये आतुर होते हैं; परंतु दुःख का विषय है कि जो प्रति उपलब्ध है, वह स्थान स्थान पर खंडित और अपूर्ण है। अतः समग्र ग्रंथ कितना बड़ा था, यह बताना कठिन है। यहाँ तक कि जिस विजय के उपलक्ष्य में (जो संभवतः ११९१ ई० सन् वाली तिरौरी की विजय है, जिसमें शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी हारा था) यह ग्रंथ लिखा गया है, उसका वर्णनात्मक भाग भी उपलब्ध नहीं है। न इस ग्रंथ से यही पता चलता है कि इसका रचनेवाला कौन था। इस ग्रंथ के साथ साथ एक टीका मिली है जिसमें टीकाकार ने प्रत्येक सर्ग के अंत में अपना कुछ परिचय दिया है, एवं अपना नाम जानराज बतलाया है, जिससे यह

सिद्ध है कि यह ग्रंथ उसके पश्चात्-कालीन नहीं हो सकता। जिन पंक्तियों के आधार पर हम यह कह रहे हैं, वे निम्नलिखित हैं—

श्रीलोलराजसुतपंडितभट्टनोन-
राजात्मजो विवरणं व्यचिताचमर्गे।
आज्ञामवाप्य विदुषां किल जोनराजः
पृथ्वीमहेन्द्रविजयाभिधकाव्यराजे॥
श्रीश्रीकण्ठचरित्रकाव्यविवृतौ विश्वस्य विश्वस्य च-
च्छायाभाजि किरातकाव्यविवृतौ विश्रम्य रम्यश्रियि।
पृथ्वीराजजयाख्यकाव्यविवृतौ मंदेरामिच्छाम्यहं
शास्त्रोद्गजखेदमेदुरमतिर्ज्योत्स्नाकरो लावणिः॥

इन श्लोकों से हमें इतना पता मिल जाता है कि जोनराज नोनराज का पुत्र और लोलराज का पौत्र था और उसने विद्वानों की प्रेरणा से पृथ्वीराजविजय की टीका रचने के पूर्व श्रीकण्ठचरित्र और किरात-काव्य पर वृत्तियाँ लिखी थीं। हम समझते हैं कि हमें इस सुप्रसिद्ध जोन-राज के विषय में इतना ही लिखना पर्याप्त है कि वह कश्मीर में जैनउल्-आबिदीन के समय में (सन् १४१७–१४६७) हुआ था और उसने दूसरी राजतरङ्गिणी की रचना की थी। ऐसे विद्वद्रत्न और इतिहास-लेखक का इस ग्रंथ पर टीका लिखना और वह भी "आज्ञामवाप्य विदुषां" बताकर लिखना इस बात का सबल प्रमाण है कि पंद्रहवीं शताब्दी में इस ग्रंथ का कश्मीर के पंडित-प्रवरों में पर्याप्त प्रचार एवं सम्मान था। टीकाकार का टीका लिखते हुए कई एक स्थलों में पाठभेद का देना भी इस ग्रंथ के प्रचार की पुष्टि में प्रमाणरूप है।

इस समय जो इस ग्रंथ की एक मात्र प्रति प्राप्त है, उसकी क्या दशा है, इसका भी थोड़ा सा वर्णन करना आवश्यक है। यह प्रति भोजपत्र पर शारदा लिपि में लिखी हुई है। प्रारंभ में श्रीगणेशाय का ही पता नहीं है। पहले दो पन्ने खोए हैं। तीसरे पन्ने के एक श्लोक की

अपूर्ण टीका का सर्व प्रथम दर्शन होता है, जिससे ज्ञात होता है कि कवि महोदय मंगलाचरण लिख रहे हैं। ऐसा तो कोई भी सर्ग नहीं है जिसमें कई एक श्लोक और टीका के भाग खंडित अथवा सर्वथा नष्ट नहीं; परंतु पहले और दूसरे सर्गों में पर्याप्त प्रकरण विन्यास उपलब्ध हो जाता है और तीसरे सर्ग के ३८ श्लोकों के उपरांत दो तीन पन्ने प्रायः गले हुए मिलते हैं, जिनका लेख अधिगत नहीं किया जा सकता। कुछ पन्ने इस ग्रंथ में इस तरह से भी रखे हुए हैं कि उनका ठीक स्थान निश्चय करना कठिन है; उदाहरणार्थ चतुर्थ सर्ग का प्रथम पत्र। पाँचवाँ सर्ग, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्व का है और श्लोक संख्या में भी सब से बड़ा है, सुरक्षित मिलता है। इस महती कृपा के लिये कालदेव को धन्यवाद न देना अवश्य कृतघ्नता होगी। छठे सर्ग के अंतिम तीन चार पन्ने गल गए हैं; और जो हैं, उनके प्रायः नीचे का भाग नष्ट हो गया है। सातवें का कुछ प्रारंभिक भाग नहीं मिलता। आगे आठवें से ग्यारहवें सर्ग तक ग्रंथ ठीक ठीक पूर्ण मिल जाता है, परंतु बारहवाँ सर्ग बहुत खंडित है। उसमें कोई ३५ श्लोक बेदाग हैं, शेष ४३ रुंड मुंड हैं और आगे ग्रंथ खंडित और नष्ट हो गया है।

इतिहास-प्रेमियों तथा संस्कृत साहित्यानुरागियों को यह जानकर बहुत प्रसन्नता होगी कि श्रद्धेय पंडित गौरीशंकर जी ओझा केवल एक एक प्रति के आश्रय पर ही इस ग्रंथ-रत्न का संपादन कर रहे हैं। ओझा जी ने पूनेवाली प्रति की एक नकल प्राप्त करने के लिये उदयपुर में रहते समय रेजिडेंट महोदय, उदयपुर, तथा एजेंट टू दी गवर्नर जनरल, राजपूताना, के द्वारा यत्न किया; परंतु उन्हें यही उत्तर मिला।कि ग्रंथ के पत्रे इतने जीर्ण शीर्ण हैं कि वे हाथ लगाने से टूटते हैं; अतः पुस्तक बाहर नहीं भेजी जा सकती। हाँ यदि वे स्वयं पूने में आकर नकल करना चाहें तो कर सकते हैं। परंतु राजकीय सेवा करते हुए ओझा जी कह सौ

काम के लिये पर्याप्त अवकाश मिलना बहुत कठिन था। साथ ही इनके जैसे पुरातत्वान्वेषी के लिये इस महत्वपूर्ण इतिहास-संबंधी ग्रंथ का अनुशीलन किये बिना रह जाना भी असंभव था। भोजपत्रवाली पूने की प्रति शारदा लिपि में लिखी हुई थी, जो एक अलग ही कठिनाई थी। ये सब असुविधाएँ होते हुए भी पंडितजी ने विविध प्रकार से यत्न कर एवं बहुत द्रव्य व्यय कर एक नकल पूने से करवा मँगाई। यह नकल आदर्श (Facsimile) के समान है, क्योंकि यह प्रत्येक पत्रे की भिन्न भिन्न पत्रे पर मूल की पंक्तियों के क्रम के अनुसार की गई है और मूल पत्रे के हाशिए पर का विद्यमान कोई भी संकेत, शब्द या अक्षर इसमें नहीं छोड़ा गया है। ओझाजी के विद्या-संबंधी अन्य कार्यों के समान (अर्थात् लिपिमाला, सिरोही का इतिसाह, सोलंकियों का इतिहास आदि) यह संपादन भी असाधारण है। आपने इसे छपवाते हुए, ग्रंथ की यथार्थता स्थिर रखने में बहुत भारी श्रम किया है। वस्तुत: यह ग्रंथ कितनी सावधानी, श्रम और सुनिपुण मनोयोग से छपवाया गया है, इसका पता विद्वानों को ग्रंथ के हस्तगत होने पर ही होगा। संस्कृत भाषा का कोई भी ग्रंथ ऐसी खंडित प्रति के आधार पर ऐसी शुद्धता और अन्यविक्रमता के साथ मुद्रण करवाया हुआ अभी तक हमारे देखने में नहीं आया। जहाँ तक संभव हुआ है, मूल श्लोकों के खंडित अंशों को टीका के आधार पर टिप्पणी में अथवा कोष्ठकों में बड़े ही कौशल के साथ कवितावद्ध उद्धार (Restore) कर छपवा दिया है। पुस्तक प्रायः संपूर्ण छप चुकी है; परंतु अभी छापेखाने के गर्भगृह में ही विराजमान है। भूमिका, टिप्पणि आदि के छप चुकने पर आशा है, शीघ्र ही प्रकाशित हो जायगी। सब से प्रथम डा० बुहलर के शिष्य मि० मोरिस ने इस ग्रन्थ परसे चौहानों का वंश वृक्ष बहुत ही संक्षिप्त वृत्तान्त के साथ वीएना ओरिएन्टल जरनल में छपवाया था, जिसके प्रूफ डा० बुहलर के भेजे हुए ओझा-

जी के पास हमने देखे हैं। परंतु उसमें राजाओं का वृत्तान्त नहीं सा ही है। ई. स. १९१२ में इतिहास-प्रिय श्रीमान् (राय साहब) हरविलासजी शारदा बी० ए०, (एम० एल० ए०) ने इस ग्रन्थ को पंडित जी महाराज से उत्साहपूर्वक सुनकर इसके आशयरूप एक लेख रायल एशियाटिक सोसाइटी, लंदन, को भेजा था, जिसे वहाँवालों ने बड़ी उत्सुकता के साथ छापा था। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, ओझा जी के परम प्रिय मित्र और मेरे परम श्रद्धास्पद विद्यावारिधि श्रीचन्द्रधरजी गुलेरी ने ही एक लेख सन् १९१३ में जब कि इस ग्रन्थ के संपादन का विचार हो रहा था, सरस्वती में छपवाया था। इसके अतिरिक्त अन्य कोई लेख इस ग्रंथ पर हिन्दी में नहीं छपा है। ओझाजी ने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर अपनी अप्रकाशित प्रति मुझे अवलोकनार्थ देने की कृपा की है, जिसके आश्रय पर मैं यह लेख लिख रहा हूँ। इसके लिये मैं उनका बहुत कृतज्ञ हूँ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, संप्रति जो ग्रंथ प्राप्त है, उससे उसके रचयिता का पता सम्यक् रूप से नहीं चलता। हाँ वह कितना बड़ा विद्वान् था, इस बात को सिद्ध करने के लिये उसकी कृति साक्षी स्वरूप अवश्य विद्यमान है। मंगलाचरण में इष्टदेव का वर्णन कर इस महाकवि एवं पंडित-मार्तंड ने विशिष्ट कवियों में मुनिवर वाल्मीकि, व्यास और भास का ही नाम लेना उचित समझा। अन्यों का वह क्या नाम लेता; क्योंकि वह स्वयं माघ और भारवि से कम नहीं है। ग्रंथ का सार लिखते हुए हम स्थान स्थान पर जो श्लोक लिखेंगे, उनसे पाठक स्वयं निश्चय कर लेंगे कि कल्पना-शक्ति, शब्द विन्यास, सुंदरसरस वर्णन की प्रौढ़ता सरस्वती के इस सुपुत्र में कितनी अधिक थी। इसकी कविता बहुत मौलिक है। सोमेश्वर का शिवसायुज्य प्राप्त करना इसने बड़ी सुंदरता और चमत्कार के साथ वर्णन किया है। इसी तरह विद्याधर का संवाद भी बहुत रोचक है। इस कवि का पुष्कर का

वर्णन पढ़ते पढ़ते, कालिदास ने राजधानी अयोध्या की दुर्दशा का जो हृदयवेधी वर्णन किया है, उसका और चाहमान की उत्पत्ति का वर्णन पढ़ते पढ़ते माघ ने जो नारद मुनि के उतरने का चमत्कृत वर्णन किया है, एवं ११ वें सर्ग को पढ़ते भवभूति के उत्तर रामचरित के प्रथम अंक में वर्णित चित्रशाला के वर्णन का स्मरण आए बिना नहीं रहता। ग्रंथकार न केवल कवि था, अपितु उच्च कोटि का पंडित भी था। इसने अपने विस्तृत पांडित्य और बहुश्रुतता का स्थान स्थान पर खूब परिचय दिया है। उदाहरणार्थ वासुदेव का मृगया वर्णन करते हुए लिखा है—

यत्पुण्डरीकमवधीत्तत एव चंद्रा-
पीडोयमित्यधिजगाम यशस्स राजा।
दूरं गतस्तु मृगयाव्यसनेन चित्रं
कादम्बरीं न मनसापि कदाप्यपश्यन्॥

पुण्डरीक (व्याघ्र, श्वेतकेतु मुनि का पुत्र), कादम्बरी (मदिरा, गंधर्वराज चित्ररथ की पुत्री) और चंद्रापीड (तारापीड का पुत्र) का प्रयोग कर कवि ने बाण रचित कादम्बरी का कैसा अच्छा स्मरण कराया है, यह तुरंत अवगत हो जाता है।

ऐसे ही पाँचवें सर्ग में अजयराज का वर्णन करते हुए लिखा है—

स्फुरत्प्रभावलोत्साहसिध्युरायगुणोदया।
सर्वाङ्गसुंदरी यस्य नीतिर्वल्लभतां ययौ॥

यहाँ नीति शास्त्र की प्रसिद्ध वस्तुओं में नायिका व्यवहार आरोपण कर अपनी कुशलता दिखाई है। ऐसे ही आगे कहीं लौकिक मत में मीमांसा-व्यवहार, कहीं तर्क-व्यवहार, कहीं व्याकरण-शास्त्रीय व्यवहार, कहीं आयुर्वेद-व्यवहार, कहीं सांख्य-व्यवहारादि आरोपित किए हैं। प्राचीन शैली के अनुसार मनुष्य के विषय में काव्य लिखना अच्छा न समझा जाने के कारण कवि ने पृथ्वीराज को राम का, कदम्बवास को हनुमान का और भुवनैकमल्ल को शेष का अवतार

बनाया है। तिलोत्तमा को किसी राजकुमारी के स्वरूप में इस पृथ्वी पर आई हुई बतलानेवाले श्लोक नष्ट हो गए हैं।

यह कवि राजस्थान का रहनेवाला नहीं था, यह कई बातों से सिद्ध होता है। उनमें से एक उसका ऊँटों का वर्णन करना है। ऊँट रेगिस्तान के जहाज कहलाते हैं और उनका जितना उपयोग इस मरु देश में है, उतना अन्यत्र नहीं हो सकता। उनकी विचित्र आकृति तथा उठने बैठने के ढंग ने अवश्य उस विदेशी कवि के मन पर विलक्षण प्रभाव उत्पन्न किया होगा। हम समझते हैं कि उसे यह पशु रोचक नहीं लगा, क्योंकि उसका वर्णन निन्दा के साथ किया हुआ मिलता है। उदाहरणार्थ वासुदेव के मृगया के प्रसंग में वह लिखता है—

> नित्यानिमेषनयनत्वमयं विपाकं
> दुष्कर्मणां करभदर्शनतो विदित्वा।
> पाणौ पिधानपदवीमुपनीय काश्चि-
> द्दृष्टुं नरेन्द्रमपि नापुररण्यदेव्यः॥

आशय—ऊँट के दर्शन करके देवियों ने अपनी आँखों का सदा खुला रहना दुष्कर्मों का फल समझा। उनमें से कइयों ने अपने हाथ आँखों के सामने लगा लिए, जिसका परिणाम यह हुआ, कि वे राजा वासुदेव के भी दर्शनों से वंचित रह गईं। टीकाकार लिखता है—"उष्ट्रोऽदर्शनीय इति प्रसिद्धिः" अर्थात् ऊँट का दर्शन करना अशुभ है, ऐसा प्रसिद्ध है।

पृथ्वीराज की सेना में ऊँट थे, अतः नागार्जुन पर की हुई चढ़ाई का वर्णन करते हुए उसने निम्न लिखित श्लोक दिया है—

> अतिभरसहनप्रवृद्धकीर्तिद्विपमिव शेषमहोशमेव मत्वा।
> अहिकवलनकेलिकोविदं तत्करभकुलं हयसंघमन्वयासीत्॥

ऊँट सर्पों को खा जाते हैं, यह बात उसने एक और श्लोक में, जो हम आगे ११ वें सर्ग के प्रसंग में लिखेंगे, स्पष्ट रूप से कही है।

बारहवें सर्ग में काश्मीरी कवि जयानक का पृथ्वीराज के यहाँ आना वर्णित है। वही कवि इस काव्य का रचयिता है। यह बात किन किन पुष्ट प्रमाणों से सिद्ध है, इस विषय में श्रीयुत पंडित गौरीशंकर जी महाराज स्वतंत्र लेख लिख रहे हैं। जिस समय जयानक शास्त्र-पारंगत हो अपनी विद्या बुद्धि का वैभव प्रकाशित करने का आकांक्षी हुआ, उस समय उसे ठीक ऐसी परस्थिति मिली जैसी कि सुप्रसिद्ध अनुभवी कवि भर्तृहरि ने निम्नलिखित श्लोक में वर्णित की है—

> बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः।
> अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमंगे सुभाषितम्॥

जो विद्वान् थे, वे अन्य की भलाई के द्वेषी थे। एक विद्वान् को दूसरे विद्वान् से कोई सहानुभूति नहीं थी। वह समझता था कि यदि अमुक विद्वान् है, तो हुआ करे, हमें क्या? हम उसकी बात क्यों सुनें। हम उसकी क्यों प्रशंसा करें? हम भी तो विद्वान् हैं; हमने विद्या नहीं पढ़ी तो क्या भाड़ झोंका है? जो धनवान् थे, वे समझते थे कि विद्वान् लोग अपने आप झख मार हमारे यहाँ आ सिर रगड़ते हैं, हमें उनकी क्या बड़ाई करनी है; शेष जो ज्ञान-शून्य अथवा अल्पज्ञानी थे, उनमें पंडित क्या रमण करते। बेचारा जयानक जब पृथ्वीराज की, जो ६ भाषाओं (अर्थात् संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची और देशज) का ज्ञाता था, विद्या संबंधी कीर्ति को सुन अजमेर आया, तब उसका यहाँ के विद्वानों ने स्वागत नहीं किया। यहाँ पर जो पंडित थे, वे पंडितों की अपेक्षा कवि लोगों को बुरी दृष्टि से देखते थे। इसी का परिणाम है कि जयानक ने इस ग्रंथ के प्रथम सर्ग के प्रारम्भ में दुर्जनों की भर पूर

निन्दा की है और कवि और कविता के स्थान की उच्चता का सुप्रभ युक्तियों और उदाहरणों-द्वारा पोषण किया है।

यहाँ के विद्वानों में "विश्वरूप" नाम का एक ऐसा विद्वान् था, जिसने जयानक को उपकृत किया। अतः निम्नलिखित श्लोक में विरोधी पंडित "कृष्ण" का नाम लेते हुए उसने विश्वरूप की प्रशंसा की है—

दृष्ट्वा कविं कृष्णमुखैर्मुधान्यै-
रसूयया किं विबुधैर्विधेयम्।
यो विश्वरूपो * विबुधेषु धूर्य-
स्स एव हेतुर्हि कविप्रथायाः॥

टीका.........."कृष्णनामा आजयमेरवः पंडितस्तदादिभिः पंडितै-र्मिथ्या मत्सरेण किं संपाद्यम् आजयमेरवो यः पंडितराजो विश्वरूप-नामा स एव कवि..."

अस्तु; जयानक को यहाँ पर अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने मे और उसे सम्पादित करके सुरक्षित रखने में कितना ही कष्ट क्यों न हुआ हो, परंतु वह उद्योगशाली पंडित और कवि अमोघम नहीं हुआ। वह सम्राट् से सम्मान पाकर रहा और उसके सम्मान से एवं गुणों से प्रसन्न होकर बिना किसी के कहे सुने और बिना कुटिल समालोचकों की तीव्र समालोचना की परवाह करते हुए, बड़े प्रेम से उसने इस काव्य की रचना की। उसने लिखा है—

गतस्पृहोऽप्यादिकविः प्रबंधं
बबंध रामस्य भविष्यतोऽपि।
संमान्यमानस्तु नरेश्वरेण
मादृक्कथं काव्यविधावुदास्ताम्॥

---

* विश्वरूप नाम के कई ग्रंथकार हुए हैं, अतएव इसका ठीक ठीक निर्णय करना कठिन है। सम्भव है, यह कोशकार विश्वरूप [illegible]।

मयि प्रवृत्ते हिमसोदराणि
यशांसि विस्तारयितुं नृपस्य।
प्रजाज्वलीवु प्रतिपक्षराज—
न्यायेन सर्वोपि गणो बुधानाम् ॥

इस ग्रंथ के बारहवें सर्ग का वह भाग, जिसमें जयानक के कश्मीर देश से अजमेर आने का वर्णन मिलता है, बहुत अपूर्ण और खंडित है। जो अंश मिला है, उससे यह ज्ञात होता है कि पृथ्वीराज की कीर्ति सुनकर यह कवि शारदाक्षेत्र (कश्मीर मंडल) से यहाँ आया था और इसका विग्रहराज के मंत्री पद्मनाभ से अच्छा परिचय हो गया था। इस मंत्री ने ही इसका पृथ्वीभट से परिचय कराया था।

अब इस ग्रंथ के प्रत्येक सर्ग का सारांश लिखते हैं।

प्रथम सर्ग—श्लोक ७७।

श्रीशङ्कर भगवान् तथा पार्वतीनन्दन षडानन की वन्दना कर मुनिवर वाल्मीकि, व्यास और विष्णुधर्म के प्रणेता भास का गुणगान कर महाकवि जयानक, कवि तथा कविता की उत्कृष्टता प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं कि नदी के समान सरस्वती कवित्व और पाण्डित्य-रूप से दो तटोंवाली होकर बहती है; परंतु इसका अगला तट अमृत-रसमय है और पिछला मात्सर्य-विषात्मक। वस्तुतः कवि का स्थान बहुत ऊँचा है। देखो, वागीश बृहस्पति का पढ़ाया हुआ इंद्र अपने सहस्र नेत्रों से जिस बात को नहीं देख सकता, उसको कवि (शुक्र) देख लेता है।

ज्वलन्ति चेद्दुर्जनसूर्यकान्ताः
किं कुर्वते सत्कविसूर्यभासाम्।
महिभृतां दोर्शिखरे तु रूढां
पार्श्वस्थितां कीर्तिलतां दहन्ति ॥

आशय—यदि दुर्जन-रूपी सूर्यकान्त (मणि, सूरीणां अकान्ताः)

जलते हैं, तो महाकवि रूपी-रवि की कीर्ति की वे क्या हानि करते हैं ? वे केवल उन महीभृतों (राजाओं, पर्वतों) को, जिनके शिखर पर वे चढ़े हुए हैं, कीर्तिलता को जलाते हैं।

मात्सर्यगर्व से उत्कट जो पंडित रूपी सर्प हैं, उनसे दूषित की हुई भी कविराजोक्ति-रूपी चन्दन लता स्वाभाविक सौगन्ध्य को नहीं त्यागती। कदाचित् कभी दैव संयोग से सज्जन अपने स्वभाव को भूल जाय, परंतु दुर्जन भूलकर भी साधु भाव नहीं धारण कर सकता। उदाहरणार्थ देखो, जलादि द्रव्य संसर्ग से चन्दनादि गन्ध-रहित हो जाते हैं; परंतु लशुन कभी सुगंधित नहीं होता। विधाता ने यह विचार कर कि, कहीं ऐसे पुरुष जो कोविद है परंतु कुटिल हैं, स्वर्ग में न घुस पड़ें, ऐसी चाल चली है, जिसके मारे वे बेचारे इस लोक के कर्तव्य को भी नहीं निहार सकते। बेचारी तिमि (परवाली) मछली आकाश में तो क्या उड़ेगी, इस स्थल पर चलना भी नहीं जानती। जो राजा सरस काव्य रचनेवाले कवि को कुपंडितों से नहीं बचाता, वह मानों आँखों देखते देखते अपने क्रीड़ाशुक का क्रूर बिडालों-द्वारा नाश कराता है। कवि के तत्व को कवि ही जानता है, तर्क-वितर्की नहीं जानता। अश्वविद्या में निष्णात पुरुष के गुण दोष को, भला हाथी को चलानेवाला क्या जानेगा? देखो, जब निस्पृह वाल्मीकि ने श्रीराम के जन्म के पूर्व ही रामायण रची, तो भला मुझ जैसा पुरुष जिसका नरेश्वर सम्मान करता है, उसके चरित्र वर्णनात्मक काव्य रचने में क्योंकर उदासीन हो सकता है। पृथ्वीराज महाराज के हिम सदृश यश समूह का विस्तार करने के लिये मुझे उद्यत देख यदि प्रतिपक्षी राजा और पंडित जलने लगें, तो भले ही जला करें। यदि यह कहो कि ऐसी अवस्था में मेरी रचना को कौन सुनेगा, तो इसका उत्तर यही है कि मेरे हृदय में स्थित जो पृथ्वीराज और उनके वंशवाले हैं, वे ही श्रोता होंगे।

एक बार योग-निद्रा से उठे हुए श्रीविष्णु भगवान् को प्रणाम कर नाभि-पद्म-प्रविष्ट श्रीब्रह्माजी हाथ जोड़कर कहने लगे—नाथ! जैसे आपके इस पुष्कर (कमल) में स्थित होते हुए मुझे लेश-मात्र भी संताप नहीं है, वैसे ही आप से सनाथ किए हुए उस पृथ्वी-लोकवाले पुष्कर में भी मैं सुख से निवास करता हूँ। आप कमल-नयन कहलाते हैं और नाभि में भी एक कमल धारण करते हैं; इसी लिये इन तीनों कमलों के कारण लोगों ने वहाँ पर आपका साक्षात्कार देख त्रिपुष्कर प्रसिद्ध कर रक्खा है। अजगन्ध नाम के देव (शिव) वहाँ मानो गंगा के इस घमंड का, कि मैं त्रिभुवन-पाप-विनाशिनी हूँ, खंडन करने के लिये निवास करते हैं। हे नाथ! वह यज्ञ-भूमि, जो प्राचीन काल में अग्नित्रय का आश्रय-रूप कुण्डत्रय थी, अब काल के विपर्यय से पयोमयी मूर्त्ति हो गई है। हे नाथ! मुमुक्षु, न आप के इस विष्णु-लोक में, न मेरे ब्रह्मलोक में, न उस शिवलोक में रहने से, ऐसे संतुष्ट होते हैं जैसे कि वे उस पुष्कर में, जहाँ आपने तीनों एकत्र हैं, रहने से प्रसन्न होते हैं। हे भगवन्! पाशुपतास्त्र के समान कलि के बल से वृष (धर्म, बैल) का केवल एक ही पैर शेष रह जाने से वृषवाहन भगवान् त्रिभुवन यात्रा से पराङ्मुख हो गए हैं और—

त्वयापि कामं कलिकालरात्रौ
निद्राविधेयत्वमुपागतेन।
केशान्घनान्गर्जितभीरुणेव
हित्वा स्थितं शान्ततया जिनत्वे॥

आशय—आप भी कलिकाल की रात्रि में नींद ले गर्जना के भय से जल के स्वामी (क्षीर सागर) को त्याग शांत स्थित हो गए हो। बुद्धावतार ले, सिर के लम्बे लम्बे बालों को कटा, अकर्मण्यता धारण कर बैठे हो *।

* कवि के इन शब्दों से यह स्पष्ट है कि बौद्ध और जैन धर्मों के कारण वीर हिंदू

उधर कलियुग के प्रभाव से द्विजमंडल यज्ञ-क्रियाओं में निरुत्सा-हित हो गया है, जिसके कारण यथार्थ हवि का भाग अप्राप्य होने से सुरेन्द्र भी दुर्बल हो गया है। हवनों के न होने से अनावृष्टि का महाभय हो गया है और बेचारी भूमि अल्प फलवती हो चुकी है। कुमार का दिव्य जलजीवी मयूर निर्मद एवं उदास हो बैठा है।

यत्तेजितं रामतया कुलं य-
दुद्वेजितं तद्भवता जिनत्वे।
इत्यन्वयं स्वं प्रति संदिहानो
मंदप्रभस्सूरिरिवाद्य सूर्यः॥

त्वया हरे तापसतामुपेत्य
सख्ये गृहीते हरिणैरिदानीम्।
निवासभूमिर्मम पुष्करं त-
दास्कंदि मातंगमहाभयेन॥

आशय—जिस कुल को आपने रामावतार लेकर उत्तेजित किया, उसी कुल को आपने बुद्धावतार ले उद्वेजित कर डाला। परिणाम यह हुआ कि जैसे कोई पंडित अन्वय (संबंध, कुल) के प्रति संदेहवान् हो जाता है, वैसे अपने वंश में संदेहारूढ के समान सूर्य आज हत-कांत हो रहा है। हे हरि! (विष्णु, सिंह) जब इधर आपने तापसता ग्रहण कर हरिणों के साथ संबंध जोड़ लिया, तब उधर मेरी प्यारी निवास-भूमि पुष्कर मातंगों (हाथी, म्लेच्छ, यवन) से आक्रांत हो गई।

नाथ! जगत् की रचना-रूपी महायज्ञ करके जहाँ मैंने अवभृथ स्नान किया था, वहाँ अब म्लेच्छ प्रासादादि को ध्वंस करते हैं और पुनीत पुष्कर तट की भूमि विप्रों के अश्रुओं से ओट रही है। जिस पुनीत

जाति में जो अकर्मण्यता, निरुत्साहता एवं उदासीनता उत्पन्न हो गई थी, वह उसे बहुत खटकती थी।

तीर्थ में शची (इन्द्राणी) ने अप्सराओं को भी (स्वैरया होने के कारण) स्नान करने से रोका, आज उसमें अधम अपवित्र तुर्क स्त्रियाँ स्नान कर रही हैं। आज वे पापी म्लेच्छ, जिन्होंने मरुभूमि में प्रयाण करते करते अपनी प्यास अपने घोड़ों के रुधिर से बुझाई थी, अमृतपान करनेवाले देवताओं के पीने के योग्य पुष्कर का जल पी रहे हैं। हे नाथ! कहाँ तक कहूँ, देखिए सप्तर्षियों ने जहाँ कामधेनु के दुग्ध से पायस पाक आरंभ किया था, उस स्थान में आज पापी पुलिंद जीती हुई मछलियाँ पका रहे हैं। जिस स्थान में ध्रुवता प्राप्त करने के लिये उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव ने तप किया था, वहाँ आज पापी म्लेच्छ अवीची नरक को सुलभ कर रहे हैं *।

भगवन्! यह वही तीर्थ है जिसके प्रभाव से अहल्यागमन के दोष-निवारणार्थ पद्मनाल-तंतु में प्रवेश कर इंद्र ने तप कर कमल के समान सहस्र नेत्र प्राप्त किए थे। यही नहीं, यम ने जो यमी के प्रति कामना की थी, उस कुत्सित कर्म का प्रायश्चित्त भी इसी तीर्थ के जल का आचमन कर किया था। इसी जल में स्नान कर महाराक्षस नैर्ऋत ने दिक्पालत्व प्राप्त किया था। वरुण भी खारे समुद्र को निष्फल मान इसीको सर्वस्व समझता है। अग्नि से भी अधिक पवित्र समझकर अग्नि का मित्र वायु यहाँ दास बनकर रहता है। यहीं पर उमापति का वृष मंद मंद चाल से टहलता रहता है। नाथ! इस तीर्थ का गौरव कहाँ तक वर्णन करूँ। इसका दर्शन तापत्रय को दहन करता है, इसका स्पर्श मलत्रय को निर्मूल करता है, इसका वंदन

---

* चौहान राजा अर्णोराज (आनाजी) के समय में मुसलमानों ने पुष्कर पर आक्रमण कर वहाँ के मंदिरादि को तोड़ा था। उसी घटना को दृष्टि में रख कवि ने यह वर्णन किया हो, ऐसा प्रतीत होता है। पुष्कर से अजमेर की तरफ आगे बढ़कर मार्ग को उल्लंघन करने पर आनाजी के हाथ से म्लेच्छों का पराभव हुआ था, जिसके स्मरण में उन्होंने आना सागर तालाब बनवाया था।

संध्यात्रय को भी जीतता है। निस्संदेह यह स्रोतत्रय गंगा के प्रवाह को भुला देता है। हे पुष्कराज! अधिक क्या कहूँ स्वयं आपने समुद्र को खार समझ इस पुष्कर को अपना आश्रय बनाया है। अब आप से यही नम्र निवेदन है कि यह काल शयालुता का नहीं है, वस्तुतः दयालुता प्रगट करने का अवसर है। हे माननीय! आप के उठने पर बेचारे कलि की क्या गणना है? आप के भवभय-भंजनार्थ उद्योग में क्या संदेह हो सकता है?

> व्याहृत्य वाक्यमिति पुष्करकारणेन
>
> तूष्णीमभूयत च पुष्करकारणेन।
>
> आसर्गसम्मतपिशाचजनार्दनस्य
>
> भास्वत्यपत्यत दृशा च जनार्दनस्य॥

आशय—पुष्कर के विषय में जब पुष्करोद्भव ब्रह्माजी इतना कह-कर चुप हुए, तब सृष्टि के आदि से ही जिनको पिशाचजनों का मर्दन इष्ट है, उन श्रीजनार्दन की दृष्टि सूर्य नारायण पर पड़ी।

द्वितीय सर्ग—श्लोक ८२

तदनन्तर सूर्यमंडल से एक तेज-पुंज उत्पन्न होकर पृथ्वी पर उतरने लगा। उसे देख आकाश के प्राणी सोचने लगे कि क्या इन्द्र के लिये प्रकल्पित आहुति सूर्यबिम्ब को प्राप्त कर, वायु से अधिक प्रदीप्त हो, फिर पृथ्वी को लौट रही है? जिस सुषुम्णा नामक किरण की प्रति अमावस्या को चन्द्र याचना किया करता है, वह सब क्या सूर्य ने उसे दे दी है? इस कारण क्या चन्द्र उस किरण को ओषधियों को दिखाएगा? क्या उत्तरदिक्पति (काम) का पुत्र नडकूबर रम्भा के अनुराग से स्वर्ग में आ सूर्य से सत्कार पाकर लौट रहा है? क्या भौम म्लेच्छों के उप-द्रवों का निवारण करने के लिये अपनी माता, भूमि के अङ्क में आ रहा है? कानीनता से कदर्थित, परंतु युद्ध-क्रिया-द्वारा अर्क मंडल में प्रवेश कर, अयोनिजन्म से द्युतिमान हो क्या कर्ण पुनरपि पृथ्वी पर आ

रहा है ? तदन्तर उस अर्क-मंडल में से बहुत सुन्दर काले बालोंवाला, किरीट, केयूर, कुंडल, माला, मणिमय-मुक्ताहार आदि आभरण धारण किए, चन्दन लगाए, खड्ग और कवच से सुशोभित, वपुष्मान् लोहमय पादवाला एक त्रिभुवन-पुण्य-राशि पुरुष निकला। वह धर्म-व्यवहार में मन से भी अधिक वेगवाला, कुपथ में चलने में शनि से भी अधिक आलसी, सुग्रीव से भी अतिशय मित्रप्रिय और यम से भी अधिक यथोचित दण्डधर था। वह दान में कर्ण से भी अधिक उत्साहवान् और साधुओं की मनोवेदनाओं को दूर करने में अश्विनी-कुमारों से भी अधिक सावधान था। वह अश्व-विद्या में सूर्य के प्रसिद्ध पुत्र रेवन्त से भी अधिक प्रवीण था।

करेण चापस्य हरेर्मनीषया
बलेन मानस्य नयस्य मन्त्रिभिः।
धृतस्य नामाभिमवर्णनिर्मितां
स चाहमानोयमिति प्रथां ययौ ॥

आशय—कर में चाप ग्रहण करने से, मनमें हरि को धारण करने से, बल में मान धारण करने से, तथा मंत्रियों द्वारा नय (राजनीति) धारण करने से वह इन गुणों के अभिम वर्णों से निर्मित "चा-ह-मा-न" संज्ञा को प्राप्त हुआ। वह विधाता से ही वसुंधरा के लिये अभिषिक्त होकर भेजा गया था; अतः स्वयं श्रीविष्णुभगवान् की सहधर्म-चारिणी अवश्य मूर्तिमती लक्ष्मीजी सूर्य-कुल [1] को समुन्नत करते हुए रघु के समान उसके मस्तक पर भी छत्र धारण करती थी। उसका प्रताप सूर्य्य से भी अधिक और उसका चक्र सुदर्शनसे भी अधिक प्रभाव-

---

१—भयानक कवि चौहानों का सूर्यवंशी होना इस काव्य में जगह जगह लिखता है। अजमेर के ढाई दिन के झोंपड़े से एक बड़ी शिला मिली है, जो चौहानों के इतिहास संबंधी शिलाओं पर खुदे हुए किसी काव्य का प्रथम शिला है। उसमें भी चौहानों का सूर्यवंशी होना लिखा है।

शाली था। नाना रत्न धारण किए हुए शरीरवाली, रत्नाकर के अधिदेवता के समान "ताम्बूल करङ्कवाहिनी" (पानदान रखनेवाली) उसकी चेटी थी। उसके एक पाँच दाँतवाला, युद्ध में अत्यन्य अधृश्यगंध हस्ती* और एक अनतिक्रमणीय अश्व था। उसका कोश नाना युद्धों में व्यय होने पर भी खाली नहीं हुआ था। उसका अनुज "धनंजय", जो अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोगों में अति प्रवीण और अतुलित बलशाली था, उसका सेनापति था। वह न केवल समस्त भूमि का अपितु द्वीपों का भी शासक हुआ। यों प्रजा का ताप निवारण कर तीर्थयात्रा के प्रसंग में उस महायोगी (चाहमान) ने पुष्कर में देह त्याग कर भास्कर-मंडल को प्रस्थान किया।

अचाहमानापि रराज मेदिनी
विगाहमाना रुचिरं तदन्वयम।
न वंशगुल्मेन तथा वनस्थली
यथा हि मग्नेत्र विभाति मौक्तिकैः॥

आशय—चाहमान-रहित भी यह भूमि उसके कुल को धारण करती हुई अधिक सुशोभित हुई। वास्तव में वंशगुल्म से वनस्थली उतनी सुशोभित नहीं होती जितनी उसमें से फूटकर निकले हुए फूलों से।

जो सूर्यकुल राम, इक्ष्वाकु और रघु के धारण करने से त्रिप्रवर था, वह कलियुग में भी चाहमान को प्राप्त कर वैपम्य रहित प्रवर चतुष्टयी हो गया। *उस कुल में नाना यज्ञ करनेवाले, दिशा-विदिशाओं* को जीतनेवाले अनेक यशस्वी राजा हुए। उस कुल में समस्त पूर्ववर्ती राजाओं की कीर्ति को भी उल्लंघन करनेवाला प्रतापशाली, साहसी "वासुदेव" नाम का एक राजा उत्पन्न हुआ।

---

* गंधहस्ती उस हाथी को कहते हैं, जिसकी गंध से ही प्रतिद्वंद्वियों के हाथी भाग जाते हैं।

तीसरा सर्ग—श्लोक ३८

वासुदेव कल्पवृक्षों से भी अधिक दानी था। सूर्य्य वंश में अनेक प्रतापशाली राजा हुए; परंतु जैसा प्रतापशाली वासुदेव हुआ, वैसा न भगीरथ हुआ, न सगर हुआ और न रघु। न कोई ऐसा पर्वत रहा, न कोई ऐसा वन, न कोई ऐसी नगरी और न कोई ऐसी मरुभूमि जहाँ कोई न कोई जलाशय, प्याऊ, देवालय अथवा मठ उसने निर्माण न कराया हो। न मयूर प्रथम मेघ को देखकर, न चकोर पूर्ण चन्द्र को देखकर न पिक तरुण आम्र-वन को देखकर इतना प्रसन्न होता था, जितना कि प्रजा-वर्ग उस राजा को देखकर प्रसन्न होता था। देवालयों में निरंतर देवार्चन होने से वृक्षों पर पुष्प नहीं दिखाई देते थे और शंकर का वृष (बैल और धर्म) जो पहले तीन चरणों से कठिनता से चलता था, अब चारों चरणों से सुख के साथ संचार करने लगा। व्यापार-व्यवसाय वृद्धि को प्राप्त हुआ और खानों में से पृथ्वी सुवर्ण देने लगी। नाना दिशाओं में सुर-मंदिर सुशोभित होने लगे और यज्ञों की भरमार से देवेन्द्र के यहीं विराजमान रहने से अमरावती प्रोषित-भर्तृका के समान व्यथित हुई। उसके राज्य में अति वृष्ट्यादि ईति प्रवेश न पा सकीं, न चूहों ने भूमि खोदी, न शुकों ने शालि की खेती उजाड़ी, न शलभों (टिड्डियों) ने यज्ञों के धूएँ के कारण आश्रय पाया। जिस भूमि को कूर्मराज संकुचित अंग होकर नीचे से अपनी पीठ पर उठाता है, उस भूमंडल को वासुदेव ने उसके ऊपर स्थित होकर निराबाध धारण किया। शंकर भगवान् के लिये न हिमालय, न हिमालय की पुत्री पार्वती, न हिमद्युति चन्द्र, न हिमशैल-नदी गंगा, न हिमवत्सखा कैलाश, न हिमाद्रिवृष नंदी उतनी प्रसन्नता उत्पन्न करते थे, जितनी राजा वासुदेव के यश करते थे। पृथ्वी फलवती थी, ऋतु के अनुकूल वर्षा होती थी।

(इसके आगे दो तीन पन्ने प्रायः गल गए हैं।)

चौथा सर्ग—श्लोक ८६

एक बार वह वासुदेव अपने भाई सहित घोड़े पर चढ़कर मृगया के लिये गया और चलते चलते उसने वन-देवताओं के स्थान में प्रवेश किया। उसने मृणाल-बुद्धि से दर्भांकुरों को चाटते हुए और पद्म-पत्र की भ्रांति से जिह्वा को दाँतों से चाटते हुए, मातृ-स्तन पान करते हुए वराह पोतों और मयूरों को तथा जंगली गौओं को नहीं मारा; केवल हिंसक व्याघ्रों और सिंहों का ही शिकार किया और शिकार के बाद मदिरा पान नहीं किया।

राजा का मन उस वन में बहुत प्रसन्न हुआ और शुभ शकुन देख, परवश हो उसने अपनी नगरी में जाने से पूर्व वहीं पर एक सुंदर ऊँचा प्रासाद बनवाया, जिसमें प्रवेश करने की किसी को आज्ञा नहीं थी। दैव-संयोग से एक दिन ऐसा हुआ कि वहाँ पर विहार करता हुआ एक विद्याधर मध्याह्न के पश्चात् शीतलता के कारण तुषार-शैल की भ्रान्ति से उस प्रासाद में चला गया और गरमी से थका हुआ होने के कारण उसे वहाँ तुरंत नींद आ गई। उधर राजा भी मृगया-विनोद से लौटा और इसको सुंदर मणियों का हार एवं अनुपम केयूर, कटक, कुंडल पहने देख सोचने लगा कि यह कौन है।

तं वीक्ष्य भूपतिरचिन्तयदेष ताव-
दक्षिप्रतांव्यभिचरत्यथ शेषशायी।
देवोयमेतदपि नास्ति स दृश्यते यै-
स्तेषां भवन्ति नहि दिव्यदृशां विकल्पाः॥

आशय—राजा ने उसे देखकर विचारा कि यह कोई देवता तो है नहीं; क्योंकि देवताओं की आँखें नहीं मिचतीं और यह तो सोया हुआ है। कहीं यह शेषशायी विष्णु देव हों, परंतु ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि उनके दर्शन करने पर तो दर्शक में दिव्य दृष्टि आ जाती है; और मुझको तो दर्शन के अनन्तर विकल्प-बुद्धि उत्पन्न हुई।

नाग, गन्धर्व, सिद्ध-गण और किन्नरों के लक्षण भी इसमें नहीं घटते। पादलेप, खड्ग और अंजन जो विद्याधरों के होते हैं, वे भी इसके नहीं हैं। हो न हो, चौथे प्रकार के जो विद्याधर होते हैं, उनमें से यह हो। अच्छा तो इस बात का पता मैं इसके मुख को भले प्रकार देखकर लगाऊँ। इतने ही में उस सोए हुए विद्याधर के अधखुले मुख में से निकलकर लुढ़की हुई एक गोली राजा के चरणों में लगी, जिससे उसको निश्चय हुआ कि यह विद्याधर है। उधर उस विद्याधर की भी नींद खुली और उसे ज्ञात हुआ कि वह गोली, जिसके द्वारा विद्याधरों को आकाश में विचरने की शक्ति प्राप्त रहती है, मेरे मुख से जाती रही। वह इस दुर्घटना से बहुत उदास हुआ और राजा को सामने खड़ा हुआ देखते हुए भी और स्वयं बोलने की इच्छा करते हुए भी कुछ न बोल सका। राजा ने अनुमान किया कि यह अपने मुँह में रहनेवाली गोली के उड़ जाने के कारण व्यग्र हो रहा है। अतः—

यो मानमात्रकधनस्स किमन्यतोपि
स्वप्नेपि नाम शृणुयादवमानवाक्यम्।
अभ्यासखण्डनभयादिव मानिताया-
स्तस्यावमानवचनश्रवणं ह्यपथ्यम्॥

आशय—जिसका मान मात्र धन है, क्या वह स्वप्न में भी किसी से अपमान के वचन सुनेगा? निस्संदेह मान के अभ्यास के खंडन के भय से उस मानी के लिये मान-शून्य वचन का सुनना अयुक्त है।

अतएव राजा उस विद्याधर को नम्रानन और बोलने का इच्छुक देखते ही स्वयं डरता हुआ कि, कहीं इसके चंद्र-मंडल जैसे मुख से उल्का के समान कार्पण्य वचन न निकल पड़ें, तुरंत स्वयं बोल उठा—

मान्येन धर्मविशेषेण वशान्तरित्ता-
देत्यान्वभूयत सुपुम्नदशाप्रवेशः।

एषा यथा सकलमङ्गलकोशमुद्रा
याता न सिद्धगुलिकैव न यामिकत्वम् ॥

आशय—श्रीमान् ने गर्मी से विवश हो आकाश से उतर सुषुप्ति अवस्था का ऐसा अनुभव किया कि सब मंगल कोशों की मुद्रा जो यह सिद्धगुलिका है, वह पहरेदार बन गई।

राजा के ये वाक्यामृत पान कर विद्याधर कुछ का कुछ हो गया और कहने लगा—राजन्! आपने अपने चरणों में पड़ी हुई इस विद्याधर-चक्रवर्तित्ता को तृण के समान भी नहीं गिना। देखिए—

दग्धोपि लोचनमुखेन महेश्वरस्य
कामं विवेश हृदयं पुनरेव कामः।
एकं तु तस्य भवदाशयमात्रमेव
मन्ये महीमिहिरदुर्ग्रहमेकदुर्गम् ॥

आशय—दृष्टिपथ से दग्ध किया हुआ काम भी महेश्वर के चित्त में पुनरपि प्रवेश कर ही गया। हे मही-मिहिर! मैं जानता हूँ कि आपका हृदय ही एक ऐसा दुर्ग्रह दुर्ग है, जिसमें काम (मन्मथ और लोभ) प्रवेश नहीं कर सकता।

वस्तुतः क्रोधादि जो अरिपंचक हैं, उनमें अग्रणी काम ही है। उसके जीतने पर शेष क्रोधादि की क्या कथा? जब महर्षि अगस्त्य ने समुद्र ही पान कर लिया, तब नक्रादि जल-जन्तुओं की तो गणना ही क्या की जाय।

तत्किं ब्रवीम्युपचिकीर्षति मानसं मे
त्वा प्रत्यपीति धिगनीतिविदुक्तिरेषा।
प्राप्योपमन्युमुनिना किल दुग्धसिंधुं
क्षीराभिषेक कलशेन मुनिः प्रसाद्यः ॥

चिन्तामणेः कनकमध्यनिवेशनं य-
त्कल्पद्रुमस्य यदि वा जलमेकचिन्ता।

यन्नप्रवृत्तिरुत वा सुरभेस्तृणानां
या स्यादुदात्तहृदयानुपकर्त्तुमिच्छा ॥
सद्भिस्तदप्युपकृतादपि कश्चिदंश-
स्स्वीकार्य एव लघुताशमनाय तस्य ।
नाग्राहि विश्वभयदे किल कालकूट-
व्याधौ हृते शशिकलाप्युदधेर्मृडेन ॥
एवं स्थिते किमपि यत्कथयामि नाम
तत्कार्यमेव भवता मदनुग्रहाय ।
धामत्रयीनयनभासितसर्वलोकः
किं चंद्रमौलिरपि नेच्छति दीपदानम् ॥

आशय—आप लोभ-रहित हैं, अतः आपसे मैं क्या कहूँ ! अब यदि मैं यह कहूँ कि मेरा मन आपका प्रत्युपकार करना चाहता है, तो मुझे धिक्कार है; क्योंकि यह उक्ति अनीतिज्ञों की सी होगी। शिव से क्षीर-समुद्र पाकर क्या उपमन्यु मुनि का शिव को क्षीर कलश से प्रसन्न करना युक्त हो सकता था ? इसमें सन्देह नहीं कि जैसे कोई चिंतामणि को सुवर्ण में स्थापित करने की चिंता करे, कल्पद्रुम के लिये जलसिंचन की चिंता करे, कामधेनु के लिये तृण प्राप्त करने को व्यग्र हो, वैसा ही उदारचरितों का प्रत्युपकार करने की इच्छा करना है। परंतु तो भी उपकृत की लघुता को बचाने के विचार से उपकारक महानुभावों को कुछ न कुछ ग्रहण करना उचित ही है। देखिए, शंकर ने विश्वभयदायी कालकूट को अपने कंठ में रख सागर का कितना महान् उपकार किया ! भला इस अप्रतिम अनुग्रह का क्या प्रत्युपकार हो सकता है ! तो भी समुद्र की लघुता को बचाने के विचार से शिव जी ने उससे एक शशिकला ग्रहण कर ली। अतएव मैं भी आप से जो एक नम्र निवेदन करता हूँ, वह मुझ पर दया करने के विचार से आप स्वीकार करें। देखिए, क्या श्रीशंकर भगवान्,

जिनके ज्योतिरूपी तीनों नेत्रों से त्रिभुवन प्रदीप्त हो रहा है, दीपदान की इच्छा नहीं रखते ?

हे निरहंकार-बुद्धि ! सुनिए, शकम्भर नामवाले मेरे पूज्य पिता इस अरण्य में निवास करते हैं। उनके उग्र तप के कारण देवी पार्वती यहीं साक्षात् होती हैं। मेरे पिता जी की कीर्ति के लिये उन्होंने स्वयं अपना नाम शाकंभरी ग्रहण कर लिया है। सुरनदी गंगा ने जो भागीरथी नाम ग्रहण किया था, वह नाम भगीरथ के पुण्य-पुंजों का ही तो सूचक है। मैं भी उनके दर्शनों के लिये समय समय पर विद्याधरेन्द्र नगर से यहाँ आया जाया करता हूँ। मैंने निस्सन्देह देवी का निर्दोष प्रसाद-फल प्राप्त कर लिया जो आज मेरे सामने है। सच समझिए, बिना देवताओं के अनुग्रह के आप जैसे महानुभाव के दर्शन असंभव हैं।

अब आप अपनी सेना को तो लौटा दीजिए और रात को घोड़े पर चढ़कर बिना पीछे की ओर देखे हुए, भूमि में अपना भाला मारकर अपनी राजधानी को पधारिए। बस इतना सा और उपकार मुझ पर कीजिए। यह कहकर विद्याधर अंतर्धान हो गया। सूर्य नारायण भी अस्ताचल को चले गए। तदनन्तर राजा ने वैसा ही किया। कुन्त के मारते ही भूमि से क्षार समुद्र उछल पड़ा, मानो राजा ने भूमि से कहा—

> किं भूरिभिः किमिति नात्र निधिं प्रसूपे
> लावण्यसारमसि धात्रि समेकमेव।
> इच्छापि येन न भवत्यपरेष्विवीव
> कुन्तेन भूमिमथ भूमिधरो बिभेद ॥

आशय—हे धात्रि ! जिसके होते हुए अन्य निधियों की इच्छा ही नहीं रहती, उस प्रधान निधि लावण्यसार को तू क्यों नहीं प्रकाशित करती ?

राजा ने बड़े वेगवान् घोड़े पर सवार होकर प्रस्थान किया; परंतु

चंद्रोदय होने पर उसने अपने पीछे लवणसिन्धु की तरंगों का ऐसा शब्द सुना कि मानो उस वेगवान् वाजी को देखकर समुद्र अपने पुत्र उच्चैःश्रवा के भ्रम से उसके पीछे लपका आता हो। परिणाम यह हुआ कि उस विद्याधर के वचनों को याद रखते हुए भी राजा ने अति कुतूहल के वश हो पीछे को अपनी दृष्टि डाल दी; और ज्यों ही वह विस्मयाकुल हो यह सोचने लगा कि यह क्या है, त्यों ही विद्याधर ने उसे दर्शन दिए और कहा कि यह लवणसिंधु आपके कुन्त से अवतीर्ण हुआ है। और—

यन्नाम किञ्चन पतिष्यति वस्तुजातं
क्षारत्वमेष्यति तदत्र समस्तमेव।
तेनाचरिष्यति न केवलमेव कीर्तेः
यावत्प्रतापदहनस्य तवानुवृत्तिम्॥

आशय—जो कोई वस्तु इसमें गिरेगी, वह नमक हो जायगी, और संसार में आपकी कीर्ति को सुनते हुए अन्यों की कीर्ति फीकी पड़ जायगी।

चंद्रवंशियों का यशस्थान कुरुक्षेत्र, जिसकी सीमा पाँच योजन है, लोकान्तर में फलप्रद है; परंतु सूर्य-वंशियों का यह तीर्थ इस लोक और परलोक दोनों ही में फलप्रद है।

आशापुरीति नृपते कुलदेवता ते
शाकम्भरी भगवती च मयि प्रसन्ना।
एते द्युसिन्धुयमुने इव सर्वकालं
रक्षिष्यतो लवणवारिनिधिं मिलित्वा॥

आशय—हे राजन्! आशापुरी नाम की देवी आप की कुल-देवी हैं और शाकम्भरी देवी मेरे ऊपर कृपा दृष्टि रखती हैं। ये दोनों, गंगा यमुना के समान, मिलकर लवणाब्धि की रक्षा करेंगी।

आपके कुल में उत्पन्न पुरुष के सिवा अन्य किसी से यह लवणसमुद्र

उत्पन्न नहीं किया जा सकता। भला वाडव-धूम-जात मेघ कुल के सिवा और कौन तृषित समुद्र में पान करने को समर्थ है !

अधिक कहने से क्या, बस समझ लीजिये कि यह जलरूपी साक्षात् शाकम्भरी देवी आपके सामने हैं। इन्हें प्रणाम कर आप अपनी राजधानी को पधारिए। इतना कह विद्याधर अंतर्धान हो गया और राजा भी उस जल की परीक्षा के लिये उसका आचमन कर अपनी नगरी को सिधारा।

पंचम सर्ग—श्लोक १६२

सूर्यवंशी राजा दशरथ ने आखेट के प्रसंग में शाप पाया था। परंतु इस सूर्यवंशी वासुदेव ने प्रमाद प्राप्त किया। तदनंतर वह अपनी नगरी में आया। शाकम्भरी देवी से पालित भूमि को वासुदेव के वंशज भोगते हैं, अतः वे "शाकम्भरीश्वर" कहलाते हैं। फिर वासुदेव के वंशरूपी समुद्र के लिये चंद्रमा के समान, तथा मंडलेश्वरों की पंक्ति-रूपी कमलों के लिये सूर्य्य के समान "सामन्तराज" उत्पन्न हुआ। उसके "जयराज" (टीकाकार जयंतराज भी नाम देता है) नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसको देखकर राजगणों का तेज ऐसे नष्ट हो गया जैसे सूर्य के उदय से चंद्र का। उस मानी ने उद्धतों को नमाने और नमे हुओं को उन्नत करने की मति रक्खी। उसके "विग्रहराज" नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। हरि के पाद से निकली हुई गंगा के समान उसके खड्ग से निकली हुई त्रिलोक-पावनी कीर्ति शैल और सागर को उल्लंघन कर गई। उसका ज्येष्ठ पुत्र ग्रंथकार चंद्रराज के समान सुवृत्तों (अच्छे छंद और आचरण-शील पुरुषों) को संग्रह करनेवाला "चंद्रराज" हुआ। सर्व भूतों के लिये उपयोगी होने से उसकी स्त्री पृथ्वी के समान सदा हृदय-ग्राहिणी हुई। उसका छोटा भाई "गोपेन्द्रराज" हुआ। चंद्रराज का पुत्र "दुर्लभराज" हुआ जिसने कीर्ति-लता को खूब लहलहाया। गंगा-सागर के संगम में स्नान करके उठी हुई उसकी तलवार ने चिर काल तक गौड़ देश के रस का आस्वादन

कर अमात्व प्राप्त किया। उसके "गोविन्दराज" नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह राज-निर्माण में ब्रह्मा, सन्धि-विग्रहादि षड्गुणों के प्रयोग में पुरुषोत्तम तथा प्रभुत्वादि शक्तियों के धारण करने में महेश्वर था। उसके रूप, यौवन और उल्लास की मूर्ति के समान "चंद्रराज" नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका पुत्र "गोवाक" सामादि उपायों (साम आदि वेदों में तथा साम, दाम, दंड आदि) में निपुण, षट्कर्मों (सन्धि आदि तथा अध्ययनादि) में पारंगत, संग्राम-रूपी पश्चाग्नि का मध्य भाग अर्थात् युद्ध-क्षेत्र में दृढ़ रहनेवाला, राजर्षि, प्रतापी, यशस्वी, शत्रुसंहारी हुआ। उसने त्रिभुवन-विलोमनीयाकृति अपनी बहन कलावती का, जिसके पाणिग्रहण की बारह राजा लालसा करते थे, विवाह कान्यकुब्ज के राजा से किया और उन बारह राजाओं को जीतने से जो संपत्ति प्राप्त हुई, वह सब उसे दहेज में दे दी।

गोवाक के पुत्र का नाम "चंदनराज" था। वह बहुत लोक-प्रिय और ऐश्वर्यशाली राजा हुआ। उसकी रानी रुद्राणी ने, जिसे योगिनी तथा आत्मप्रभा भी कहा करते थे, पुष्कर के तट पर एक सहस्र शिव लिङ्ग स्थापित कराए, जो वहाँ अंधकार का नाश करने के लिये मानो सहस्र दीपकों के समान सुशोभित होते थे।

चंदनराज के "वाक्पतिराज" नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह संसार के हित के लिये साक्षात् हर-प्रसाद था। उसने अपनी भुजाओं से १८८ विजय प्राप्त कीं और अपनी निर्मल बुद्धि से काल को तथा मन से काम को जीता। उसने पुष्कर में एक बहुत ऊँचा हर-मंदिर बनवाया जो कैलास के समान सुशोभित था। उसके "सिंह-राज" नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। उसने भी पुष्कर में शंकर का एक सुंदर मंदिर बनवाया। सिंहराज के पुत्र का नाम "विग्रहराज" था। वह सापराधी शत्रुओं को दुर्बल जानकर उनके साथ दया का व्यवहार करता था। अपनी विपुल सेना के घोड़ों की टापों से उड़ी हुई धूलि

से सूर्य को "अनीलाश्व" करते हुए उसने "खुररजो घोरान्धकार" नाम प्राप्त किया। उसकी सेना ने दक्षिण में नर्मदा नदी तक विजय प्राप्त की और गुर्जर (गुजरात) देश के राजा मूलराज को, जो कंथा दुर्ग (कंथकोट, कच्छ में) भाग गया, हराया था। उसने भृगु-कच्छ (भड़ौच) में आशापुरी देवी का एक सुंदर मंदिर बनवाया। उसके छोटे भाई का नाम "दुर्लभराज" था और उसका मंत्री "माधव" था। तदनंतर "गोविन्दराज" राजा हुआ जिसके यश का कवीन्द्रों ने खूब गान किया। उसका पुत्र "वाक्पतिराज" हुआ, जिसने कलि को कृत-युग और इस भूमि को स्वर्ग बना दिया। उसने अपनी छुरिका (तलवार से) आघाटपुर * के राजा अम्बाप्रसाद का मुख चीरकर उसे मार डाला। उसको वैरी लोग "गोत्रभिद् (इन्द्र)", वैरियों की स्त्रियाँ "दहन" (अग्नि), वैरियों के भट "मृत्यु", वैरियों के नगर-निवासी "राक्षसेश्वर", नीतिज्ञ "प्रकृष्टचेता" (प्रचेता = वरुण), रक्षा चाहनेवाले "सदागति" (पवन) और अर्थी लोग "धनद" (कुबेर) कहा करते थे। वस्तुतः अब तक राजा वाक्पतिराज जीवित हैं; क्योंकि और राजाओं को भूलता हुआ यह लोक उसे माला के समान हृदय में धारण किए हुए है।

उसका पुत्र "वीर्यराम" हुआ। वह अद्वितीय रण-रसिक था, परंतु अकस्मात् अवन्ति (मालवा) के राजा भोज से संग्राम में मारा गया। उसके भाई चामुण्डराज ने उसके स्मरण में नरपुर † में विष्णु का एक मन्दिर बनवाया। तदनंतर "दुर्लभराज" राजा हुआ; परंतु वह वीरसिंह मातङ्ग (हाथी, मुसलमान) संग्राम में मारा गया; अतः उसके अनुज "विग्रहराज" को राज्य का भार सँभालना पड़ा। उसने मालवे के राजा

* आघाटपुर को इस समय "आहाड़" कहते हैं। यह स्थान उदयपुर से दो मील पर रेल्वे स्टेशन उदयपुर के निकट है। मेवाड़ के राजा अम्बाप्रसाद की यही राजधानी थी।

† नरपुर को इस समय नरवर कहते हैं। यह किशनगढ़ राज्य के अंतर्गत अजमेर से ८ मील उत्तर की ओर है।

"उदयादित्य" को "सारङ्ग" नाम का एक तुरङ्ग दिया जिसकी सहायता से उसने गुर्जर देश के राजा "कर्ण" को जीता। उसके पुत्र का नाम "पृथ्वीराज" था। उसने सात सौ चालुक्यों को, जिन्होंने पुष्कर के ब्राह्मणों का धन हरण करने के विचार से वहाँ आक्रमण किया था, नष्ट किया, और सोमनाथ के मार्ग में अनवरत अन्नसत्र स्थापित किया। उसके "अजयराज" नामका पुत्र हुआ जो "सल्हण" भी कहलाता था। उस सौम्य राजा ने दीप्तिमान् मालवपति "सुल्हण" को ऐसे शमन किया, जैसे मेघ दवाग्नि को करता है। उसने इस दुर्वर्णमयी भूमि को रूपकों * (रुपयों और नाटकों) से परिपूर्ण कर दिया और कवियों ने उसे (भूमि को) सुवर्णमयी अर्थात् सुंदर साहित्य से परिपूर्ण कर दिया। उसकी प्रिय रानी सोमलेखा भी नित्य नए रूपक बनाती थी †। उस (अजयराज) ने सर्प से त्यक्त चंदनलता के समान निर्गर्वा श्री और निंदा-रहित कीर्ति प्राप्त की। जैसे कवित्व के विना पांडित्य और द्रव्य के विना यौवन नष्ट हो जाता है, वैसे विना तेज के उसके शत्रुओं का बल नष्ट हो गया। उसने देव-मंदिरों में कई सुंदर बावड़ियाँ बनवाईं और म्लेच्छों को परास्त किया। उसने "अजयमेरु" नाम का एक नगर बसाया। इस नगर का यह नाम सार्थक है; क्योंकि मेरु पर देवता वास करते हैं और इसमें पुण्य-प्रभाव से ऐसी कोई बात ही शेष नहीं है, जो अन्यत्र हो और इसमें न हो। यहाँ निरंतर बड़े बड़े यज्ञ होते रहते हैं, जिनका धूआँ अधिक वृष्टि का कारण है। यहाँ के भवन ऐसे ऊँचे हैं कि उन पर चढ़ने से तारारूपी पुष्प तोड़े जा सकते हैं। मंदा-

---

* अजयराज (अजयदेव) के चाँदी और ताँबे के सिक्के मिले हैं, उन्हें विद्वानों ने कन्नौज के राजा जयचंद्र का मान लिया था। पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने यह भ्रम दूर कर उनका अजमेर के चौहान राजा अजयदेव का, जिसने अर्णोराज को जन्म दिया होना सिद्ध किया है, (देखो—इंडियन एंटिक्केरी, जि० ४१, पृ० २०६-१०)।

† अजयदेव की रानी सोमलेखा के भी चाँदी और ताँबे के सिक्के मिलते हैं, जिन पर उसका नाम 'सोमलदेवी' मिलता है।

किनी हद की वंदना हो सकती है और सप्तर्षियों के तृतीय सवन का स्वर सुना जा सकता है। लोग जो यह कहा करते हैं कि कोई वस्तु या स्थान ऊँचा होने के कारण दिखाई देता है, यह ठीक नहीं; क्योंकि यदि ऐसा हो तो बताओ, सब दिशाओं में दौरा लगानेवाले कलि ने इस नगर को क्यों नहीं देखा ! इस नगर में ऐसा कोई धार्मिक नहीं है जो अपना धर्म-कर्म कीर्ति की इच्छा से करता हो। यहाँ के राजमहल अत्यंत मनोहर हैं और पुण्डरीकों (कमलों) से, अच्छे दाँतवाले हाथियों से और अच्छे अच्छे अश्वों से सुशोभित हैं। आय कारण है, व्यय कार्य है। कारण के पीछे कार्य होता है; परंतु यहाँ सत्पुरुष पहले सन्मार्ग में व्यय करते हैं और पश्चात् धन प्राप्त करते हैं। यहाँ के लोगों का धर्माचार धन को बढ़ाता है और धन धर्माचार को। यहाँ की विविध बावड़ियों, कूओं, तालाबों और प्याउओं में उनके बनानेवाले स्वर्ग-वासियों का जीवन (जल और प्राण) ज्यों का त्यों दिखाई देता है। यहाँ के राजाओं के लिये वीर्य प्रताप का, प्रताप श्री का, श्री धर्म का और धर्म भोग और अपवर्ग का कारण है। यहाँ के लोग धर्म के अनुकूल अर्थ कमाते हैं, अर्थानुकूल विलास करते हैं; और उनका विलास भी मोक्ष मार्ग के अनुकूल होता है। त्रिलोकी के सार शंभु हैं; परंतु उनका भी सार उनकी त्रिनेत्रता है। तिस पर भी अधिक सारवान् चंद्र है, जिसकी उपमा यहाँ की कान्ताओं के मुख से होती है। यहाँ के निवासी झरोखों में बैठे बैठे स्वर्ग की गंगा की वायु का सेवन करते हैं। बेचारा वरुण समुद्र की सर्वस्वहारी बाड़वाग्नि से डरकर यहाँ के कूओं को सेवता है। यदि यह बात नहीं है तो बताओ कि यहाँ गिरि-दुर्ग में जल क्योंकर है ! स्त्रियों के केशों की सुगंधि के लिये जलाई हुई धूप का धुआँ पहले मकानों को, और उसके पीछे चंद्रमा को श्याम करता है। अन्य नगरों में चोर हैं, निर्दयी शासक हैं, वृष्टि के आधार पर होनेवाले खेत हैं, बहुत से निर्धन हैं,

काल से पीड़ित हैं, परंतु यहाँ ऐसी बातों का अभाव होने से कोई नगर इस अजमेर से बढ़कर नहीं हो सकता। यहाँ के सज्जन पुरुष पुष्कर में जाकर ब्राह्मणों का सत्कार करते हैं और वहाँ से घ लाए हुए जल के स्पर्श से शुद्धि मानते हैं। रत्नरूपी दीपक को हाथ में लेते हुए किसी बालक को देख धात्री संभ्रान्त हो "हा! हा!" करती है, इसे देख पेट हँसते हैं और उसकी हँसी उड़ाते हैं कि तू मणि को अंगार समझती है। इस नगर की समृद्धि ऐसी है कि यहाँ के निवासियों के शरीरों से जो कर्पूर और कस्तूरी गिरती है, वह मार्ग में चलनेवालों के वस्त्रों को सितासित कर देती है। समुद्र पार की लंका नगरी, जिसे राम ने जीता था, और समुद्र के बीच की द्वारिका, जिसे कृष्ण ने बनाया, ये दोनों अजमेर की दासी भी बनने के योग्य नहीं हैं। यहाँ घर घर बाजों की ध्वनि होती है—

> एवंविधामजयमेरुपुरः प्रतिष्ठां
> कृत्वा सकौतुक इवाजयराजदेवः।
> दोर्वीर्यसंहतनयं तनयं विधाय
> सिंहासने त्रिदिवमीक्षितुमुच्चचाल॥

आशय—इस प्रकार के अजमेर नगर की प्रतिष्ठा कर भुज-बल और नीति-बल से युक्त अपने पुत्र (अर्णोराज) को सिंहासन पर बैठाकर अजयराजदेव मानो कौतुक के कारण स्वर्ग का देखने के लिये सिधारे।

छठा सर्ग—श्लोक ११२

इस सर्ग का प्रारंभ का भाग नहीं मिला है। जो प्रथम श्लोक उपलब्ध है, उससे ज्ञात होता है कि यवनों का अजमेर पर सबसे पहला आक्रमण अर्णोराज के समय में हुआ। म्लेच्छों की सेना प्राण हरे जाने के भय से भागने लगी। यह रौरव नरकवालों के लिये अच्छा समय था। साथ ही साथ भास्कर-मंडल का भी सौभाग्य था, क्योंकि

यदि वे म्लेच्छ रण में सन्मुख होकर मरते, तो अर्क-मंडल को भेदकर स्वर्ग सिधारते, न कि नरक की आबादी बढ़ाते। अजमेरवाले वीरों को जो कुछ शस्त्राघात से करना था, वह कुछ अंशों में अपने आप ही हो गया; क्योंकि भारी लोहे के कवचों के बोझ से ही बहुत से तुरुष्क मृत्यु के ग्रास बन गए। कई एक घोड़ों की गर्दनों में आयुध प्रहार कर रुधिर पान कर मर गए। कई एक मरे हुओं पर वायु, बालू उड़ा उड़ा-कर मानों यवनोचित प्रेत संस्कार करने लगे। मुसलमानों की लाशों का जो ढेर मार्ग पर लग गया था, उसे गाँववालों ने दुर्गन्ध फैल जाने के भय से जलाकर दूर किया। अनगिनत लाशों को गीदड़ खा गए। अर्णोराज की सेना में से वीर-रस में चूर किसी योद्धा के स्वर्ग में जाने से क्षणमात्र वह पृथ्वी पवित्र हुई होगी, अन्यथा चांडालों के रक्त से चिर काल तक ढकी रही। शत्रुओं की अनेकों ध्वजा, वस्त्र, आभूषण आदि के इधर उधर फैले होने से बिना कोई प्रयत्न किए भी अजमेर नगर की शोभा विचित्र दिखाई देती थी।

महोत्सवः क्ष्मापतिना सुलग्ने
न ज्ञायते कुत्र स मूत्रितोऽभूत्।
अद्यापि यो रुद्धतुरुष्कयात्रं (त्रां)
तथैव सर्वामवनीमुपास्ते॥

व्यापादि यस्मिन्नपवित्र सेना
स भूप्रदेशश्चिरकालमासीत्।
कङ्कालिकाकालिशृगालमाला-
मेलापकोलाहलकेलिरौद्रः॥

विशुद्धिहेतोरथ तस्य राजा
घ्राणेन्द्रियाकस्मिकरौरवस्य।
अकारयत्कीर्तिपटीपिनद्ध-
क्षीरोदनमङ्करणं तटाकम्॥

या पुष्करारण्य विहारशीला
मन्दाकिनीवेन्दुनदी प्रसिद्धा।
भगीरथरिसन्धुमिव स्रवन्त्या
तया तटाकं समपूरि देवः ॥

आशय—न जाने महाराज अर्णोराज के किस सुंदर स्थिर लग्न में यह रण-महोत्सव प्रारंभ हुआ था जो अब भी म्लेच्छों की यात्रा को रोक सारी पृथ्वी पर ज्यों का त्यों व्याप्त हो रहा है। वह भूप्रदेश, जहाँ अपवित्र सेना मारी गई थी, कंक पक्षियों, कौओं और शृगालों आदि के झुंडों के मिलने तथा बिछाने से नरक हो गया था। राजा ने दुर्गंधि की अधिकता के कारण उद्वेग-उत्पादक एवं साक्षात् रौरव नरक जैसे बने हुए उस स्थान की विशुद्धि के लिये कीर्ति रूपी परदे से ढके हुए क्षीर समुद्र को भी लज्जित करनेवाला एक तालाब* बनवाया और उसे पुष्करारण्य में विहार करनेवाली इंदु नदी (चंद्र नदी)† से वैसे भर दिया, जैसे भगीरथ ने मंदाकिनी से समुद्र को भर दिया। परंतु जहाँ सगर के पुत्रों के दुर्भाग्य से शंकर के शिखर (गंगा) का सुधा-सदृश जल खारा हो गया था, वहाँ अर्णोराज के पुण्य प्रताप से शाकम्भरी क्षेत्र को पाकर भी उस तालाब का जल सुधा सदृश रहा। उसने अपने पिता अजयराज के नाम से 'वारुण वाणलिंग' सहित एक बहुत ऊँचा मंदिर बनवाया। जैसे भूतल और स्वर्ग से उत्पन्न गंगा और चंद्रकला के साथ शंकर ने विवाह किया था, वैसे ही मरुभूमि की राजकन्या सुधवा और गुजरात के जयसिंह राजा की पुत्री काञ्चन देवी से अर्णोराज ने विवाह किया।

* यही वह तालाब है जो "आना सागर" कहलाता है। इसके पास का बाग, जो दौलत बाग कहलाता है, जहाँगीर ने और संगमरमर की बारहदरियाँ उसके लड़के ने बनवाई थीं। शोक का विषय है कि अर्णोराज के जीवन को साक्षात् रखनेवाला यह आनंद स्वरूप सरोवर ८०० वर्ष की आयु पाकर अब जीवनशून्य सा हो रहा है।

† अब इस नदी को बाँडी नदी कहते हैं और यहाँ से आगे बढ़ने पर यह लूनी कहलाती है।

मन का संदेह दूर नहीं होता, क्योंकि "तदस्ति किञ्चन्नहि जीवलोके प्रियवदाना न यदीरणीयम्"। दुनिया में खुशामदी क्या क्या नहीं कहते। आप विधाता के व्यवहार के उपदेष्टा हैं, अत मुझ से इस विषय में संदेहरहित यथार्थ वचन कहिए, क्योंकि मैं तो इस कलि-काल में भगवान् के अवतार होने को आकाश में चित्रकर्म, मरुस्थल में कल्पवृक्ष और पाताल में सूर्योदय के समान समझता हूँ। इस कलियुग में भला किस के ऐसे पुण्य हैं कि भगवान् उसकी कुक्षि को ऐसे पवित्र करें। जयदेवसिंह (जयसिंह) की ऐसी सकल्प विकल्पात्मक बातें सुनकर ज्योतिषी हँसे और कहने लगे कि सुनो (लका से लौटने पर) भगवान् रामचद्र ने माता के चरणों में अपना शिर नवाया। तदनतर सुग्रीव और विभीषण ने भी वैसा ही किया। तत्पश्चात् एक चरण में हनुमान और दूसरे में लक्ष्मण ने अपना सिर झुकाया। उस समय कौसल्या ने सहसा अपना पाँव खींच लिया और कहने लगीं—हे तपोधन, तुम तो मेरे बहुमान-पात्र हो। उस प्रसग में कौसल्या ने लक्ष्मण के हृदय पर मेघनाद की मारी हुई शक्ति का सूक्ष्म व्रण-चिह्न देखा और व्याकुलता के साथ पूछा कि वत्स! यह क्या है? यह पूछने पर भी लक्ष्मण ने अपनी प्रशसा से सकुचित हो कुछ न कहा और उस व्रण को निवारण करने के लिये द्रोणाद्रि पर्वत को लानेवाले हनुमान भी, यह समझकर कि मेरे उपस्थित होते हुए भी कुमार लक्ष्मण को युद्ध करना पड़ा, लज्जित हुए। तब राम ने किस प्रकार शक्तिपात हुआ था और किस प्रकार हनुमान ने धन्वन्तरि बन लक्ष्मण की सहायता की, यह सब माता से विस्तारपूर्वक कहा और इन दोनों का अतुलित गुण गान करते हुए कहा कि हे माता! मेरी अब यही इच्छा है कि जैसे तुम अग्रज की इस अनुज ने सेवा की है, वैसे मैं लक्ष्मण का अनुज बन उसकी सेवा कर उऋण होऊँ। मैं इन भोग विलासों को व्यर्थ समझ इस लक्ष्मण की सेवा करता हुआ जटा जूट फेंक काषायधारी (वानप्रस्थ) बनूँ।

यह सुन लक्ष्मण ने कहा कि मुझे भोग की इच्छा नहीं है। मेरी तो वस्तुतः यह इच्छा है कि मैं सहस्र मूर्धावाला भोगी (शेषनाग) बन आनन्द-कन्द रामचंद्र के चरणारविंद से पवित्र की हुई पृथ्वी को अपने सहस्र शिरों से स्पर्श करूँ। हे राजन्! इस वार्तालाप का ही कृष्ण और बुद्ध अवतार रूप परिणाम है। कौसल्या दो पुत्रों को पुनरपि कैसे उत्पन्न करेगी, इस वार्ता को, हे राजन्! आप सावधानी से सुनो। देखो, यह चंद्रमा * त्रिलोकी का प्यारा नेत्र है, ब्रह्मादिकों का वाम नेत्र है, अत्रि मुनि और समुद्र का अयोनिज पुत्र है।

मयाष्टधा लोकहिताय चक्रे
कृता तनुष्षोडशधा त्वयैव।
इतीव यो मूर्धनि धारणीयः
परिश्रमज्ञेन महेश्वरेण॥

आशय—शङ्कर भगवान् ने यह समझकर कि मैंने संसार के हित के लिये अपने तन को आठ † भागों में बाँटा; परंतु इस (चंद्रमा) ने तो अपने तन के मुझ से दुगुने अर्थात् सोलह भाग कर डाले, चंद्रमा को अपने मस्तक पर धारण किया।

उस चंद्रमा के प्यारा बुध उत्पन्न हुआ।

पक्षस्थिते दैत्यगुरौ विवाद
कृत्वा समं वाक्पति नान्वयार्थे।
य एव लेभे विजयप्रशस्तिं
श्रेयान्हि राज्ञः कविपक्षपातः॥

---

* यहाँ से कवि चन्द्रवंश का वर्णन यह बतलाने को करता है, कि चन्द्रवंश में कौसल्या जन्म लेगी। उसका विवाह सोमेश्वर के साथ होगा और उससे राम लक्ष्मण रूप पृथ्वीराज और हरिराज दो पुत्र उत्पन्न होंगे।

† शङ्कर के आठ भागों से पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, यजमान, सूर्य्य और चन्द्र से अभिप्राय है, जैसा कि शकुन्तला का नान्दी में भी "प्रपन्नाभि प्रपन्नस्तनुभिर वतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः" निर्देश किया है। चंद्रमा के १६ भाग उसकी षोडश कलाएँ हैं।

आशय–जब चंद्र और बृहस्पति में पुत्रार्थ विवाद हुआ, तब चंद्र की ही, जिसके पक्ष में शुक्र (कवि) थे, विजय हुई। अतः राजा को कवि का पक्षपात करना लाभदायक है।

उस चंद्रवंश में उर्वशी का पति पुरूरवा सुप्रसिद्ध चक्रवर्ती राजा हुआ। हरिश्चंद्र को नीचा और त्रिशंकु को ऊँचा करनेवाले विश्वामित्र, चक्रवर्ती भरत और सहस्रबाहु कार्तवीर्य भी उसी वंश में हुए। कार्तवीर्य कलिचुरि नाम से भी प्रसिद्ध हुआ।

तदनंतर उसी वंश में साहसिक नाम का एक राजा उत्पन्न हुआ वह बड़ा युद्ध-विचक्षण था। उसकी तलवार साक्षात् कालीदेवी थी। वह अपनी राजलक्ष्मी, तपस्वी वामदेव को गुरुदक्षिणा में देकर दिग्विजय के लिये निकला। उस भूपाल चूडामणि के तत्त्व को दैव भी नहीं जानता; फिर बिचारे मुग्ध चूडामणि नामक दैवज्ञ की तो क्या कथा! वह भ्रमण करता हुआ त्रिपुरी में सायंकाल के समय पहुँचा और उसने श्मशान की ओर से एक आर्तनाद सुना और वहाँ पाश खींचे हुए कालदूतों के समान तलवार हाथ में लिए कुछ पुरुषों से बाल पकड़े हुए एक मनुष्य को देखा, जिसकी वहाँ बलि होनेवाली थी। वह मनुष्य आक्रंदन कर कहने लगा—

> यः कोपि वा साहसिकोस्ति लोके
> यस्यास्ति वा क्षत्रियतावदाता।
> कृपाकृपाणाभरणोस्ति यो वा
> स पातु मां मृत्युभयादमुष्मात्॥

आशय–जो कोई साहसिक हो अथवा शुद्ध क्षत्रिय हो अथवा दयाखड्ग से भूषित हो, वह मुझको इस मृत्युभय से बचावे।

यह सुनते ही राजा साहसिक ने कहा—अरे अधम लोगो! तुम तुरंत इसे छोड़ दो; नहीं तो मैं अभी तुम्हारे प्राण ले डालूँगा।

यहाँ पर यह सर्ग खंडित हो जाता है। साहसिक का आगे का वृत्तान्त अज्ञात रह जाता है।

ज्योतिषी ने क्रमशः यही उपक्रमण किया होगा कि कौसल्या अब अचलराज की पुत्री कर्पूरदेवी के रूप में उत्पन्न हुई है।

सातवाँ सर्ग—श्लोक ५१

इस सर्ग के प्रारंभ के कुछ श्लोक विद्यमान नहीं हैं। इस समय जो श्लोक उपलब्ध हैं, उनमें यह वर्णन है कि एक ज्योतिषी राजा जय-सिंह को (भवानी का) कुम्भोदर नामक गण बतलाता है और कहता है कि एक समय आप जय सिंह का रूप धारण कर हिमाद्रिलताओं की रखवाली कर रहे थे, तब आपके स्वरूप से भयभीत हो इन्द्र का ऐरावण हाथी बहुत चिल्लाया, जिसके कारण सभा में जो एक नवीन कथा प्रसंग हो रहा था, वह भंग हो गया। पार्वतीने उसे गजानन का आक्रन्दन समझ आपको शाप दिया कि जैसे तू स्वतन्त्रता से राजा के समान इस वन में क्रीड़ा करने को प्रवृत हुआ है, वैसे महेश्वर के चरणों से दूरवर्ती होता हुआ तू भूतल में राजा ही हो। इस दुर्घटना के होने पर आपके निकुम्भ नामक मित्र ने सविनय गौरी से शाप की अवधि पूछी, जिसका उत्तर उसे यह मिला कि कलियुग में भी श्रीराम अवतार लेंगे। उस अवसर पर इस शाप को इति हो जायगी। इस वार्ता में आस्था करते हुए राजा जयसिंह ने षड्ङ्ग बल से राजाओं को जीता और अष्टाङ्ग बल (योग बल) से स्फटिकाचल (स्वर्ग) को प्रस्थान किया। तदनन्तर उसका उत्तराधिकारी गुर्जरराज-मुकुटमणि कुमारपाल उस (जयसिंह) की पुत्री कांचन देवी के कुमार सोमेश्वर का पालन करता रहा, जिससे उसका कुमारपाल नाम सार्थक हुआ। सुधवा के प्रथम पुत्र (जगद्देव) ने तो अपने पिता अर्णोराज की वही सेवा की, जो परशुराम ने अपनी माता की की थी। स्नेहमय जनक का नाश कर, न केवल उसने अपनी निर्गुणता सिद्ध की, अपि तु अपना ही नाश कर बुझे हुए दीपक के

समान दुर्गंध पीछे छोड़ गया। कुमारपाल ने सोमेश्वर की वीरता से प्रसन्न होकर उसको तनिक भी अपनी आँखों के सामने से अलग नहीं होने दिया। सोमेश्वर ने कुङ्कण की चढ़ाई में एक हाथी से दूसरे हाथी पर कूदते हुए वहाँ के राजा (मल्लिकार्जुन) की तलवार छीनकर उसी से उसका सिर काट डाला। फिर सोमेश्वर ने त्रिपुरी* के राजा तेजल की पुत्री कर्पूर देवी से विवाह किया और उनका पारस्परिक प्रेम बहुत सराहनीय रहा। कालांतर में रानी गर्भवती हुई। उस समय भौम मकर में, शनि कुम्भ में, शुक्र मीन में, सूर्य मेष में, शशि वृष में और बुध मिथुन राशि में था। शेष ग्रहों के वर्णनात्मक भाग नष्ट हो गया है।

रानी क्रमशः पाण्डुवर्ण, कृश-शरीर और मंदाग्निवाली होने लगी और लोगों से उसने जब सुना कि तुम्हारा पुत्र निखिल भुवि का भोक्ता होगा, तब वह मिट्टी का आस्वादन करने लगी। उसके स्तन श्याम-मुखवाले और उसकी गति मंद होने लगी। यों वैशाख का महीना समाप्त हुआ और ज्येष्ठ मास की द्वादशी को उसके सर्वश्रेष्ठ, पराक्रमी, रूपराशि पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ।

आठवाँ सर्ग—श्लोक १०२

राजकुमार के उत्पन्न होने पर स्वर्ग और पृथ्वी पर नाना प्रकार के हर्षोत्सव होने लगे। आकाश में अप्सराओं का गान सुनाई पड़ने लगा, दिव्य दुन्दुभियाँ बजने लगीं और पुष्प-वृष्टि प्रारंभ हुई। पवन और पावक निरुपद्रव विहार करने लगे और शशि सूर्य मानों अपने कुल के उत्कर्ष को देखते हुए यश और प्रताप के भाजन बने।

गुणवद्भिर्वृता लक्ष्मीः पयोरम्मक्प्रसूतिभिः।
इति नैमल्यमाजग्मुरव्याज सलिलाशया॥

* तेवर नाम से जबलपुर के निकट प्रसिद्ध है। यह कलचुरियों की एक शाखा की राजधानी थी।

आशय—जलाशय भी मानों इस विचार से कि हमसे उत्पन्न हुए इन गुणवान् कमलों से लक्ष्मी वर ली गई, निर्मलता को प्राप्त हुए।

पृथ्वी ने भी इस स्पर्धा से कि राजमहिषी के यहाँ जगन्निधि विष्णु उत्पन्न हुए हैं, हेम-कुम्भ प्रकट किया। धर्म-कर्म आदि क्रियाओं के विघ्न-विदारक कुमार के जन्म से सभी याज्ञिकों की अंतर-आत्मा आनन्दित हुई। राजा ने अदेय (जो छत्र और चामर) थे, उन्हें भी देकर पितृ-ऋण का निस्तार कर डाला। यों बहुत धूम धाम से पुत्र-जन्म-महोत्सव मनाकर सोमेश्वर देव ने भी—

पृथ्वीं पवित्रतां नेतुं राजशब्दं कृतार्थताम्।
चतुर्वर्णधनं नाम पृथ्वीराज इति व्यधात्॥

आशय—पृथ्वी को पवित्र करने के लिये, एवं राज शब्द को चरितार्थ करने के लिये राजकुमार का चतुरक्षर "पृथ्वीराज" नाम रक्खा।

धात्री ने श्रीखंड के समान श्वेत और कस्तूरी से लिप्त अग्र-भागवाले स्तन कुमार को पिलाए। धात्री के कंठाभरण के मुक्ता मणि को हाथ से पकड़ते हुए उस बालक ने मानों गिरि और सागर के सार को अपने हाथ में ग्रहण किया। बार बार "पर्वते पर्वते रामः" यह वचन धायों द्वारा शुकों को सिखाए जाते हुए सुन पूर्व जन्म स्मरण करता हुआ कुमार प्रसन्न हुआ। कुमार के कंठ में दशावतार-आभरण (अर्थात् ऐसा कंठा जिस में दश अवतारों के चित्र थे) पहनाया गया और उसमें व्याघ्र-नख भी लगाए गए। तदनंतर चूड़ाकरण संस्कार किया गया।

कुछ दिन बाद रानी पुनरपि गर्भवती हुई और माघ मास के शुक्ल पक्ष की तृतीया के दिन दूसरा पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ, जिसका नाम "हरिराज" रखा गया। यों अपने भाई के पुत्रों से इस पृथ्वी को सुरक्षित समझ विग्रहराज शिवलोक पधार गए और उनका पुत्र अपर गांगेय भी, जो वीरत्व और ब्रह्मचारित्व से द्वितीय भीष्म सा था, इस लोक को त्याग गया। विद्या-विलासी विग्रहराज के स्वर्ग को सिधारने पर "कविबान्धव

इत्यर्क भूमावरारणं पद्मम्" 'कवि बान्धव' उपाधि पृथ्वी पर निराश्रय रह गई। अर्णोराज के पितृहंता पुत्र (जगदेव) का पुत्र पृथिवीभट भी मानों अपने चचा विग्रहराज को लौटा लाने के लिये यहाँ से प्रस्थान कर गया। अब राजलक्ष्मी इस सुघवा-वंश को, जिसमें से पुरुष रूपी मोती शनैः शनैः गिर रहे थे, त्याग कर सोमेश्वर के दर्शनों की अभिलाषिणी हुई। फिर महामात्य लोग सोमेश्वर को उसके दोनों राजकुमारों सहित सपादलक्ष देश में ले गए। इस प्रकार लक्ष्मी रूपी कर्पूर देवी, दान और भोग रूपी अपने दोनों पुत्रों (पृथ्वीराज और हरिराज) को साथ ले अजयराज के नगर में पधारी। सोमेश्वर ने उस स्थान पर, जहाँ पर उसके पिता और भाई ने प्रासाद मात्र बनाया था, अपने पिता के नाम से एक नगर बसाया। विग्रहराज ने जितने गिरि-दुर्ग नष्ट किए थे, उतने ही उस (सोमेश्वर) ने प्रासाद (देवालय) बनवाए, और उनके बीच में "वैद्यनाथ" का बड़ा प्रासाद बनवाया। वहाँ उसने अपने पिता की घोड़े पर बैठी हुई मूर्ति बनवाई और उसके सामने एक अपनी धातुमय मूर्ति विराजमान करवाई। उसने एक मंदिर में तीनों (ब्रह्मा, विष्णु और महेश) देवों की मूर्तियाँ पधराईं। उसने अजयमेरु में पाँच देवालय बनवाए, जिनके कल्पवृक्ष के समान होने से अजयमेरु दुर्ग सुरद्रुमवाले सुमेरु के मद को पराजित करने लगा। उसने गङ्गानक ग्राम* में अनेक देवालय बनवाए, जिनके कारण मानों देवपुरी अमरावती की जनसंख्या न्यून होने लगी। पितृऋण से उत्तीर्ण हो पितृ-दर्शनाभिलाषी सोमेश्वर अपनी व्रतचारिणी महिषी कर्पूरदेवी की संरक्षा में अपने बालक पुत्र पृथ्वीराज को छोड़ स्वर्ग लोक को सिधारा। वहाँ एक पितृ-वैरि (जगदेव) को छोड़कर—जो लज्जा के कारण कहीं अंध तामिस्र में मग्न था—चाहमान से लेकर पृथ्वीभट पर्यंत सब के सब उसके वंशवाले उससे मिले। इंद्र ने

---

* इसे आजकल गंगवाणा कहते हैं। यह अजमेर से छः मील पीन दूर है।

मेघों से गगनस्थली आच्छादित हो जाती है, वैसे ही शरद ऋतु में धानों से भूमि आच्छादित हो जाती थी। यज्ञों द्वारा अग्नि और वसन्त के अधिदेवता (अग्नि) को आहुति मिलते रहने से न वृक्ष पुष्पहीन हुए, न ग्रीष्म में पर्वतों में आग लगी, न अतिवृष्टि हुई, न अनावृष्टि, न हरिणों ने खेती को बिगाड़ा, न हानिकारक पवन चली और न पाला पड़ा।

वपुषा जितोऽप्यनुचरीकृतस्तथा
युवभिर्यथा परकलत्रदर्शने।
परिहृत्य कार्मुकशरौ करद्वया-
दपिदधाति दृष्टिमिव पुष्पसायकः॥

आशय—बेचारा कामदेव पृथ्वीराज के शरीर-सौन्दर्य से ऐसा जीता गया और ऐसा दास बनाया गया कि वह अपने हाथों से तीर कमान फेंक युवाओं की दृष्टि को अपने हाथों से ढकता फिरता था अर्थात् कोई तरुण पुरुष कामी होकर पर-स्त्री-दर्शन नहीं करता था।

प्रति दिन स्थान स्थान में नए नए देवालय बनते थे। चत्वरों में द्विज वेद पाठ करते थे।

गणनातिगान्युपवनानि वापिका-
स्सरसीः प्रपाश्च दधती वसुन्धरा।
दिननायकस्य जगदेकचक्षुषो-
प्यधुनाश्नुते दशमभागदृश्यताम्॥

पृथिवी तथा सरसतामुपागता
नृपतेर्यशोभिरमृतातिशायिभिः।
समुदेति हस्तयुगमात्रकायया
प्रतिकूपकं जितरसायनं पयः॥

आशय—उपवन (बगीचे), बावड़ियाँ, तालाब और प्याऊ तो इतने असंख्य थे कि उनके कारण सूर्य नारायण पृथ्वी का दसवाँ

भाग मात्र देख सकते थे। भूमि में कुछ ऐसी सरसता आ गई थी कि केवल दो हाथ की नीचाई में ही वृक्षों में अमृत को भी जीतनेवाला जल निकल आता था। मलिम्लुच (चोर, मलमास) अर्थात् मलमास को छोड़कर अन्य कोई चोर नहीं था, अत ब्राह्मणों के बालक तृतीय सवन में वेदध्वनि द्वारा कलि (चोर और कलियुग) से वहाँ रक्षा करते थे। राजा की प्रतापाग्नि के सामने किसी का शस्त्र नहीं उठता था। कहाँ तक कहें, जैसे वरुण, प्रभंजन, हुताशनादि अष्ट मूर्ति शिव को सेवती हैं, वैसे ही उन्होंने इस राजा को सेया। रुद्रतेजमय महि-महेन्द्र (पृथ्वीराज) की माता ने अपनी ओर से एक नगर बसाया। यों कलियुग में भी पृथ्वी ने रामराज्य की सी सुख-सपत्ति भोगी। यह सब कर्पूरदेवी के पातिव्रत के पुण्य का परिणाम था। पृथ्वीराज के मन्त्री कदम्बवास को, जो सोने के से रंगवाला था, लोग हनुमान मानते थे और वह भली भाँति दशों दिशाओं में राजा के यश की रक्षा करता था। उस निपुण मन्त्री ने समस्त उपायो (साम, दामादि) से ऐसे काम किए, जिनके कारण यौवनोचित विजयों को पृथ्वीराज ने बाल्यावस्था में ही प्राप्त कर लिया। शेषजी ने दो सहस्र जिह्वाओं द्वारा जिन जिन विद्याओं का उपार्जन किया, वे सब की सब मिलकर पृथ्वीराज के मुख में आश्रय करती थीं। धनुर्विद्या में तो वह इतना प्रवीण हुआ कि स्वय कामदेव यह विचार कर, कि यदि मैं इस धनुर्विचक्षण से चाप कला सीख लूँ तो शिव से निर्भय हो जाऊँ, उसकी सेवा में उपस्थित हुआ। राजा ने अश्वों और हाथियों के नियन्त्रण में भी अपूर्व सिद्धि प्राप्त की और तलवार चलाने तथा अचूक निशाना लगाने में वह बड़ा ही विचक्षण हुआ। वह विनयानुगत यौवन सपन्न राजा समस्त राजविद्याओं में पारगत हुआ।

स पुनर्मदनजसुतासुतो भव--
न्द्विभुजोऽपि रक्षति चराचरं जगत्।

इति वार्तया कृतकूतूहलः क्रमा-
भ्दुवनैकमल्ल इति बन्धुरागयौ ॥

आशय—मेरे बड़े भाई की पुत्री का पुत्र अर्थात् पृथ्वीराज अकेला ही सारी पृथ्वी का भार उठा रहा है, यह मन में विचार कर भुवनैकमल्ल भी वहाँ (अजमेर) आ गया।

पृथ्वीराज का भाई हरिराज भी क्रमशः बड़ा हुआ। पूर्व काल में मेघनाद ने सर्पास्त्र-द्वारा रामलक्ष्मण को पीड़ा पहुँचाई थी। यही विचार कर मानो गरुडरूपी भुवनैकमल्ल रामलक्ष्मण के अवतार रूपी इन दोनों भाइयों के पास रहकर सेवा करने लगा, और उसने नागों (नागवंशियों) को वश किया। अचलराज की पुत्री कर्पूरदेवी अपने दोनों पुत्रों से ऐसे सुशोभित हुई जैसे पार्वती गणपति और कुमार से।

दसवाँ सर्ग—श्लोक ५१

पृथ्वीराज के लोकोत्तर यौवन को सुनकर सब राजकन्याएँ उसकी कामना करने लगीं। अनुकूल विधि ने बहुत बार पृथ्वीराज के लिये रण-महोत्सव उत्पन्न किए। एक बार भाग्यशाली और बलशाली राजा विग्रहराज के विवेकशून्य पुत्र नागार्जुन ने "गुडपुर" पर चढ़ाई की। समाचार सुनते ही भुवनैकमल्ल और कदम्बवास को साथ में लेकर पुरुषार्थी पृथ्वीराज ने बहुत से हाथी, घोड़े, ऊँट, बैल और पैदल सेना सहित तुरंत युद्ध के लिये प्रस्थान किया। सेना के पटह आदि बाजों की घनघोर ध्वनि प्रारंभ हो गई और वैजयन्ती पताकाएँ फहराने लगीं। विपक्षी सामना नहीं कर सके और परिणाम यह हुआ कि—

अवनिपतिभयादुपेत्य पार्श्व
सह चलता कलिनेव दत्तशिक्षः।
दयितमपि विमुच्य वीरधर्मं
कचिदपि विग्रहराजभूरयासीत् ॥

आशय—विग्रहराज के पुत्र नागार्जुन ने मानो पृथ्वीराज से भयभीत होकर अपने साथ साथ चलनेवाले कलि से सलाह करके प्यारे वीरधर्म को भी छोड़ दिया, अर्थात् वह रण से भाग गया।

स्वामी-हीन-समूह बिना सिरवाले शरीर के समान होता है, यह कहावत सत्य सिद्ध हुई; क्योंकि नागार्जुन के भाग जाने पर उसके भटो के सिर सहज मे ही छेद दिए गए और पृथ्वीराज नागार्जुन की माता को कैद कर अपने साथ ले आए और सुभट शत्रुओं के मस्तक अजयमेरु दुर्ग के तोरण पर रखवा दिए।

पश्चिमोत्तर दिशा मे, जो घोडो के लिये सुप्रसिद्ध है, गर्जन देश गोरी के हाथ आ गया था। उसने यह सुनकर कि पृथ्वीराज ने म्लेच्छो का नाश करने की प्रतिज्ञा की है, एक दूत भेजा। इस दूत का सिर गजा था और ललाट अति विशाल था, मानों विधाता ने निरवधि कपिला वध की प्रशस्ति लिखने के लिये ही उसे इतना विस्तीर्ण बनाया हो। उसकी दाढ़ी, पलक और केश उस देश की द्राक्षा (अंगूरों) के समान कपिल वर्ण के थे। उसके चिकुरों (सिर के केशों) के साथ साथ उसके मूर्धन्यवर्ण (ट, ठ, ड, ढ, ण) भी लुप्त हो गए थे। वह कोढ़ी सा दिखाई देता था और काला चोगा पहने हुए था। (यहाँ से आगे दो तीन पन्ने गल गए हैं, अतः दूत के वार्तालाप आदि का पता नहीं चल सकता।)

इसके आगे नड्वल (नड्डूल, नाडौल) नामक दुर्गपर असुरों की चढ़ाई का हाल सुनकर पृथ्वीराज का क्रुद्ध होना बतलाते हुए इस सर्ग की समाप्ति होती है।

ग्यारहवॉ सर्ग—श्लोक १०५

पृथ्वीराज को बहुत क्रुद्ध हुए देख धीर वीर कदम्बवास मंत्री ने कहा–

राजन्नवसरो नाय रुषां भाग्यनिधेस्तव।
किं क्रमेलकभक्ष्येषु तार्क्ष्यः फणिषु कुप्यति॥

आशय—राजन् ! आप जैसे भाग्यशाली के लिये यह रोष करने का अवसर नहीं है। भला, जिनको ऊँट भी खा जाय, ऐसे सर्पों पर गरुड़ अपना पराक्रम क्या दिखलावे !

जैसे तिलोत्तमा के लिये सुन्द और उपसुन्द नष्ट हुए, वैसे ही मनोज्ञ लक्ष्मी के उद्देश्य से आप के शत्रु स्वयं नष्ट हो जायँगे। मंत्री यह कह ही रहा था कि प्रतिहार ने आकर निवेदन किया कि गुर्जरमंडल से पत्र लिए हुए एक दूत आया है। राजा ने उसे तुरंत अन्दर बुलवाया और उससे गुजरात के राजा-द्वारा गोरी सुलतान का घोर पराभव सुना।

द्विजराजो मम भ्राता द्विजराजाश्रयः पतिः।
कथं मातङ्गसङ्गो मे न्याय्य इत्युज्झितं श्रिया॥

आशय—वस्तुतः लक्ष्मी ने यह देखकर, कि द्विजराज (चंद्रमा, ब्राह्मण) मेरा भाई है और द्विजराज (ब्राह्मण, गरुड़) मेरे पति का वाहन है, मैं भला मातङ्ग (चांडाल) के साथ क्योंकर रहूँ, उस गोरी को छोड़ दिया।

तदनन्तर पृथ्वीभट ने कहा कि राजन् ! आपको, कदम्बवास जैसा कार्य-साधक मंत्री पाकर, अपना धन्य भाग समझना चाहिए। तिलोत्तमा के समान यह पृथ्वी एवं राजलक्ष्मी आपमें अनुरागिणी है। यह सुनते ही पृथ्वीराज ने पूछा कि यह तिलोत्तमा कौन है ? पुरावृत्तज्ञान में व्यास के समान वन्दी पृथ्वीभट ने उत्तर दिया कि राजन् ! उस त्रिभुवन-विहार-रंगस्थली के विषय में मैं क्या कहूँ ! हे देव ! जहाँ आपके पूर्वजन्म का चरित चित्रित किया हुआ है, वहाँ तनिक निहारिए। वह सीता की भी प्रतिस्पर्धिनी है। इन वचनों को सुन तिलोत्तमा के दर्शनाभिलाषी पृथ्वीराज ने गुजरात के राजा के दूत को संतुष्ट कर विदा किया और मंत्री को भी सीख दी। फिर पृथ्वीभट के साथ चित्र-मंडप में गया। वहाँ पर पृथ्वीभट ने रामाव-

तार के पूर्व चरित की प्रायः प्रत्येक घटना के चित्र राजा को दिखलाए। (इसका वर्णन जयानक ने इस सर्ग के २५ वें श्लोक से लेकर ९९ वें श्लोक तक किया है। ये बातें लोक-विदित हैं, अतएव इनको यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं है।) अंत में रावण के संहार के पश्चात् राम के राज्याभिषेक का वर्णन कर कवि लिखता है—

आ देवाद्दिवसेश्वराद्दशरथं यावत्सदेश्ये कुले
सर्वस्मिन्ननरण्यमन्युशमने प्रस्ताविते नाटके।
स्वत्र स्वत्र महर्षिरेष भरतः पात्रक्रमे मेनका-
मुख्यानाममरावतीमृगदृशां शिक्षागुरुर्लक्ष्यते॥

आशय—यह देखिए, सूर्य से लेकर महाराज दशरथ तक ये सब आपके पूर्व पुरुष आकाश में विराजमान हैं। "अनरण्यमन्युशमन" नाटक खेला जानेवाला है। अतः देखिए। ये महर्षि भरत मेनकादि अप्सराओं को पात्रक्रम में जमाते हुए दिखलाई दे रहे हैं। और देखिए, वही यह तिलोत्तमा है जिसके लावण्य के पीछे सुन्द और उपसुन्द कट मरे थे। यह सीता का अभिनय करेगी। पृथ्वीभट के मुख से पूर्वजन्म का चरित्र सुन राजा उत्कण्ठित हुआ और चित्रस्थित तिलोत्तमा ने राजा को भी चित्रस्थित के समान कर दिया।

बारहवाँ सर्ग—श्लोक ७८

अमृत पुष्करिणी तिलोत्तमा के दर्शन से पृथ्वीराज महाराज की दर्शन-तृप्ति नहीं हुई। राजा के नयन, श्रवण और मन में कामदेव सहसा ऐसा प्रदीप्त हुआ कि मानो युगपत् अपने पाँचो बाणों को लक्ष्य पर मार कृतकृत्य हो चुका हो। मैंने पिनाकी के अग्नि स्वरूप नेत्र में प्रवेश किया और फिर निकल भी आया था, यही सोचकर कामदेव इस प्रबल प्रतापी राजा के पास विना त्रास चला गया। कामदेव यह विचार कर, कि नितान्त उमा का उपकार करने के विचार से

पास आये हुए भी मुझको जिसने जला दिया उस हर को यह पूजता है, उससे युद्ध करने को तत्पर हुआ। चतुर आशुकारी काम ने "मारण" नामक शर के अतिरिक्त शेष चारों (उन्मादन, तापन, शोषण, स्तम्भन) बाण राजा पर मारे, जिसका परिणाम यह हुआ कि तिलोत्तमा चारों द्वारों से राजा के मन में सुदृढ़ विराजमान हो गई। राजा समोहित हुआ, निद्रा से पीड़ित हुआ, सतप्त हुआ और प्रलाप करने लगा एव स्पष्ट रूप से उसके चतुर्भूमिक मनोगृह में अप्सरा तिलोत्तमा ने आत्म-सात्करण प्राप्त कर लिया (अर्थात् अपना प्रभाव जमा लिया)। इन्द्र की अत्यन्त सेवा कर तिलोत्तमा ने एक बार प्रसाद में "अणिमा" शक्ति प्राप्त की थी, उसीके द्वारा उसने राजा के हृदय में प्रवेश किया।

सुवधूपरिरम्भसाक्षिण प्रथमे स्मो वयमेव भूभुज ।
इति नूनमहर्षि रोमभिर्मकराङ्काशुगपत्त्रवात्यया ॥

आशय—तिलोत्तमा के आलिंगन के सब से प्रथम साक्षी हम ही हैं, मानो ऐसा समझ रोम, कामदेव के शीघ्रगामी बाणों के पत्तों की पवन से प्रकम्पित हो, प्रहृष्ट हुए। राजा ने उसे पुरस्थित चित्र की अपेक्षा अपने हृदयरूपी चित्र में कहीं अधिक रुचिर लिखी हुई देख उसको अपनी स्त्री समझा।

पृथ्वीराज की इस सुरसुन्दरी में ऐसी प्रबल आसक्ति देख पृथिवी-भट अपनी करतूत पर पछताने लगा, कि ऐसा अनर्थकारी और संशय-वाला आलेख्य गृह मैंने राजा को क्यों दिखाया, जिसमें घुसते घुसते ही राजा का मन मनोज के शर का लक्ष्य बन गया।

क ललाम तिलोत्तमा दिव प्रभुता च क मनुष्यमण्डले ।
अथवा पुरुषस्य नेदृशी घटनेय पुरुषोत्तम विना ॥

आशय—कहाँ तो स्वर्ग की ललाम ललना तिलोत्तमा और कहाँ इस बेचारे पुरुष लोक में पुरुष की प्रभुता। अथवा पुरुषोत्तम के बिना पुरुष की ऐसी घटना क्योंकर सम्भव है?

यह अनर्थकारिणी मानसिक व्याधि मेरा नाश करने के लिये पर्याप्त थी, यदि इसका मूल कदम्बवास से उत्पन्न न हुआ होता; क्योंकि पहले उसने ही स्वर्गीय तिलोत्तमा की चर्चा की थी; अतएव वही अवश्यमेव शीघ्र ही इस संकट से उद्धार करेगा। क्या ही अच्छा हो, यदि तिलोत्तमा अपने आप ही हमारे स्वामी के महल में आ जाय! क्या इन्दुमती के रूप में स्वर्ग की "हरिणी" नामक अप्सरा ने अज की सेवा नहीं की थी? यों बुद्धि-बल से दुस्तर चिन्ता रूपी समुद्र को पार करते हुए पृथिवीभट को आकाशवाणी ने कहा—

त्वयि पार्थिव चित्रपुत्रिका चिरसंदर्शनश्रद्धलोचते।
स्मयमान इवादिपुरुषो रविरन्तर्गगनं विलम्बते॥

आशय—हे राजन्! वह सुरलोक की कन्या जो चित्र में चित्रित है, तुम्हारे दर्शनों की प्यासी है। तुम्हारा पूर्वज सूर्य आकाश के मध्य मे रथ को ठहराकर तुम्हारे लिये हँस रहा है। अर्थात् मध्याह्न का समय हो गया है।

यदि ये शब्द सीधे राजा से ही कहे जाते, तो काम-मोहित होने से इन पर कदाचित् उसको विश्वास न होता, इसलिये विधाता ने मागध पृथिवी-भट से ही कहे। तिलोत्तमा ने राजा के नेत्रों और चित्त को चुरा रक्खा था, अतएव शेष कर्णादि इन्द्रियाँ भी अपने कामों में प्रवृत्त नहीं थीं। न वह कर्णों से बाहर का अमृत-स्रावी गान सुनता था, न हरिचन्दन से सिक्त शीतल भूतल की लालसा करता था और न ताम्बूल चबाता था। बड़ी कठिनता से वह चित्र-गृह से निकला और उसने मांगलिक आह्निक कार्य किए। वन्दी (पृथ्वीभट) भी राजा को छोड़ उस समय जब सूर्य मन्द-तेज हो गया था, वहाँ से विदा हुआ और नीचा मुख किए हुए मानो पृथ्वी से यह पूछता हुआ कि, वह सुवधू तिलोत्तमा मेरे पालक (राजा) में किस प्रकार अनुरागिणी होगी, चला जाता था। उस घड़ी उसकी दक्षिण भुजा और नेत्र

फड़के जिनमें वह स्वामीभक्त अपनी इष्ट-सिद्धि समझ शिथिल-चिन्ता हो अपने घर पहुँचा। भगवान करे, राजा की मनोकामना शीघ्र सिद्ध हो, यही वह विचार रहा था; इतने में किसी नए आए हुए पंडित के मुख से उच्चारण किया जाता हुआ निम्नलिखित श्लोक उसने सुना—

सलिलादपि निर्ययौ रमा(मा)
धरणेरप्युदपादि मैथिली।
दहनादपि याज्ञसेनिका
किमलभ्यं पुरुषार्थशालिनाम्॥

आशय—देखो! जल से लक्ष्मी, स्थल से सीता और अग्नि से द्रौपदी मिली, तो भला पुरुषार्थशालियों को क्या अलभ्य है?

पृथ्वीभट इन प्रोत्साहनशील शब्दों को सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और विग्रहराज के मंत्री पद्मनाभ को बुलाकर पूछा कि यह श्लोक किसने बनाया है और किसने उच्चारण किया है और यह कौन विपश्चित् बैठा है, जिसकी बड़ी भारी पगड़ी से उसका एक भी केश नहीं दिखाई देता। यह सुन वह बोला कि यह पंडित "महोदय" हैं, यह आपके दो पूर्व प्रश्नों का उत्तर है और यदि मेरे वचनों को सत्य समझें, तो यह कौन है, इस विषय का वर्णन करूँ। पृथ्वीभट ने कहा कि पद्मनाभ! तुम्हारे मुखारविंद में असत्य जलकण क्षणभर भी नहीं ठहर सकते, भला तुमने "यदि सत्य समझो तो" यह क्या कहा। यह सुन वह बोला—"धन्य हैं आप, आप दूसरे के गुणों को प्रकट करने में सूर्य और दूसरे के दोषों को छिपाने में महान् अन्धकार हैं। अच्छा सुनिए, ये शारदाक्षेत्र कश्मीर मंडल से आए हुए निगमागम-पारंगत पंडित और कवि "जयानक" हैं। श्रीशारदा इन्हें, जो पंडित और कवि भी हैं, उत्पन्न कर ऐसी प्रसन्न होती हैं जैसे पार्वती षडानन से"। इतना सुनकर भगवत् पूजन के कल्पवृक्ष के तत्क्षण-प्राप्त पके हुए फल का, जो जयानक कवि-पंडित का दर्शन है, आस्वादन लेने को वह (पृथ्वीभट) पधारा और

उससे सत्कारपूर्वक वार्तालाप करते हुए अपने देश से अन्यत्र यात्रा करने का कारण पूछा। (आगे सारा ग्रंथ नष्ट हो गया है)।

कौन जाने, शेष भाग में कवि ने क्या क्या लिखा था; परंतु जो भाग विद्यमान है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि कदाचित् इसके आगे कवि ने किसी राजकुमारी को तिलोत्तमा का अवतार वर्णन किया हो, जिसके साथ पृथ्वीराज का विवाह हुआ होगा। तदनंतर जलक्रीड़ा, ऋतुवर्णन, चंद्रोदयादि वर्णन, जो संस्कृत के महाकवि किया करते हैं, अवश्य किए होंगे। इसके अतिरिक्त पृथ्वीराज के युद्ध और विजय का वर्णन तो अवश्यंभावी है। उसके बिना तो ग्रंथ का नामकरण ही सार्थक नहीं हो सकता। इतने पर भी ग्रंथ का जो अवशेष विद्यमान है, वह कितनी सारगर्भित एवं गौरवान्वित बातों से ओत-प्रोत है, इसका पता पाठकों को ऊपर दिए हुए प्रत्येक सर्ग के संक्षिप्त विवरण से चल गया होगा।

इस ग्रन्थ का रचना काल ११९१ और ११९३ ई० के बीच अर्थात् पृथ्वीराज महाराज की विजय के पश्चात् और पराजय के पूर्व होना चाहिए।

[इस लेख में प्रत्येक सर्ग के श्लोकों की जो संख्या बतलाई है, वह मूल ग्रंथ के श्लोकों की नहीं, किंतु इस समय जो प्रति प्राप्त है, उसमें बचे हुए श्लोकों की है।]

---

(८) 'सुरे' शब्द की उत्पत्ति

[लेखक—ठाकुर चतुरसिंह, बड़ी रूपाहेली, मेवाड़]

राय बहादुर पंडित गौरीशङ्कर हीराचंद ओझा, राजपूताना म्यूज़ियम अजमेर के मुख्याधिकारी और भारतवर्ष के पुरातत्वज्ञ विद्वानों में से एक हैं। आपने आर्यावर्त के प्राचीन राजवंशों का और विशेषतः राजपूताने के राजवंशों का अत्यन्त श्रम से शोधकर अगणित ऐतिहासिक तत्वों का आविष्कार किया है। इस महान् उपकार से राजपूताने के क्षत्रिय तथा इतिहास-विचाररसिक आपका नाम सादर स्मरण किया करेंगे। उक्त पंडित जी ने नागरीप्रचारिणी पत्रिका के त्रैमासिक नवीन संस्करण, भाग १ में "बापा रावल का सोने का सिक्का" नाम का निबंध बड़ी योग्यता से लिखा है। उसमें जो वृत्ताकार चिह्न है, उसको अनेक युक्तियों और प्रमाणों से सूर्य का सूचक सिद्ध किया है। उसी प्रबन्ध में पृ० २५३-४ में लिखा है—"राजपूताने के राजाओं तथा सरदारों की ओर से ब्राह्मणों, देव-मंदिरों आदि को दान किए हुए खेतों पर उनकी सनदें शिलाओं पर खुदवाकर खड़ी की जाती थीं। ऐसे ही राजाओं की ओर से छोड़े हुए किसी कर आदि के या प्रजावर्ग में से किसी जाति की की हुई प्रतिज्ञा के लेख भी शिलाओं पर खुदवा कर गाँवों में खड़े किए हुए मिलते हैं। उक्त दोनों प्रकार के लेखों को यहाँ के लोग "सुरे" (फारसी शरह) कहते हैं। समय समय पर ऐसे सैंकड़ों नहीं हजारों शिलालेख अब तक भिन्न भिन्न अवस्थाओं में खेतों और गाँवों में खड़े मिलते हैं। ऐसे लेखों में से कई एक के ऊपर के भाग में सूर्य, चंद्र और वत्स सहित गौ की मूर्तियाँ बनी होती हैं।"

इसी प्रकार 'अनंद विक्रम संवत्' पर भी बड़ा विवाद हुआ था

और बड़े बड़े नामी यूरोपीय इतिहासवेत्ता जिसको स्वीकार कर चुके थे, उसको भी सैंकड़ों युक्तियों और प्रमाणों से पं० गौरीशङ्करजी ने " अनंद विक्रम संवत् की कल्पना" नामक विस्तृत लेख में कल्पित सिद्ध किया है और उसकी पुष्टि में जाली पट्टे-परवाने जो पेश किए गए थे, उनकी भाषा और लिपि को अर्वाचीन सिद्ध करने के निमित्त प्राचीन मेवाड़ी भाषा के प्रमाण में वि० सं० १५०६ का महाराणा कुंभकर्ण के आबू पर्वत के शिलालेख का फोटो तथा टिप्पणी सहित नकल नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग १, पृष्ठ ४५० में दी गई है। उसमें भी आप लिखते हैं—"इस लेख की भाषा उन पट्टों की भाषा से बहुत पुरानी है और इस में फारसी शब्द नहीं हैं, केवल सुरिहि फारसी "शरह" का तद्भव माना जा सकता है, जैसा कि टिप्पणी में बतलाया है।" फिर नीचे उसकी टिप्पणी में आपने शब्दार्थ लिखा है,—"सुरिहि- फारसी शरह ? नियम का लेख। (देखो पत्रिका, अंक ३, पृ० २५३-४) रोपावी-रोपी।"—यहाँ पर भी सुरिहि शब्द को फारसी शरह का तद्भव माना है; और साथ ही उपर्युक्त नोट देकर "बापा रावल का सोने का सिक्का" नामक लेख में सुरे की उत्पत्ति फारसी शब्द शरह से मानी है। उसका भी यहाँ पर फिर स्मरण दिलाया है। यद्यपि "शरह" लिखते समय उक्त पंडित जी को भी खटका तो अवश्य हुआ था, क्योंकि टिप्पणी में सुरिहि शब्द का अर्थ लिखते समय संदेह का साङ्केतिक चिह्न (?) शरह के आगे लगाया है, परंतु अधिक अनुसंधान न करके दोनों शब्दों के उच्चारण और अक्षरों की समानता मिल जाने से उसी को ठीक मान लिया।

इतना विस्तार से लिखने का मेरा मुख्य अभिप्राय केवल यही है कि पं० गौरीशंकर जी ने 'सुरिहि' और 'सुरे' शब्दों की उत्पत्ति कुछ संदेह के साथ फारसी शब्द 'शरह' से मानी है। इस पर विद्वानों को पुनः विचार करना चाहिए। मेरी क्षुद्र बुद्धि के अनुसार निवेदन किया

जाता है, कि 'सुरे' नाम के गौ-मूर्तिवाले शिलालेखों के नाम 'सुरिहि,' 'सुरह', 'सुरे' आदि मिलते हैं। उनकी उत्पत्ति फारसी शब्द शरह से नहीं, किंतु संस्कृत शब्द सुरभी (गौ) से होना अधिक युक्ति-सङ्गत है। और ऐसा अनुमान होता है कि प्राचीन काल में वैसे लेख गौ के समान आदरणीय माने जाते हों; क्योंकि यह बात तो समस्त विद्वानों को विदित है कि संस्कृत शब्दों में जहाँ पर "भ" होता है, उसका प्राकृत में प्रायः "ह" हो जाता है। जैसे वल्लभ का 'वल्लह', दुर्लभ का 'दुल्लह,' गर्दभ का 'गदहा', आभीर का 'अहीर' करभ (ऊँट) का 'करहा' इत्यादि। इसी नियम से सुरभी का प्रथम अपभ्रंश रूप 'सुरही' होना चाहिए। इस का प्रमाण प्राकृत व्याकरण अथवा बौद्ध, जैनादि प्राचीन प्राकृत साहित्य में मिलता है। फिर उसका विकृत रूप 'सुरिहि' हुआ हो, जो महाराणा कुंभकर्ण के लेख में दो स्थानों पर लिखा गया है। वही शब्द फिर भी बिगड़कर 'सुरह' और 'सुरे' बोला जाने लगा हो *। इस प्रकार के शिलालेखों का नाम सुरभी (सुरे आदि) रखने का तथा उस पर गौमूर्तियाँ बनवाने का मुख्य उद्देश्य यही प्रतीत होता है कि इसमें जो दान नियमादि लिखे गए हैं, उसका भंग करनेवाले को गौ-हत्या का घोर पाप होगा। इस भाव को पं० गौरीशंकरजी ने भी ना० प्र० प० पृ० २५४ में स्वीकार किया है; और यही बात महाराणा कुंभकर्ण ने प्राचीन मेवाड़ी भाषा के अपने लेख में खुदवाई है। यथा.. ..."यात्रा मुगती कीधी

---

* यह भी अनुमान होता है कि महाराणा कुंभकर्ण के समय जनसाधारण बोल चाल में "सुरही" शब्द ही बोला जाता हो, परंतु भिन्न प्रकार की लेखनशैलीमें 'सुरिहि' लिखा गया हो, क्योंकि इस लेख में प्राचीन मेवाड़ी शैली से अनेक शब्दों में ह्रस्व इकार का अधिक प्रयोग मिलता है, जैसे—'राणा ने' को 'राणि', 'कुंभकर्ण ने' को कुंभकर्णि अचलेश्वर को 'अचलेश्वरि', 'भंडार में' का भंडारि 'सन्निधानि में, को 'सन्निधानि', इत्यादि। उसी समय के आस पास के देशी भाषा के अन्य लेखों में ह्रस्व इकार का, जो तृतीया और सप्तमी विभक्ति का प्रत्यय था, इतना बाहुल्य पाया जाता है।

आघाट थापु सुरिहि रोपावी जिको आ विधि लोपिसिति इहि सुरिहि भाँगी रूँ पाप लागिसि"......अर्थात् यात्रियों को (कर आदि) छोड़ कर जो नियम स्थापित किया है, और सुरिहि ('सुरभी' अर्थात् गौ मूर्ति) रोपी गई है, जो कोई इस विधि को लोपेगा, उसको 'सुरभी भंग' (गौ वध अथवा गौ मूर्ति भंग) का पाप लगेगा। इस लेख से स्पष्ट पाया जाता है कि 'सुरिहि' (सुरे) शब्द गौ-मूर्ति के ही अर्थ में लिखा गया है।

'सुरे' (सुरभी) नामवाले शिलालेखों के वास्तविक अर्थ 'गौमूर्ति' को तो कालांतर में लोग भूल गए, परंतु उसकी पवित्रता का वही प्राचीन भाव हमारे देश में आज तक प्रचलित है। क्योंकि देवमूर्तियों के समान 'सुरे' (गौमूर्ति) का तोड़ना फोड़ना तो दूर रहा, उसको उखाड़कर स्थानांतर में ले जाने में भी महापाप मानते आए हैं; और किसी के उत्तेजना देने पर भी मूर्ख ग्रामीण तक उसको अपने स्थान से हटाने का साहस न करेगा। इसका मुख्य कारण यही है कि जैसे अनेक देवी देवताओं की प्रतिमाएँ होती हैं, वैसे ही इस श्रेणी के दान और प्रतिज्ञा के धार्मिक लेखों को पुराने लोग गौ-मूर्तियाँ मानते थे। इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि किसी शिलालेख पर गौमूर्ति होती है, किसी पर नहीं; फिर भी वे सब गौमूर्तियाँ कैसे मानी जाती होंगी? इसका उत्तर स्पष्ट है कि जैसे देव प्रतिमाएँ दो प्रकार की होती हैं, अर्थात् एक पर सुंदर खुदाई करके भैरव, शिव, देवी, हनुमान आदि का मनोहर रूप दिखाया जाता है, तो दूसरे प्रकार की मूर्तियाँ रूप-रहित ऐसी भी होती हैं कि बिना गढ़े स्थापित की जाती हैं। ऐसे पाषाण खंडों को स्वयंभू मानकर भैरवादि देवों का नाम मात्र रखने से लाखों मनुष्य उन्हें पूजते हैं; अर्थात् रूप (चित्र) से नाम को प्रधानता देते हैं। वैसे ही किसी पर गौमूर्ति हो अथवा न हो, तथापि दोनों प्रकार के शिलालेख केवल 'सुरे'

(सुरभी) नाम देने ही से गोमूर्तियों के समान माने जाते थे। देवमूर्तियों में और इनमें यह अंतर अवश्य पाया जाता है कि उनके समान इनकी सेवा-पूजा नहीं होती होगी। सुरे की पवित्रता और प्रतिष्ठा केवल इसी बात में थी कि वह शिलालेख, और उसमें लिखे गए दान-नियम आदि की प्रतिज्ञा सदा सुरक्षित रहें। और इस भाव का पालन आज तक होता है। *

सुरे (सुरहि) शब्द के गौ के वाचक होने में अब भी किसी विद्वान् को संदेह हो, तो विस्तार भय से केवल तीन चार प्रचलित बोलचाल के प्रमाण देकर इस लेख को समाप्त करता हूँ। हमारे राजपूताने के ग्रामीण कृषिकार जब अपनी प्यारी गायों को प्रीति से आदर देते हैं, तब परस्पर कभी कभी कहते हैं कि "हमारी सुरे माता आज तो खूब चलकर आई है; या, सुरे माता आज कुछ भूखी है।" इसी प्रकार अनावृष्टि के समय भी करुणा से कहते हैं—"अरे भाई, हम पापी नरों के भाग्य से नहीं, तो भी सुरे के भाग्य से तो भगवान वर्षा करेगा।" ऐसे ही हिमालय प्रदेश की पहाड़ी गौ को, जिसकी पूँछ के चँवर बनाए जाते हैं, हमारे देशवासी 'सुरह गाय' अथवा 'सुरे गाय' नाम से पुकारते हैं। इसके अतिरिक्त स्वयं हमारे निवास स्थान "रूपाहेली" के जंगल में एक पुरानी बावड़ी है और उसके पास ही पीपल का बड़ा वृक्ष है। उक्त जलाशय से खेती नहीं होती, केवल गायों को पानी मिलने के निमित्त ही किसी धर्मात्मा ने उसे

---

* सुरे अर्थात् गोमूर्ति बनाने की युक्ति प्राचीन काल के दानग्राही ब्राह्मणादि विद्वानों की निकाली हुई प्रतीत होती है; क्योंकि उनके सहस्रों प्राचीन ताम्रपत्रों के देखने से ज्ञात होता है कि दान में मिली हुई भूमि, ग्राम आदि को अपने वंशजों के अधिकार में दृढ़ रखने के निमित्त सैकड़ों प्रकार की शपथें, प्रतिज्ञाएँ और भीषण पापों का भय उक्त दानपत्रों में लिखवाते थे, वैसे ही गोमूर्ति की युक्ति भी निकाली हो; क्योंकि पंचमहापातकों में सब से बड़े पाप गोघात के भय से कोई बलवान् पुरुष भी उसको छीनने का साहस न कर सके।

बनवाया था। इसको समीपवर्ती गाँवों के समस्त मनुष्य सदा से "सुरे बावड़ी" और वृक्ष को 'सुरे पीपली' कहते आए हैं। ऐसे और भी प्रमाण मिल सकते हैं; इसलिये स्पष्ट विदित होता है कि सुरे शब्द गौ के अर्थ में या गोमूर्ति के अर्थ में ही आज तक प्रयुक्त होता आया है। इसका फारसी शब्द शरह से कोई संबंध नहीं पाया जाता। उपर्युक्त विवेचन से दो प्रकार के ऐतिहासिक तत्त्वों का मौलिक उद्घाटन होता है। अर्थात् एक तो संस्कृत शब्द 'सुरभी' से प्राकृत में 'सुरही' और 'सुरिहि' होकर अंत में 'सुरह' या 'सुरे' रूप व्यवहार में आने लगा। दूसरी नवीन बात यह विदित होती है कि अनेक देव-प्रतिमाओं के समान प्राचीन काल में ऐसे शिलालेख सुरभी नाम से गोमूर्तियों के समान माने जाते थे। पीछे वास्तविक अर्थ भूल जाने से 'सुरे' शब्द की उत्पत्ति में अन्य कल्पना होने लगी; परंतु उसकी पवित्रता का वही प्राचीन भाव सर्वसाधारण में आज तक विद्यमान है। इस निबंध में केवल मेरे निज के विचार, कल्पना और अनुमान लिखे गए हैं। अब सत्यासत्य का निर्णय करना पुरावृत्तवेत्ता पाठकवृंद के अधीन है। *

---

* 'सुरे' शब्द की उत्पत्ति फारसी के 'शरह' शब्द से मानने में हमको भी भ्रम ही रहा, जिससे हमने उसके आगे संदेह का चिह्न रखा था, क्योंकि उस समय तक मेवाड़ की राजकीय लिखावटों में फारसी शब्दों का प्रवेश होना पाया नहीं जाता। परम विद्यारसिक और इतिहासप्रेमी वयोवृद्ध श्रीमान् ठाकुर चतुरसिंह जी ने हमारा यह भ्रम मिटाकर उक्त शब्द की ठीक उत्पत्ति बतलाई, जिसके लिये हम उनके बहुत ही उपकृत हैं। संपादक।

(६) कवि जदुनाथ का 'वृत्तविलास'

(लेखक—राय बहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, अजमेर)

अनुमान १५ वर्ष पहले प्राचीन शोध के निमित्त मेरा जाना भरतपुर राज्य के बयाना नगर में हुआ, जिसका प्राचीन नाम 'श्रीपथापुरी' वहाँ के शिलालेखों में लिखा मिलता है। प्राचीन स्थानों तथा वस्तुओं का निरीक्षण करने के अतिरिक्त मैंने वहाँ के कई एक हस्तलिखित संस्कृत, प्राकृत और हिंदी के पुस्तक-संग्रहों को भी देखा। बोहरा छाजूराम के संग्रह में कई हस्तलिखित हिंदी पुस्तकें भी मिलीं, जिनमें से 'वृत्तविलास' और आनंदराम कृत गीता के हिंदी अनुवाद का पहले पता लगना मुझे मालूम नहीं हुआ था, जिससे मैंने उन दोनों पुस्तकों की आवश्यक टिप्पणी लिख ली। 'वृत्तविलास' हिंदी पिंगल का ग्रंथ है और उसका रचयिता कवि जदुनाथ प्रसिद्ध कवि चंद बरदाई का वंशज था। उसने करौली के राजा गोपालसिंह (गोपालपाल) की कीर्ति को चिरस्थायी करने के निमित्त उक्त ग्रंथ की रचना की और 'गोपालसिंह कीर्ति-प्रकाश' नाम से भी उसका परिचय दिया है। ग्रंथ के प्रारंभ में कवि ने करौली के राजवंश एवं अपने कुल का विस्तृत रूप से परिचय दिया है। ये दोनों विषय हिंदी साहित्य एवं ऐतिहासिक खोज के लिये उपयोगी होने से मैंने उन अंशों की पूरी नक़लें कर ली थीं जो नीचे लिखे अनुसार हैं—

करौली के राजवंश का परिचय

भये कृष्ण के वंश में विजयपाल महिपाल।
तिनके सुत परगट भये तिहुणपाल छितिपाल ॥ ६ ॥
अश्वमेध जिहि जग्य किय दीने अगनित दान।
हेम कोटि दस सहस गो गज सहस्र परिमान ॥ ७ ॥

बीस सद्द (स ह) य सात सै सासन दीने माम।
धर्मपालु तिनके भये भूप धरम के धाम ॥ ८ ॥
कुँवरपाल तिनके भये भूपति वप (रा) तविलास।
अजैपाल प्रगटे बहुरि कर्यो जगत प्रतिपाल ॥ ९ ॥
हीरपाल तिनके भये भूप मुकुट जिमि हीर।
तिनके साहनपालु नृप साहस समुद गँभीर ॥१०॥
अनगपालु नृपु प्रगट हुव तिनके पृथ्वीपाल।
तिनके सुत प्रगटे बहुरि राजपाल महिपाल ॥११॥
तिलोकपाल तिनके भये बापलदेव महीप।
आसलदेव भये बहुरि सहसदेव कुलदीप ॥१२॥
घूघलदेव महीप हुव अर्जुनदेव भुवाल।
भये विक्रमाजीत नृपु तिनके बखतबिलास ॥१३॥
अभेचंदु तिनके भये भूपति पिरथीराज।
तिनके रुद्रप्रताप नृपु भये भूप सिरताज ॥१४॥
चंद्रसेन प्रगटे बहुरि सकल भूमि भरतार।
आयो अकबर साहि जू जा नृप के दरबार ॥१५॥
अकबर बहु विनती करी धर्यो न माथैं हाथ।
देस दिये कर जोरि वन नाते दीनो साथ ॥१६॥
भये भारथीचंद जू तिनके सुव भूपाल।
प्रगटे श्रीगोपाल सम तिनके सुत गोपाल ॥१७॥
भये भूप गोपाल के नृपति द्वारिकादासु।
जाको परगट पुहमि पर भयो प्रताप प्रकासु ॥१८॥
भये बहुरि तिनके तनय ,श्रीमुकुंद महिपालु।
सब जग में परगट भये तिनके नृप जगपालु ॥१९॥
तिनके सुत प्रगटे बहुरि छत्रपाल छितिपाल।
छत्रपती छत्रिनि मनि नृप मनि धारनविलासु ॥२०॥

छंद नाराच

भये महीप धर्मरूप भूप धर्म पालजू।
कृपान दान जा समान आन को भुवालजू॥
लए अनेक जैतपत्र शुद्ध जुद्ध मंडिकै।
दुवेदरीनि (?) जत्र तत्र सत्रु अत्रु छंडिकै॥२१॥
नृपाल धर्मपाल के भुवाल रत्नपालु भौ।
दयाल नदलाल ज्यौं निहाल दीन जालु भौ॥
प्रचंड दोरदंड सौ अखंड भूमि जीतिकै।
दिशा सुपेत मीति सी करी सुनित्य कित्तिकै॥२२॥

दोहा

नित्य नित्य जाको सुजसु बरनि सके न गनेसु।
रतनपाल के सुत भयो कुँवरपाल सुनरेसु॥२३॥

छंद हरिगीत

श्रीकुँवरपाल नृपाल को जसु जग्यौ सकल जिहान में।
कलि करनु सो दुखहरनु असरन सरनु विदित वपा (रा) न में॥
किरवान दान प्रमान जा सम सकति नहिं नृप आन मे।
भुवमान ज्यौं परताप जा सम साहिबी मघवान में॥२४॥

छंद घनाछरी

मही मघवान महीपालु श्रीकुँवरपालु
जाको जस पूरन प्रसिद्ध देस देस भौ।
छीरधि समान हिमवान सानुमान सीत
भान कै प्रमान दीप दीपनि मैं सेस भौ।
भूधुर धरन जदुवंस आभरन कलि-
करन ज्यौं दीन दुप (रा) हरन हमेस भौ।
सपति धनेसु महिमा करि महेसु
बुद्धि के गनेस भौ प्रताप के दिनेस भौ॥२५॥

दोहा

भयो उदय दिन दिन निरषि (खि) बाढ़्यो प्रजनि अनंदु ।
कुँवरपाल कलि करनु भो रतनपाल नृपनंदु ॥२६॥
दुखी न कोऊ देखियै निसि दिनु जाके देस ।
जदुकुल में परगट भयो दूजो भूमि सुरेस ॥२७॥
कुँवरपाल के सुत भये भूपति श्रीगोपाल ।
जदुकुल में फिरि अवतरे मानो श्रीगोपाल ॥२८॥
अरिवर केसी कंस से करिवर वर संघारि ।
द्वै भुज ऐसे देखियै मनौ लसत भुज चारि ॥२९॥
चारों चक्रनि में प्रगट जाको प्रबल प्रतापु ।
विविकर विलसत सहसकर बढ्यो अर्क सम आपु ॥३०॥
सकल अवनि जिहि सोधिकै कालिय से खल काढ़ि ।
भयो चक्रधर सौं धरैं तेग चक्र तैं बाढ़ि ॥३१॥

छंद घनाक्षरी

बाढ्यो जाको चंडु परतापु नव खंडनि में
जगमग्यो जाहिर जिहान जस जालु है ।
दुनी पर दीननि के दारिद बिदारिबे कौ
देवतरु सम देख्यो कर को हवालु है ।
पथ्थ सो समथ्थ श्रीकुवरपालजू को लाल
जासौं जुरि जंग को गहतु करवालु है ।
श्रीजदु-नृपालकुल औतर्यो गुपाल सम
भगतविलास श्रीगुपाल महिपालु है ॥३२॥

सवैया

भूपति में दिपैं भानु समान
प्रताप अँतापनि की अधिकाई ।
जीति लई भुज दंडनि सौं महि
निन्य जगी जग किति जुन्हाई ।

गोद्विज को प्रतिपालु करै
भयो दीनदयालु सदा सुखदाई ।
सिंघ गुपाल नृपाल को हाल
बिसाल बढ़ी पुहमी प्रभुताई ॥३३॥

दोहा

प्रभुताई प्रभु जिमि करै पृथिवीपति गोपालु ।
सुखित रहे निसि दिन प्रजा निरखत बखत बिसालु ॥३४॥
भयो नंदसुत ज्यौं प्रगट कुँवरपाल नृपनंद ।
धर्यो धरम चार्यो चरन ज्याके देस बिलंद ॥३५॥
पूरब उत्तर आदि दे अरु दच्छिन दिस देस ।
सुन्यौ न ऐसो भूमि पर भयो न औरु नरेस ॥३६॥
सरस राजधानी लसै विदित करौरी नाम ।
बसत सकल नर सुखित जहँ पूरि रहे धनधाम ॥३७॥
त्रेता औधिपुरी भयो जैसो रघुवर राम ।
भयो करौरी त्यौं प्रगट नृप गुपाल इह नाम ॥३८॥
जैसी बिलसी द्वारिका श्रीगुपाल प्रभु पाइ ।
तैसी नृप गोपालजुत लसति करौरी आइ ॥३९॥
ज्यौं अंबर अमरावती भोगवती पाताल ।
लसति करौरी भूमिपद त्यौं नृपजुत गोपाल ॥४०॥
प्रजा सुखित दिन रैनि जहँ चारि बरन सुभ कर्म ।
दुखी न कोऊ देखियै चलत आपने धर्म ॥४१॥
रीति जु वेद पुरान की सुनी सकल निरधारि ।
ताही मारग चलत हैं आश्रम बरन बिचारि ॥४२॥

छंद घनाक्षरी

संकर बरन सुन्यौ चित्र रचना में जहाँ
चोरी सुनि यति पर विपत्ति बिलास की ।

धुजिनि में कंपु द्विजकर में कलंकु सुन्यौ
छल सुन्यौ तहाँ जहाँ विद्या इंद्रजाल की ।
वैदक में रोग सुन्यौ सपने वियोगु चित्त
चिंता सुनी जहाँ सबही के प्रतिपाल की ।
औधि की सी रीति अधिकानी जगजानी ऐसी
राजै राजधानी श्रीगुपाल महिपाल की ॥४३॥

दोहा

कच चक्रपानी मैं सुनी जहाँ कालिमा नाहिं ।
कनकदंड लखियै जहाँ एक छत्र हीं माहिं ॥४४॥
मुखर जहाँ नूपुर सुनै चरचा में दिढ़बंध ।
अश्रु होत मख-धूम सौं गजवर जहाँ मदंध ॥४५॥
बसत जहाँ गुणवंत नर चाप हि मैं गुणभंग ।
लरै चाबुकनि मारियत केवल सरल तुरंग ॥४६॥
पुरी मधूरी ज्यौं लसी द्वारावती निदान ।
त्यौं गुपाल नृपजुत लखी पुरी करौरी थान ॥४७॥
मदनमोहनहि आदि देव [ब]सत जहाँ सब देव ।
करत सेव नरनारि जुत भुंमिदेव नरदेव ॥४८॥
सोभा देवालयन की विलसति अमित अपार ।
कहौ कहाँ लौं बरणि के होतु ग्रंथ-विस्तार ॥४९॥
तातै कछु कविकुल बरनि करियै छंद विचार ।
ग्रंथनि को मतु देखि के निज मति के अनुसार ॥५०॥

अथ कवि-वंश

अनलपाल नृपबंस हुव पृथ्विराज चहुवान ।
तिनके बिरती सुरविदित चंदु भाट (ट) बुधिमान ॥५१॥
सिवजुत सेइ सकति तिन भए प्रगट सिवदेव ।
तब तै जानत देशसम चाहुवान नरदेव ॥५२॥

सिवा सहित सिव बरु दयो ह्वै प्रसन्न इक बार।
बुधिवर बरदायक विदित भये सकल संसार ॥५३॥
फिरि तिहि सेई सुरसरी चंद सुमति अवतार।
स्नान होम जप स्तुति करी अरचा बारंबार ॥५४॥
ह्वै प्रसन्न गंगा तबहि सुनि निज नाम हजार।
हार सहित कंकन दए तब तै कहै सहार ॥५५॥
एक लाख रासौ कियो सहस पंच परिमान।
पृथीराज नृप को सुजसु जाहर सकल जिहान ॥५६॥
ता कुल मैं परगट भये मयाराम बुधिवान।
जिन पर सरस मया करी दिल्लीपति सुरतान ॥५७॥
बीसलदेव प्रसिद्ध भौ भूप मदावर थान।
बिरती सु रहै आदि तै मानत नृप चहुवान ॥५८॥
अकबर साहि कृपा करी मौज दए दस लक्ष।
तिनके सुत परगट भये दामोदर परतक्ष ॥५९॥
हय हाथी बकसीस दै साहिजिहाँ सुरितान।
राय प्रताप खिताब दै जाहर किए जहान ॥६०॥
नंदरामु तिनके भये सोहति सुमति अनंद।
थानसिंघु प्रगटे• बहुरि नंदराम के नंद ॥६१॥
तिन पै सिंघकल्याण नृप कृपा करी बहु बार।
तिलकु कर्यो राई दई दए लाखु द्वै बार ॥६२॥
रतनपाल महिपाल नै आदर कर्यौ बिसाल।
निज जसु सुनि बकसे तुरत हयजुत सुतियन माल ॥६३॥
थानसिंघ के सुत भये धरनीधरु बुधिवानु।
सिंघगुपाल महीप नै कर्यो सरस सनमानु ॥६४॥
धरनीधर सुत प्रगट हुव सुकवि विदित जदुनाथ।
ग्राम दए कीनी कृपा श्री अनिरुध नरनाथ ॥६५॥

जदुकुल में गोपाल सम लख्यौ नृपति गोपाल ।
तब तै यह इच्छा भई बरनौं सुजसु बिलासु ॥६६॥
करतु बिलासु गुपाल नृपु निरखत भयो हुलासु ।
तातै कवि जदुनाथ यह बरन्यौ वृत्तविलासु ॥६७॥
पिंगल को मतु समुझि के निज मति के अनुसार ।
कीनौ छंदनि को प्रगट पारावारु अपार ॥६८॥

यहाँ तक कवि अपने वंश का तथा अपना परिचय देकर आगे 'अथ गुरु अक्षर लक्षनं' लिखकर पिंगल के विषय को आरंभ करता है। पुस्तक का अंत इस तरह है—

" इति श्रीमन्महाराजाधिराज जदुवंसावतंस श्रीमहीपाल गोपाल-सिंह कीर्तिप्रकासे सुकवि जदुनाथविरचिते वृत्तविलासे दंडकप्रकरने वर्णवृत्तवर्णनं नाम द्वितीयोल्लासः ॥ समाप्तोयं वृत्तविलासः" ॥

ग्रंथरचना का समय

कवि यदुनाथ के लेख से ही पाया जाता है कि उसने अपना ग्रंथ 'वृत्तविलास' को करौली के राजा गोपालसिंह के समय में रचा। गोपाल-सिंह वहाँ के राजा कुँवरपाल (दूसरे) का पुत्र था और उसने वि० सं० १७८१ से १८१४ तक करौली पर राज्य किया था। अतएव वृत्तविलास की रचना वि० सं० १८०० के आसपास होना अनुमान किया जा सकता है।

करौली का राजवंश

वृत्तविलास हिंदी के पिंगल का उत्तम ग्रंथ होने के अतिरिक्त उसमें राजा विजयपाल से लेकर गोपालसिंह तक की करौली के राजवंश के ३१ नामोंवाली जो वंशावली दी है, वह कम महत्त्व की नहीं है। करौली के राजा मथुरा के यादवों के वंशधर हैं और उनका वंश बहुत प्राचीन है। परंतु विजयपाल के पूर्व की उनकी विश्वा[illegible] वंशावली

नहीं मिलती। जनरल कनिंगहम ने मूकजी भाट की पुस्तक के आधार पर, महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदास जी ने अपने 'वीर विनोद' में करौली के इतिहास के प्रसंग मे और मेजर स्ट्रॅटन ने कप्तान पावलेट के करौली के गॅजेटियर के आधार पर लिखी हुई शॉर्ट अकाउंट ऑफ करौली (करौली का संक्षिप्त वृत्तांत) नामक छोटी सी पुस्तक मे करौली के राजवंश की नामावली देने का यत्न किया है, परंतु उन सब में कुछ न कुछ त्रुटि अवश्य है। किसी मे कुछ नाम रह गए हैं, तो किसी मे कुछ अधिक हैं। उन सब से पुरानी वंशावली (जो आज से अनुमान १८० वर्ष पूर्व की लिखी हुई है) कवि यदुनाथ की है। उसी को मैं विश्वास योग्य मानता हूँ।

कवि का वंश

जदुनाथ अपने को प्रसिद्ध हिंदी कवि चंद बरदाई का वंशज बतलाता है और चंद के वंशधर आयाराम से अपने को छठा पुरुष बतलाता है। महत्व की दूसरी बात यह है कि जदुनाथ चंद के रचे हुए पृथ्वीराज रासे का परिमाण एक लाख पाँच हजार (श्लोक) होना बतलाता है। वह एक अच्छा कवि और चंद का वंशधर था अतएव उसका यह कथन निर्मूल नहीं माना जा सकता। आजकल कई विद्वान् परंपरागत जनश्रुति के आधार पर चंद को हिंदी का आदि कवि मानने लग गए हैं और रासे की घटनाओं के बहुधा कल्पित होने का कारण यह बतलाते हैं कि चंद ने पृथ्वीराज रासा इतना विस्तृत नहीं लिखा था। वह तो छोटा सा ग्रंथ था, जिसमे क्षेपक मिलाकर पीछे से कवि लोगों ने उसको इतना विस्तृत कर दिया है। परंतु चंद का वंशधर जदुनाथ ही इस कथन को निर्मूल बतलाता है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री जी ने यह भी लिखा था कि चंद का मूल ग्रंथ उसके वंशधर जोधपुर के ब्रह्मभट्ट नानूराम के यहाँ विराजमान है। मैंने उसको भी देखा, तो मालूम हुआ कि उसमें और

काशी की नागरीप्रचारिणी सभा के प्रकाशित किए हुए पृथ्वीराज रासे में कोई विशेष अंतर नहीं है। नानूराम की पुस्तक रासे का एक अंश मात्र ही है, न कि चंद का रचा हुआ संक्षिप्त रासा। रासे की रचना के समय के संबंध में भी वैसा ही भ्रम फैला हुआ है, जैसा कि अनंद विक्रम संवत् के विषय में फैला हुआ था। जो विद्वान् चंद को हिंदी का आदि कवि और सम्राट् पृथ्वीराज का समकालीन मानते हैं, उनसे मेरी नम्र प्रार्थना है कि वे एक बार रासे में अंकित की हुई घटनाओं एवं चौहानों की वंशावली आदि की 'प्राचीन शोध की कसौटी पर जाँच करें। यदि ऐसा करने पर यह सिद्ध हो जाय कि चंद सम्राट् पृथ्वीराज का समकालीन था, तो उसे हिंदी का आदि कवि मानना यथार्थ होगा। परंतु खेद का विषय है कि अब तक किसी हिंदी-प्रेमी विद्वान् ने ऐसी जाँच कर चंद के समय का यथार्थ निर्णय करने का यत्न ही नहीं किया। मैं किसी समय इस विषय पर एक लेख प्रकाशित कर यह बतलाने की चेष्टा करूँगा कि जैसे अनंद विक्रम संवत् की सृष्टि कल्पित है, वैसे ही चंद को हिंदी का आदि कवि मानना भी भ्रम ही है।

---

(१०) सेनापति पुष्यमित्र और अयोध्या का शिलालेख

[लेखक—रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, अजमेर]

नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ५, अंक १ में 'शुंग-वंश का एक शिलालेख' नामक लेख बाबू जगन्नाथदासजी रत्नाकर बी० ए० ने मूल लेख की प्रतिलिपि सहित प्रकाशित किया है (पृ० ९९–१०४)। उसके प्रकाशित होने के पूर्व हाथ से लिखी हुई उसकी एक प्रतिलिपि बाबू जगन्नाथदासजी ने बाबू श्यामसुंदरदासजी के द्वारा मेरे पास भेजी, जिसको पढ़ते ही मैंने बाबू श्यामसुंदरदास जी को सूचित किया कि यह लेख बड़े महत्त्व का है; परंतु जब तक उसकी छाप या फोटो न देखी जाय, तब तक विश्वस्त रूप से उसके संबंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। बाबू जगन्नाथदासजी ने उसे प्रकाशित कर इतिहास-प्रेमियों का बड़ा उपकार किया है। उन्होंने उसकी प्रतिलिपि, नागरी अक्षरांतर, हिंदी अनुवाद एवं अक्षरों के विषय में विस्तृत विवेचन किया है, और उसके संबंध में विशेष रूप से किसी अवसर पर फिर लिखने की इच्छा प्रकट की है। अपना लेख प्रकाशित हो जाने के पश्चात् उन्होंने कृपाकर उक्त लेख पर से उठाई हुई छाप भी मेरे पास भिजवाई, जिसके लिये मैं उनका बहुत ही अनुगृहीत हूँ। इस छोटे से लेख के मिलने से शुंग वंश के इतिहास-संबंधी कितनी एक संशययुक्त बातों का निर्णय होने के अतिरिक्त शुंगों के इतिहास पर कुछ नया प्रकाश भी पड़ा। अतएव उस पर मैं इस लेख के द्वारा अपने कुछ विचार प्रकट करता हूँ, जैसा कि मैंने उक्त लेख के अंत की संपादकीय टिप्पणी में उल्लेख किया था।

वह लेख केवल दो पंक्ति का है। पहली पंक्ति का आदि और अंत का कुछ कुछ अंश नष्ट हो गया सा जान पड़ता है, और दूसरी पंक्ति का तो केवल दाहिनी ओर का आधा अंश ही रक्षित है। तिसपर भी वह पुरातत्त्ववेत्ताओं के लिये कम महत्व का नहीं है। पहली पंक्ति का जो अंश विद्यमान है, उसका आशय यह है कि 'दो बार अश्वमेध यज्ञ करनेवाले सेनापति पुष्यमित्र के छठे (वंशधर) कोशलाधिपति कौशिकी-पुत्र [धन]·········ने······'। कौशिकीपुत्र के बाद कोशल (अयोध्या) के उस समय के राजा का नाम होना चाहिए, जिसका पहला अक्षर 'ध' स्पष्ट है, और दूसरा 'न' सा प्रतीत होता है। यदि यह 'न' ही हो, तो अयोध्या के जिस राजा का यह लेख है, उसका नाम धनभूति अथवा 'धन' पद से प्रारंभ होनेवाला (धनदेव धनमित्र आदि) होना चाहिए। दूसरी पंक्ति के बचे हुए अक्षरों में पहले दो अक्षर छाप में 'धम' से प्रतीत होते हैं, जो संभवतः 'धर्म' हों। उनका संबंध उनके पूर्व के अक्षरों के साथ था, या पिछलों से है, यह अनिश्चित है। उनके बाद के दो अक्षर 'राज्ञा' से प्रतीत होते हैं, परंतु वे संदेहरहित नहीं हैं। इन चार अक्षरों के पीछे का अंश साफ है; और उसका आशय यह है कि पिता फल्गुदेव का (फल्गुदेव के निमित्त) केतन (स्थान) बनवाया। फल्गुदेव संभवतः उक्त कोशलाधिपति के पिता का नाम हो। दूसरी पंक्ति इतिहास के लिये उतनी उपयोगी नहीं है, जितनी पहली।

अब उक्त लेख के संबंध में कुछ विचारणीय बातों का विवेचन नीचे किया जाता है—

कौशिकीपुत्र धन······को पुष्यमित्र का छठा (वंशधर) और अयोध्या का अधिपति कहा है। कौशिकीपुत्र शुंग राज्य का स्वामी नहीं, किंतु केवल अयोध्या का राजा था; अतएव उसको पुष्यमित्र का कुटुंबी मानना युक्तियुक्त है।

उक्त लेख से शुंगवंशियों का राज्य पश्चिम में अयोध्या तक

होना तो निर्विवाद है, परंतु भरहुत (मध्य भारत) के प्रसिद्ध स्तूप के एक तोरण पर शुंगों के राजत्व काल का एक लेख * खुदा हुआ है, जो राजा गार्गीपुत (गार्गीपुत्र) विसदेव (विश्वदेव) के पौत्र और गोतिपुत (गोतिपुत्र) आगरजु के पुत्र वाछिपुत (वात्सीपुत्र) धनभूति का है। उक्त लेख से शुंगों का राज्य पाटलीपुत्र (पटना) से पश्चिम में मध्य भारत तक होना निश्चित है।

उक्त लेख में सब से अधिक महत्त्व की बात सेनापति पुष्यमित्र के दो अश्वमेध करने का उल्लेख है। महाभाष्य के कर्ता पतंजलि ने, जो पुष्यमित्र के समय विद्यमान थे, उक्त राजा के यज्ञ † का उल्लेख प्रसंगवशात् किया है; परंतु उससे यह नहीं पाया जाता कि उसने कौन सा यज्ञ किया था। महाकवि कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में शुंग वंश का विशेष इतिहास मिलता है। उससे पाया जाता है कि जिस समय सेनापति पुष्यमित्र ने राजसूय (अश्वमेध) यज्ञ किया, उस समय उसका पुत्र अग्निमित्र विदिशा (भिलसा, ग्वालियर राज्य) में शासन करता था। उक्त नाटक में अग्निमित्र के नाम भेजे हुए पुष्यमित्र के एक पत्र का भी उल्लेख है, जिसका आशय यह है—

"यज्ञभूमि से सेनापति पुष्यमित्र स्नेहालिंगन के पश्चात् विदिशास्थित आयुष्मान् कुमार अग्निमित्र को सूचित करता है कि मैंने राजसूय यज्ञ की दीक्षा ग्रहण कर सैंकड़ों राजपुत्रों-सहित वसुमित्र की संरक्षा में एक वर्ष में लौट आने के नियम के साथ यज्ञ का निरर्गल (बंधन से मुक्त) अश्व छोड़ दिया। सिंधु ‡ नदी के दक्षिणी तट पर विचरते

---

* इंडियन् ऐंटिक्वेरी, जि. १४, पृ. १३६।

† इह पुष्यमित्रं याजयामः (महाभाष्य)।

‡ सिंधु अर्थात् काली सिंध जो मालवे से निकलकर राजपूताने में होकर बहती है। सिंधु को सिंध में बहनेवाली सिंधु नदी न मानकर राजपूताने की सिंधु (काली सिंध) मानने का कारण यह है कि पतंजलि ने अपने जीवन समय की भूतकाल की घटनाओं के उदाहरण देते हुए 'यवनों ने माध्यमिका को घेरा' (अरुणद्यवनो माध्यमिका) 'यवनों ने

हुए उस अश्व को यवनों* (यूनानियों) के अश्वसैन्य ने पकड़ लिया, जिससे दोनों सेनाओं में घोर संग्राम हुआ। फिर वीर वसुमित्र ने अश्व को बलात् छीननेवाले शत्रुओं को परास्त कर मेरा उत्तम अश्व छुड़ा लिया। जैसे पौत्र अंशुमत् के द्वारा वापस लाए हुए अश्व से सगर ने यज्ञ किया, वैसे मैं भी अपने पौत्र द्वारा वापस लाए हुए अश्व से यज्ञ करूँगा। अतएव तुम्हें यज्ञदर्शन के लिये वधूजन-सहित शीघ्र आना चाहिए†।"

कालिदास के इस कथन से पुष्यमित्र का एक अश्वमेध करना पाया गया; परंतु अब तक उसकी पुष्टि किसी अन्य पुस्तक या शिला-लेख से नहीं हुई थी। अयोध्यावाले शिलालेख से निश्चित हो गया कि पुष्यमित्र ने एक ही नहीं वरन् दो अश्वमेध किए थे और कालिदास का कथन सर्वथा ठीक है।

'कौशिकीपुत्र' अयोध्या के राजा का नाम नहीं, किंतु उसकी माता के वंश के नाम या गोत्र का सूचक है। प्राचीनकाल में राजाओं, ब्राह्मणों आदि में एक से अधिक विवाह करने की रीति प्रचलित थी;

साकेत (अयोध्या) को घेरा' (अरुणद्यवनः साकेतं) ये दो उदाहरण दिए हैं। माध्यमिका को इस समय 'नगरी' या 'तांबावती नगरी' कहते हैं और वह चित्तौड़ के प्रसिद्ध किले से ६—७ मील उत्तर में है। माध्यमिका से आगे बढ़ते हुए यवनों (यूनानियों) की मुठभेड़ वसुमित्र के साथ होना प्रतीत होता है। महाकवि भवभूति ने अपने 'मालती माधव' नाटक में पद्मावती (पेहोआ, ग्वालियर राज्य में) के निकट बहनेवाली पारा और सिंधु नदियों का उल्लेख किया है। वही सिंधु राजपूताने में बहने पर काली सिंध कहलाती है।

* कालिदास का प्रयोग किया हुआ 'यवन' शब्द काबुल और पंजाब पर राज्य करनेवाले बैक्ट्रिया (बलख) के ग्रीकों (यूनानियों) का सूचक है। पुष्यमित्र के समय में माध्यमिका आदि को घेरनेवाला यूनानी राजा मिनेंडर था, जिसके चाँदी के दो सिक्के मुझे नगरी (माध्यमिका) से मिले हैं। पुष्यमित्र के अश्वमेध के घोड़े को पकड़नेवाला यवनों का अश्वसैन्य भी मिनेंडर का [illegible] होना चाहिए।

† मालविकाग्निमित्र, अंक ५ (ई० स० १९२२ का बंबई का संस्करण, पृ० १०४—५)।

इसी से अमुक पुत्र कौन सी रानी या स्त्री से उत्पन्न हुआ, यह बतलाने के लिये उसके नाम के पूर्व उसकी माता के गोत्र वा कुल का परिचय दिया जाता था। भरहुत के उपर्युक्त शिलालेख में गार्गीपुत्र का नाम विश्वदेव, गोतिपुत्र का आगरजु और वात्सीपुत्र का नाम धनभूति मिलता है। इसी शैली से अयोध्यावाले शिलालेख के कौशिकीपुत्र का नाम धन'''(धनभूति या धनदेव या धनमित्र आदि) होना चाहिए।

पुष्यमित्र मौर्य वंश के अंतिम राजा बृहद्रथ का सेनापति था। उसने अपने स्वामी को सेना का निरीक्षण कराते हुए मारकर उसका राज्य छीन लिया। उसने मौर्य साम्राज्य के स्वामी होने पर भी अपना बिरुद 'सेनापति' ही रखा और उसका वंश शुंग वंश कहलाया। मौर्य राजा अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर वैदिक यज्ञों का होना बंद कर दिया था, परंतु पुष्यमित्र ने वेद-धर्मानुयायी होने के कारण ही अश्वमेध किए। तिब्बत के बौद्ध लेखक तारानाथ ने लिखा है—'पुष्यमित्र ने मध्य देश से लेकर जालंधर तक के बौद्ध मठ जला दिए और कई विद्वान् बौद्ध भिक्षुओं को मरवा डाला'। कुछ लोगों का यह भी कथन है कि उसने बौद्ध धर्म को नष्ट करने की इच्छा से पाटलीपुत्र के कुक्कुटाराम(विहार) को नष्ट कर दिया और साकल प्रदेश में (पंजाब में) रहनेवाले बौद्ध भिक्षुओं को मरवा डाला था। पुष्यमित्र ने धर्म-द्वेष के कारण बौद्धों के साथ ऐसे अत्याचार किए हों, यह संभव है।

'मालविकाग्निमित्र' में विदिशा के शासक अग्निमित्र के विषय में लिखा है—"विदर्भ-(बरार) के राजा यज्ञसेन के चचेरे भाई माधवसेन से उसने कहलाया कि अपनी बहिन मालविका का विवाह मेरे साथ कर दो। उस समय विदर्भ के राज्य के लिये माधवसेन और यज्ञसेन के बीच विरोध चल रहा था। माधवसेन अपने मंत्री सुमति और मालविका के साथ गुप्त रूप से विदिशा आ रहा था। उस समय में यज्ञसेन के सीमास्थित सेनापति ने माधवसेन को पकड़कर कैद कर लिया।

परंतु सुमति और मालविका बच निकले। इस घटना का समाचार पाते ही अग्निमित्र ने माधवसेन को सकुटुंब छोड़ देने के लिये यज्ञसेन से कहलाया, जिसके उत्तर में उसने कहा कि मेरा साला, जो मौर्यों का मंत्री था, आपके यहाँ कैद है। यदि आप उसको छोड़ दें, तो मैं माधवसेन को बंधनमुक्त कर दूँ। इस उत्तर से क्रुद्ध होकर अग्निमित्र ने यज्ञसेन पर सेना भेज उसे जीत लिया और माधवसेन को छुड़ा लिया। फिर विदर्भ के दो विभाग कर एक यज्ञसेन को और दूसरा माधवसेन को दे वरदा नदी उनके बीच की सीमा नियत कर दी।" इसी प्रकार उक्त नाटक में वसुमित्र को अग्निमित्र का पुत्र, उस (वसुमित्र) की माता का नाम धारिणी और अग्निमित्र की दूसरी स्त्री का नाम इरावती लिखा है। संस्कृत ग्रंथकारों में से किसी ने शुंग वंश का इतना विस्तृत विवेचन नहीं किया। पुराणों में केवल पुष्यमित्र का बृहद्रथ को मारकर उसका राज्य लेना लिखा है*। बाणभट्ट ने अपने 'हर्षचरित' में सेना का निरीक्षण कराते हुए पुष्यमित्र का बृहद्रथ को मारना बतलाया है†। कालिदास के समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कोई उसका वि० सं० की पहली शताब्दी में, कोई पाँचवीं में, तो कोई छठी में और कोई उससे भी पीछे होना मानते हैं। पुष्यमित्र वि० सं० के पूर्व की

---

* इत्येते दश मौर्यास्तु ये भोक्ष्यन्ति वसुन्धराम्।
सप्तत्रिंशच्छतं पूर्णं तेभ्यः शुङ्गान् गमिष्यति ॥ २६ ॥
पुष्यमित्रस्तु सेनानीरुद्धृत्य स बृहद्रथान्।
कारयिष्यति वै राज्यं षट्त्रिंशत्तु समा नृप ॥ २७ ॥

(मत्स्यपुराण, अध्याय २७२)।

एव मौर्या दशभूपतयो भविष्यन्ति अब्दशतं सप्तत्रिंशदुत्तरं तेषामन्ते पृथिवीं शुंगा भोक्ष्यन्ति ॥८॥
ततः पुष्यमित्रः सेनापतिः स्वामिनं हत्वा राज्यं करिष्यति ॥ ९ ॥

(विष्णुपुराण, अंश ४, अध्याय २४)।

† प्रतिज्ञा दुर्बलं च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेषसैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यं बृहद्रथं पिपेष पुष्यमित्रः स्वामिनं।

(हर्षचरित, उच्छ्वास ६)।

दूसरी शताब्दी के अंत के लगभग हुआ। यदि कालिदास वि० सं० की पाँचवीं शताब्दी में अर्थात् पुष्यमित्र से अनुमान ६०० वर्ष पीछे हुआ हो, तो पुष्यमित्र, अग्निमित्र और वसुमित्र के संबंध की घटनाओं का इतनी बारीकी के साथ उसका वर्णन करना सर्वथा असंभव है। कालिदास के ऊपर उद्धृत किए हुए वर्णन को देखते हुए तो यही अनुमान होता है कि वह पुष्यमित्र से बहुत पीछे न हुआ हो और संभवतः उसका वि० सं० की पहली शताब्दी में होना मानना अनुचित न होगा।

संस्कृत न जाननेवाले पुस्तक-लेखक संस्कृत ग्रंथों की नकल करने में बहुधा संयुक्त व्यञ्जन के दूसरे वर्ण 'य' को 'प' सा लिख देते हैं, जिससे वास्तविक नाम के जानने में कभी कभी भ्रम उत्पन्न हो जाता है। इसी से कोई कोई विद्वान् पुष्पमित्र * लिखते हैं। प्राचीन ब्राह्मी लिपि में 'य' और 'प' में बड़ा अंतर † होने से उसमें ऐसा भ्रम हो ही नहीं सकता। अयोध्यावाले उक्त लेख में पुष्यमित्र नाम है, जिसको कोई पुष्पमित्र नहीं पढ़ सकता। अतएव उक्त लेख से यह भी निश्चय हो गया कि उक्त राजा का नाम पुष्पमित्र मानना भ्रम ही है।

---

* इंडियन् एंटिक्वेरी, जि. ५३, पृ. १२।

† भारतीय प्राचीन लिपिमाला, लिपिपत्र १-१०।

(११) शुंग वंश का नया शिलालेख

[लेखक—बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, बी० ए० अयोध्या]

इस पत्रिका के गतांक में हमने शुंग वंश का एक शिलालेख प्रकाशित किया था और अपनी समझ के अनुसार उसका नागरी अक्षरांतर तथा हिंदी अनुवाद भी दिया था। जिस मंदिर में यह शिलालेख है, उसके विवरण तथा शुंग वंश की ऐतिहासिक तथा पौराणिक टिप्पणियों के विषय में हमने फिर कभी लिखने का विचार प्रकट किया था। अवकाशाभाव से अभी हम अपना उक्त संकल्प तो पूरा नहीं कर सकते, पर उस लेख के विषय में कुछ आवश्यक बातें लिखते हैं।

उक्त शिलालेख के प्रकाशित होने पर लखनऊ म्यूज़ियम के क्यूरेटर मुंशी प्रयागदयाल साहब के भेजे हुए पंडित सरजूप्रसाद जी मिश्र फोटोग्राफर तथा पटना म्यूज़ियम के क्यूरेटर राय मनोरंजन घोष साहब एम० ए० उसकी ठप्पुवा छाप तथा मंदिर इत्यादि के फोटो प्राप्त करने के निमित्त हमारे पास आए। हमने यथाशक्ति उनकी सहायता करके छाप तथा फोटो लेने का प्रबंध कर दिया। उनके छाप लेने में जो एक नई बात प्रकट हुई, वह पाठकों के अवलोकनार्थ प्रकाशित की जाती है।

हमारी छाप में लेख की प्रथम पंक्ति के अंत में 'ध' के पश्चात् जो एक अस्पष्ट चिह्न सा आया था और हमने जिसका 'म' होना अनुमित किया था, वह उन महाशयों की छापों में स्पष्ट रूप से 'न' उठा है; क्योंकि पहली छाप लेते समय उस अक्षर में रंग इत्यादि भरा हुआ था, जिस पर विशेष ध्यान नहीं गया था। पर अब की बार छाप लेने के पूर्व उसको खुरचकर स्पष्ट कर लिया गया। उक्त अक्षर के

स्पष्ट रूप से 'न' पढ़े जाने पर, प्रथम पंक्ति के अंत का शब्द असंदिग्ध रूप से 'धन' पढ़ा जाता है। इस 'धन' शब्द के पश्चात् के कुछ अक्षर, जैसा कि पहले लेख में लिखा गया है, चौखट के नीचे आ गए हैं। पत्थर के अग्र भाग के देखने से चौखट के नीचे दबे हुए पत्थर का भाग इतना प्रतीत होता है, जितने पर दो अथवा तीन अक्षर भली भाँति समा सकते हैं। अतः यदि 'धन' शब्द के पश्चात् तीन अक्षरों का चौखट के नीचे दब जाना मान लिया जाय, तो प्रथम पंक्ति के अंत में 'धनमित्रेण' अथवा 'धनदेवेन' तृतीयांत पद का होना संभावित है; और इन दोनों पदों में से किसी के वहाँ मान लेने से वाक्य भी पूरा हो जाता है। हमारी समझ में 'धनमित्रेण' का मानना अधिक संगत है; क्योंकि पुष्यमित्र के वंशजों के नामों में विशेषतः मित्र शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है, यद्यपि देव शब्द का होना भी असंभव नहीं है।

यहाँ इस बात का लिख देना आवश्यक है कि पहले लेख में जो हमने लिखा था कि पहली पंक्ति के ऊपर एक या दो पंक्तियों का होना भी संभावित है, यह संदेह इस समय की जाँच से निर्मूल ठहरता है। अब जहाँ तक ज्ञात होता है, पहली पंक्ति के ऊपर और कुछ नहीं है, और न वाक्य के पूर्ण होने के निमित्त और किसी शब्द की आकांक्षा ही रह जाती है।

अब उक्त लेख का नागरी अक्षरांतर इस प्रकार होता है—

प्रथम पंक्ति—कोसलाधिपेन द्विरश्वमेधयाजिनः सेनापतेः पुष्यमित्रस्य षष्ठेन कौशिकीपुत्रेण धन (मित्रेण अथवा देवेन आदि)

द्वितीय पंक्ति—धर्मराज्ञा पितुः फल्गुदेवस्य केतनं कारितं

इस पाठ का यह अर्थ होता है—

"दो अश्वमेध यज्ञों के कर्ता सेनापति पुष्यमित्र के छठे (पुरुष अथवा भाई) कोसलाधिप कौशिकीपुत्र धन (मित्र अथवा देव आदि) धर्मराज ने (अपने) पिता का केतन (स्मारकगृह) बनवाया।"

'धर्मराज्ञा' पद के प्रयोग के विषय में इतनी बात यहाँ कह देना आवश्यक है कि पाणिनि जी के अनुसार इस समस्त पद का रूप 'धर्मराजेन' होना चाहिए। पर पुराने लेखों में ऐसे नियमों के विरुद्ध प्रयोग बहुधा मिलते हैं। 'धर्मराज्ञा' शब्द 'धर्मराज्ञि' भी पढ़ा जा सकता है। यदि यह 'धर्मराज्ञि' ही हो तो इस शिलालेख का अर्थ यह होगा—कोसलाधिप......धनमित्र (धनदेव) ने धर्मराज्ञी (धर्मपत्नी) के पिता फल्गुदेव का केतन बनवाया। यह विषय भी विचारणीय है।

इतिहासवेत्ताओं तथा प्राचीन विषयों के अनुसंधानकर्ताओं का ध्यान इस ओर आकर्षित करने के अभिप्राय से एक बात और भी नीचे लिखी जाती है।

जिस मंदिर में यह शिलालेख है, वह उदासीन सम्प्रदाय के एक बड़े प्रतिष्ठित स्थान में है, जो अयोध्या के अंतर्गत रानोपाली नामक ग्राम में स्थित होने के कारण रानोपाली छ्ध्याश्रम कहलाता है। इसके अध्यक्ष इस समय श्रीमान् महंत बाबा केशवराम जी महानुभाव हैं। आप बड़े ही सज्जन, महात्मा तथा पंडित, एवं अनेक सद्गुणों से विभूषित हैं। इस स्थान का विशेष ऐतिहासिक वर्णन फिर कभी लिखा जायगा। 'रानोपाली' शब्द के संबंध में यहाँ संक्षेप से कुछ लिखा जाता है।

यह शब्द संस्कृत पद 'राज्ञः पल्ली' का अपभ्रंश रूप ज्ञात होता है। 'राज्ञः पल्ली' का प्राकृत रूप 'रन्नोपाली' और इसका अपभ्रंश 'रानोपाली' होता है। पल्ली शब्द का अर्थ ग्राम, कुटी, गृह, स्थान तथा छोटा-मोटा नगर इत्यादि है। नगर के अर्थ में इसका प्रयोग 'त्रिचनापल्ली' इत्यादि नामों में पाया जाता है; और ग्राम के अर्थ में कथासरित्-सागर के इस श्लोक में है—

"इतस्त्वं गच्छमरपल्लीं जाने सा तत्र ते गता।
अहं तत्रैव चैष्यामि दास्याम्यसिमिमञ्च ते॥"

हेमचंद्र ने इसका अर्थ ग्रामक तथा कुटी लिखा है, भट्ट ने गृह और स्वामि ने स्थान। इन अर्थों पर विचार करने से 'राज्ञःपल्ली' का अर्थ राजा का नगर अथवा स्थान ठहरता है। अयोध्या के आसपास और कई ग्रामों के नामों में भी यही पल्ली शब्द दिखाई देता है; जैसे, पाली, पलियोगोपा, शाहगंज पलिया इत्यादि में। ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र अथवा उसके किसी वंशज, ने इस स्थान पर अपना राजगृह अथवा नगर स्थापित किया था, जो 'राज्ञःपल्ली' अर्थात् राजा का स्थान कहलाने लगा; और इस नाम ने शनैः शनैः रानीपाली* रूप धारण कर लिया। यदि हमारा यह अनुमान ठीक हो, तो इस शिलालेख का रानीपाली में होना परम संगत है। अब रह गई यह बात कि यह लेख इस समय जिस स्थान पर लगा हुआ है, वह ठीक उसी स्थान पर आरंभ ही से चला आता है, अथवा किसी समीपस्थ स्थान से उठवाकर वर्तमान मंदिर के द्वार पर लगाने के काम में लाया गया है, इस पर फिर विचार किया जायगा।

---

* 'पाली भाषा' में जो 'पाली' शब्द है, वह भी इसी 'पल्ली' शब्द का रूपांतर प्रतीत होता है। यदि यह अनुमान ठीक हो, तो 'पाली भाषा' का अर्थ 'नगर प्रयुक्त भाषा' होगा। भाषा के पूर्व 'पल्ली' शब्द के प्रयोग से एक ओर तो शिष्ट भाषा संस्कृत से पृथक् की जाती है, और दूसरी ओर ग्रामीण इत्यादि से। अतः 'पाली भाषा' का अर्थ सर्वसाधारण की भाषा, घरेलू भाषा, प्रचलित भाषा इत्यादि होता है। यह विषय इस लेख से विशेष संबंध नहीं रखता, अतः इस पर फिर कभी स्वतंत्र विचार किया जायगा।

(१२) महाभाष्य में शूद्र

[लेखक—पंडित माँगीलाल काव्यतीर्थ, अजमेर।]

पाणिनि ने द्वन्द्व समास के दो प्रकरण किए हैं। इनमें एक समाहार द्वन्द्व और दूसरा इतरेतरयोग द्वन्द्व है। जिन शब्दों का समाहार में ही द्वन्द्व होता है, उनके नाम गिनाकर नियम कर दिया है कि उन शब्दों से इतरेतरयोग में द्वन्द्व न हो। इस नियम के उदाहरण हैं—पाणिपादम्, कठकौथुमम्, अर्काश्वमेधम्, पदकक्रमकम्, धानाशष्कुलि, गङ्गाशोणम्, यूकालिक्षम्, मार्जारमूषकम् इत्यादि। इतरेतरयोग में द्वन्द्व के उदाहरण हैं—दर्शपौर्णमासौ, पितापुत्रौ, ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः, सौर्यकेतवत्ते, गङ्गायमुने इत्यादि। समाहार द्वन्द्व में नपुंसक लिङ्ग और एकवचन होता है। इतरेतरयोग के द्वन्द्व में लिङ्ग और वचन परवत् (अन्तिम पद के अनुसार) और विवक्षा के अधीन हैं। इसी सिलसिले में पाणिनि ने अबहिष्कृत शूद्रवाचक शब्दों को व्याकरण-प्रक्रिया से सिद्ध करते हुए नियम बतलाया है कि अबहिष्कृत शूद्रों का समाहार द्वन्द्व ही हो, इतरेतरयोग द्वन्द्व न हो। इस नियम का सूत्र है—

शूद्राणामनिरवसितानाम् ।२।४।१०।

अनिरवसित (अबहिष्कृत) शूद्रों के वाचक शब्दों का समाहार द्वन्द्व हो, यह सूत्रार्थ है। जो बहिष्कृत शूद्र हैं, उनका इतरेतरयोग द्वन्द्व हो, यह प्रत्युदाहरण का सूत्रार्थ है। पाणिनि के सूत्र में 'अनिरवसित' निर्देश मात्र है, जिस पर कात्यायन का कोई वार्तिक नहीं है। चूँकि इन दोनों आचार्यों के समय अबहिष्कृत शूद्र और बहिष्कृत

हेमचंद्र ने इसका अर्थ ग्रामक तथा कुटी लिखा है, भट्ट ने गृह और स्वामि ने स्थान। इन अर्थों पर विचार करने से 'राज्ञःपल्ली' का अर्थ राजा का नगर अथवा स्थान ठहरता है। अयोध्या के आसपास और कई भागों के नामों में भी यही पल्ली शब्द दिखाई देता है; जैसे, पाली, पलियोगोपा, शाहगंज पलिया इत्यादि में। ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र अथवा उसके किसी वंशज, ने इस स्थान पर अपना राजगृह अथवा नगर स्थापित किया था, जो 'राज्ञःपल्ली' अर्थात् राजा का स्थान कहलाने लगा; और इस नाम ने शनैः शनैः रानोपाली* रूप धारण कर लिया। यदि हमारा यह अनुमान ठीक हो, तो इस शिलालेख का रानोपाली में होना परम संगत है। अब रह गई यह बात कि यह लेख इस समय जिस स्थान पर लगा हुआ है, वह ठीक उसी स्थान पर आरंभ ही से चला आता है, अथवा किसी समीपस्थ स्थान से उठवाकर वर्तमान मंदिर के द्वार पर लगाने के काम में लाया गया है, इस पर फिर विचार किया जायगा।

---

* 'पाली भाषा' में जो 'पाली' शब्द है, वह भी इसी 'पल्ली' शब्द का रूपांतर प्रतीत होता है। यदि यह अनुमान ठीक हो, तो 'पाली भाषा' का अर्थ 'नगर प्रयुक्त भाषा' होगा। भाषा के पूर्व 'पल्ली' शब्द के प्रयोग से एक ओर तो शिष्ट भाषा संस्कृत से पृथक् हो जाती है, और दूसरी ओर ग्रामीण इत्यादि से। अतः 'पाली भाषा' का अर्थ सर्वसाधारण की भाषा, घरेलू भाषा, प्रचलित भाषा इत्यादि होता है। यह विषय इस लेख से विशेष संबंध नहीं रखता, अतः इस पर फिर कभी स्वतंत्र विचार किया जायगा।

(१२) महाभाष्य में शूद्र

[लेखक—पंडित माँगीलाल काव्यतीर्थ, अजमेर।]

पाणिनि ने द्वन्द्व समास के दो प्रकरण किए हैं। इनमें एक समाहार द्वन्द्व और दूसरा इतरेतरयोग द्वन्द्व है। जिन शब्दों का समाहार में ही द्वन्द्व होता है, उनके नाम गिनाकर नियम कर दिया है कि उन शब्दों से इतरेतरयोग में द्वन्द्व न हो। इस नियम के उदाहरण हैं—पाणिपादम्, कठकौथुमम्, अर्काश्वमेधम्, पदकक्रमकम्, धानाशष्कुलि, गङ्गाशोणम्, यूकालिक्षम्, मार्जारमूषकम् इत्यादि। इतरेतरयोग में द्वन्द्व के उदाहरण हैं—दर्शपौर्णमासौ, पितापुत्रौ, ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः, सौर्यकेतवते, गङ्गायमुने इत्यादि। समाहार द्वन्द्व में नपुंसक लिङ्ग और एकवचन होता है। इतरेतरयोग के द्वन्द्व में लिङ्ग और वचन परवत् (अन्तिम पद के अनुसार) और विवक्षा के अधीन हैं। इसी सिलसिले में पाणिनि ने अबहिष्कृत शूद्रवाचक शब्दों को व्याकरण-प्रक्रिया से सिद्ध करते हुए नियम बतलाया है कि अबहिष्कृत शूद्रों का समाहार द्वन्द्व ही हो, इतरेतरयोग द्वन्द्व न हो। इस नियम का सूत्र है—

शूद्राणामनिरवसितानाम् ।२।४।१०।

अनिरवसित (अबहिष्कृत) शूद्रों के वाचक शब्दों का समाहार द्वन्द्व हो, यह सूत्रार्थ है। जो बहिष्कृत शूद्र हैं, उनका इतरेतरयोग द्वन्द्व हो, यह प्रत्युदाहरण का सूत्रार्थ है। पाणिनि के सूत्र में 'अनिरवसित' निर्देश मात्र है, जिस पर कात्यायन का कोई वार्तिक नहीं है। चूँकि इन दोनों आचार्यों के समय अबहिष्कृत शूद्र और बहिष्कृत

शूद्र के दोनों भेदों के लोग पूरे जानकार थे, सुतरां उन्होंने इस विषय पर अधिक विश्लेषण नहीं किया; परन्तु पतंजलि ने शिष्य-परम्परा पर अनुग्रह कर महाभाष्य में उक्त सूत्र की व्याख्या की है। व्याख्या का ढंग और प्रश्नोत्तर से समझाने की शैली बहुत ही मनोहारिणी है। अतः हम पतंजलि के ही शब्दों में उक्त व्याख्या प्रश्नोत्तर, समाधान इत्यादि वाक्य निर्देश-पूर्वक यहाँ लिखते हैं। भाष्यकार ने सूत्र का विशेषण-वाक्य लेकर व्याख्या यों शुरू की है—

अनिरवसितानामित्युच्यते।

सूत्र में 'अनिरवसितानाम्' कहा गया है, परन्तु इस सापेक्ष वचन को सुनने पर स्वभावतः विद्यार्थी प्रश्न करेंगे—

कुतोऽनिरवसितानाम्।

कहाँ से, किस स्थान से अबहिष्कृत? आचार्य पतंजलि उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं—

आर्यावर्त्तादनिरवसितानाम्।

आर्यावर्त्त से अबहिष्कृत। आर्यावर्त्त देश से जो बहिष्कृत न हों, उन शूद्रवाचक शब्दों का समाहार द्वन्द्व में एकवचन और नपुंसक लिङ्ग होता है, ऐसा समझो। परन्तु भूगोल का सीमा-विभाग बदलता रहता है, तथा आचार्यों ने उसे कुछ फेर बदल से भी माना है। संभव है कि व्याकरण के आचार्य कुछ विभिन्न रीति से आर्यावर्त्त देश की सीमा मानते हों, इसी भावना से प्रेरित होकर विद्यार्थी प्रश्न करता है—

कः पुनरार्यावर्त्तः।

अच्छा, बतलाओ आर्यावर्त्त कौन सा देश है? भगवान् पतंजलि उत्तर देते हैं—

प्रागादर्शात् प्रत्यक् कालकवनात्
दक्षिणेन हिमवन्तमुत्तरेण पारियात्रम्।

आदर्श[1] से पूर्व, कालकवन[2] से पश्चिम, हिमालय से दक्षिण और पारियात्र[3] से उत्तर आर्यावर्त्त है। इस आर्यावर्त्त की चतुःसीमा में रहनेवाले शूद्र अवहिष्कृत हैं, यदि सूत्र का इतना संकीर्ण अर्थ है, तो छात्र इष्टापत्ति कर सकते हैं—

यद्येवं किष्किन्धगान्धिकम्, शकयवनम्, शौर्यक्रौञ्चमिति न सिध्यति।

यदि आर्यावर्त्त, जैसा कि आपने बतलाया, उतना ही भू-प्रदेश है, तो किष्किन्ध[4]गांधिकम्[4], शक[4]यवनम्[4], और शौर्य[4]क्रौञ्चम्[4]

---

१. आदर्श—नैयट आदर्श को पर्वत मानता है। वराहमिहिर ने आदर्श का उत्तर की ओर होना बतलाया है। महाभाष्यकार आर्यावर्त की पश्चिमी सीमा पर उसका होना मानते हैं। यदि वास्तव में यह नाम पर्वत या पर्वतीय प्रदेश का सूचक हो, तो उत्तरी भारत के पश्चिम में उसका होना मानना पड़ता है। संभव है, यह नाम सुलेमान पर्वत श्रेणी से लेकर किरथर श्रेणी तक का प्रदेश हो।

२. कालक वन—यह आर्यावर्त का पूर्वी सीमांत पर्वत या देश होना चाहिए। वराहमिहिर ने कालक की नैर्ऋत्य देशों में गणना की है। यह बात पतंजलि के कथन से नहीं मिलती।

३. पारियात्र—महेंद्र आदि सात कुल-पर्वतों में से एक का नाम। मनु ने आर्यावर्त्त की दक्षिणी सीमा विंध्य पर्वत तक बतलाई है। कुछ विद्वान् विंध्य के पश्चिमी भाग को ही पारियात्र मानते हैं, परंतु सप्त कुलपर्वतों की नामावली में विंध्य और पारियात्र का दो भिन्न पर्वत होना माना है। पारियात्र का अर्थ यात्रा का पार या अंत है। आर्यावर्त्त निवासियों की दक्षिण की यात्रा विंध्य पर ही समाप्त होती थी। अगस्त्य ने विन्ध्याचल से दक्षिण में आकर आर्य सभ्यता की स्थापना की, तभी से विंध्य के दक्षिण में आर्यों की बस्तियाँ होने लगीं। कूर्मपुराण के अनुसार अपरांत (पश्चिमी समुद्र तट का देश) पारियात्र के सीमांतर्गत था। रामायण के अनुसार भी पारियात्र विन्ध्य से दक्षिण में होना चाहिए।

४. (क) किष्किंध—दक्षिण का प्रदेश और वहाँ के निवासी। रामायण की प्रसिद्ध किष्किंधा नगरी इसी देश में थी। संस्कृत के लेखक देश और वहाँ के निवासियों का एक ही नाम से परिचय देते हैं।

(ख) गांधिक—ये लोग कहाँ के निवासी थे, यह अनिश्चित है। परंतु महाभाष्य में किष्किंध के साथ गांधिक का द्वंद्व समास किया है, जिससे अनुमान

इन तीन उदाहरणों में नपुंसक लिङ्ग और एकवचन का प्रयोग, जैसा कि देखते हैं, सिद्ध न होगा। क्योंकि उक्त उदाहरणों के छहों प्रदेश या छहों जातियाँ आर्यावर्त्त की चतुःसीमा से बाहर हैं। आपके लक्षण के अनुसार ये बहिष्कृत शूद्र हो जायँगे। परंतु इनका प्रयोग बतलाया

होता है कि गांधिक विविन्ध्यवासियों के पार्श्ववर्ती देशवासी हों। यहाँ गांधिक का अभिप्राय सुगंधित पदार्थ बेचनेवालों से हो, ऐसा नहीं पाया जाता।

(ग) शक—यह प्रारंभ में आर्य क्षत्रिय जाति थी—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥ ४३ ॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ॥ ४४ ॥

मनुस्मृति, अध्याय १०।

पीछे से यह जाति आर्यावर्त्त के बाहर के उत्तरी देशों में जा बसी और उसके आचार विचार में अंतर पड़ गया। पुराणों में पाया जाता है कि जब शकों को सूर्यवंशी राजा सगर ने मारा, तब उन्होंने वसिष्ठ की शरण ली। फिर सगर ने उनको आधा सिर मुँड़वाने का आदेश देकर बिदा कर दिया। ऐसा भी लिखा मिलता है कि गांधार पर राज्य करनेवाले चंद्रवंशी द्रुह्यु के वंशधर उत्तर में तथा अन्य बाहरी देशों में फैल गए और म्लेच्छ देशों में उन्होंने अपने राज्य स्थापित किए थे। ये सब प्रमाण शकों का प्रारंभ में क्षत्रिय होना प्रकट करते हैं। तुर्किस्थान, बलख आदि भारत के उत्तरी प्रदेशों में आर्य सभ्यता फैली हुई थी। पीछे से वहाँ बौद्ध धर्म का भी प्रचार हुआ। तुर्किस्तान आदि से अनेक संस्कृत और प्राकृत ग्रंथ रेत के नीचे दबे हुए नगरों से अब तक मिलते हैं। बैक्ट्रिया (बलख) और पार्थिया के यूनानी (ग्रीक) राज्यों को इन्हीं लोगों ने नष्ट कर वहाँ अपना अधिकार जमाया था। फिर ये लोग विक्रम संवत् की पहली शताब्दी के आस पास हिंदूकुश पर्वत को पारकर दक्षिण की तरफ बढ़े, और पश्चिम में हिरात से लेकर सिंधु नदी तक का प्रदेश इन्होंने अपने अधीन किया। फिर क्रमशः हिंदुस्तान के बड़े हिस्से पर इन्होंने अपना अधिकार जमा लिया। इनकी एक शाखा क्षत्रप नाम से भी प्रसिद्ध हुई, जिसके दो विभाग उत्तरी और पश्चिमी क्षत्रप नाम से प्रसिद्ध हैं। उत्तरी क्षत्रपों का अधिकार पंजाब, मथुरा आदि पर रहा," और पश्चिमी क्षत्रपों का महाराष्ट्र, गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, मालवा तथा राजपूताने पर रहा था। पश्चिमी क्षत्रपों में रुद्रदामा बड़ा प्रतापी राजा हुआ। उसके अधीन आकर (मालवा का

एवं तर्ह्यार्यनिवासादनिरवसितानाम् ।

यदि शब्दसाधन में ऐसी आपत्ति दिखाई देती है, तो 'आर्यावर्त्त से बाहर होकर भी जो शूद्र आर्यनिवास से बहिष्कृत न हों' ऐसा लक्षण मानना चाहिए। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार लक्षण-प्रणयन

लिखे हुए पश्चिमी क्षत्रप रुद्रदामा के गिरनार के शिलालेखों में, जो शक संवत् ७२ (विक्रमी संवत् २०७) के कुछ ही पिछे का है, गिरनार पर्वत के नीचे के सुदर्शन नामक तालाब से, जो मौर्य राजा चंद्रगुप्त के राज्य के समय उसके साले वैश्य पुष्यगुप्त ने बनवाया था, अशोक के समय यवनराज तुषास्फ के द्वारा नहरें निकालने का उल्लेख है। यहाँ तुषास्फ नाम ईरानी प्रतीत होता है, क्योंकि अब तक ईरान से यहाँ आए हुए पारसियों में जामास्प, कर्शास्प आदि नाम पाए जाते हैं। तुषास्फ भी उसी शैली का नाम है। महाकवि कालिदास ने पारसियों (ईरानियों) को यवन कहा है। महाभारत में भी यवन देश का नाम मिलता है। ईरान के बादशाह अर्क्सिस आदि ने कई बार यूनानियों (ग्रीकों) को परास्त किया था, जिसका बदला लेने के विचार से मक्दूनिया के बादशाह सिकंदर (अलेक्ज़ेंडर) ने विक्रम संवत् से २७७ वर्ष पूर्व स्वदेश से प्रस्थान किया, और सीरिया देश में ईरान के बादशाह दारा को परास्त कर वहाँ से अफ्रिका के मिस्र देश को विजय किया। तत्पश्चात् फिर एशिया में प्रवेश कर सीरिया देश के प्रसिद्ध अर्बेला नगर से ६० मील पर दारा से लड़ाई की। इस लड़ाई में भी दारा की हार हुई और वहाँ से भागता हुआ दारा मार्ग में ही मर गया। सिकंदर ईरान तथा उसके आस पास के कई देश बैक्ट्रिया (बल्ख) आदि विजय करता हुआ विक्रम संवत् से पूर्व २६९ में भारत विजय करने को आया। हिन्दूकुश के रास्ते आगे बढ़ता हुआ वह सिन्धु नदी पारकर तक्षशिला नगरी में पहुँचा। वहाँ से आगे बढ़ ब्यास नदी तक का प्रदेश अपने अधिकार में लिया। फिर लौटकर सिन्धु नदी के द्वारा सिंध में गया। वहाँ से बलूचिस्तान के मार्ग से बाबीलन पहुँचा, और वहाँ विक्रम संवत् से पूर्व २६६ में मर गया। इधर चन्द्रगुप्त मौर्य ने पंजाब आदि से यूनानियों को निकालकर वहाँ अपना राज्य स्थिर किया।

सिकंदर के मरने पर उसके सेनापतियों ने उसका महाराज्य आपस में बाँट लिया। सिकंदर का एशिया का राज्य सेल्युकस नामक सेनापति के हिस्से में आया। वह चन्द्रगुप्त से पंजाब वापस लेने को चढ़ा, पर वह उससे हारा। कई दूसरे इलाके चन्द्रगुप्त को देकर उसने सुलह करली और अपनी पुत्री का विवाह भी चन्द्रगुप्त के साथ कर दिया। इस प्रकार सिकंदर का स्थापित किया हुआ यूनानी राज्य तो पंजाब से उठ गया, परन्तु उसका बैक्ट्रिया (बलख)

से युक्त प्रयोगों की सिद्धि में किसी प्रकार दूषण नहीं आ सकता। इससे विदित होता है कि वे छः जातियाँ यद्यपि आर्यावर्त्त से बाहर हैं, तो भी रहती आर्यनिवास में ही हैं। परन्तु यह कैसे विदित हो कि आर्य लोगों के निवास कौन कौन हैं। संभव है, छात्र ऐसा प्रश्न करें—

कः पुनरार्यनिवासः।

आर्यनिवास क्या है, जिससे हम समझ सकें कि इस निवास में

का राज्य स्थिर रहा। यहाँ के यूनानी राजा यूथिडिमस के पुत्र डिमिट्रियस ने विक्रम संवत् पूर्व १३३ के आस पास फिर हिन्दुस्तान पर चढ़ाई की और अफगानिस्तान (जो उस समय हिन्दुस्तान का ही हिस्सा था) तथा पञ्जाब आदि पर फिर यूनानियों का राज्य स्थिर हो गया। इन पिछले २७ यूनानी राजाओं के सोने, चाँदी और ताँबे के सिक्के अब तक मिल चुके हैं। इन पर एक तरफ प्राचीन यूनानी लिपि का लेख और दूसरी तरफ बहुधा खरोष्ठी लिपि में संस्कृत मिश्रित प्राकृत लेख उसी आशय के हैं। पञ्जाब के इन यूनानी राजाओं में से मिनेंडर बौद्ध हो गया था। पतञ्जलि का 'यवन' शब्द इन्हीं यूनानियों का सूचक है। पतञ्जलि के महाभाष्य से पाया जाता है कि उनके (पतञ्जलि के) जीवन काल में यूनानियों ने मध्यामिका (वर्तमान 'नगरी' प्रसिद्ध चित्तौड़ के जिले से ७ मील उत्तर में) तथा साकेत (अयोध्या) को घेर लिया था। शुङ्ग वंश के संस्थापक सेनापति पुष्यमित्र के यज्ञ (अश्वमेध) में महाभाष्यकार पतञ्जलि विद्यमान थे। महाकवि कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक से पाया जाता है कि पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया। उस समय उसका पुत्र अग्निमित्र विदिशा (भेलसा) का शासक था। उसके यज्ञीय अश्व को सिन्धु नदी के (काली सिन्ध, राजपूताने में) दक्षिणी तट पर यवनों (यूनानियों) ने पकड़ लिया था। परन्तु अन्त में यवनों की हार हुई, और अश्व उनसे छुड़ा लिया गया। पुष्यमित्र के अश्व को पकड़नेवाली यवन सेना उक्त मिनेंडर की सेना होनी चाहिए, क्योंकि वही दक्षिण में राजपूताने तक विजय करता हुआ चढ़ आया था।

इन यवनों (पिछले यूनानियों) ने वैदिक या बौद्ध धर्म को अङ्गीकार किया था। मिनेंडर बौद्ध था। ऊपर लिखा हुआ हेलियोडोरस भागवत (वैष्णव) था। पीछे से ये यवन हिन्दुस्तानी शैली के नाम भी रखने लग गए थे। धर्मरक्षित नामक यवन (यूनानी) राजा अशोक की तरफ से बौद्ध धर्म का प्रचारक बनकर अपरान्त (कोंकण) में गया था। नासिक के पास की गुफा में यवन धम्मदेव

बसनेवाले शूद्र बहिष्कृत नहीं हैं? शिष्यों को भगवान् पतंजलि आर्यनिवास के संबंध में यों उत्तर देते हैं—

ग्रामो घोषो नगरं संवाह इति।

आर्यों का निवास ग्राम है, घोष[5] है, नगर है, और संवाह[6] है। जो शूद्र इन आर्यनिवासों में रहते हैं, वे सब अबहिष्कृत शूद्र हैं। आर्यावर्त्त से बाहर होकर शकयवनादि लोगों ने छोटे बड़े गाँव, खेड़े, शहर, जिले बिलकुल नए आबाद कर लिए थे, और इन आर्य बस्तियों में ही आर्य लोग रहते थे। विद्यार्थी इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष दिखाते हुए आपत्ति करते हैं—

एवमपि य एते महांतःसंस्त्यायास्तेष्वभ्यंतराश्चण्डाला-मृतपाश्च वसंति तत्र चण्डालमृतपा इति न सिध्यति।

यदि अबहिष्कृत शूद्रों का यह लक्षण मान लिया जाय कि जो शूद्र आर्य लोगों की इन चार प्रकार की बस्तियों में रहते हैं, वे अब-

---

(धर्मदेव) और उनके पुत्र इन्द्राग्निदत्त के नाम मिलते हैं। अन्त में ये सब यूनानी भारतीयों में मिल गए। उस समय यहाँ के धर्म सम्बन्धी विचार आज कल के से संकुचित न थे।

(ङ) शौर्य—यह जाति कहाँ निवास करती थी, यह अनिश्चित है। सम्भव है कि भारतवर्ष के उत्तर की जातियों में से एक हो। पतञ्जलि ने (८।२।१०६) भाष्य में शौर्य नामक नगर का उल्लेख किया है, और वहाँ व्याकरण के एक प्रसिद्ध आचार्य रहते थे, जिनका परिचय 'शौर्यभगवतोक्तनिरुक्तो वाडव' शौर्य भगवान से दिया है। महाभाष्य (६।४।१४८) में 'कायडे शौर्ये नाम हिमवतः शृङ्गे' शौर्य को हिमालय का शिखर भी माना है।

(च) क्रौञ्च—इस जाति का निवास-स्थान भी अनिश्चित है, परन्तु यह भी शौर्य के समान उत्तरा जाति होनी चाहिए। कालिदास ने क्रौञ्च नामक पर्वत के आर पार एक छिद्र माना है, जिसमें होकर मेघ भेजा गया था।

५. घोष—उस बस्ती को कहते हैं, जहाँ गौएँ, भैंसे इत्यादि पशु विशेष रूप से रखे जाते हों।

६. संवाह—उन स्थानों का नाम है, जहाँ वणिक् अर्थात् वाणिज्य करनेवालों का विशेष समुदाय रहता हो।

हिष्कृत शूद्र समझे जायँ, तो इन आर्य वस्तियों में बड़े बड़े संस्त्याय (स्थान, कोठियाँ) हैं और उनमें चण्डाल[7] तथा मृतप[8] भी रहते हैं। आपके लक्षण के अनुसार ये दोनों जातियाँ भी अवहिष्कृत शूद्रों में मानी जानी चाहिएँ। परंतु इन जातिवाचक शब्दों का इतरेतरयोग द्वन्द्व समास में 'चण्डालमृतपाः' ऐसा उदाहरण मिलता है, जो बहिष्कृत शूद्रों का साधक है। लक्षण और उदाहरण में परस्पर यह असंगति कैसी? चण्डाल और मृतप दोनों बहिष्कृत हैं, इसी अभिप्राय से इतरेतर योग के द्वंद्व समास में एकवचन और नपुंसक लिंग में नहीं लिखे जाते। सुतरां उदाहरण तो सही है, परंतु लक्षण का अंश किसी प्रकार के विशेष समाधान की अपेक्षा रखता है। विद्यार्थियों की इस आशंका पर पतंजलि ने आगे यों उत्तर दिया है—

एवं तर्हि याज्ञात्कर्मणोऽनिरवसितानाम्।

इस प्रकार के समाधान से जो बहिष्कृत हैं, यदि वे भी अवहिष्कृतों की गणना में आ सकते हैं, तो इस शंका का समाधान यों समझो कि जो शूद्र यज्ञकर्म[9] से बहिष्कृत न हों, वे अवहिष्कृत समझे जायँ। धर्मशास्त्र में शूद्रों को यज्ञ कर्म का अधिकार प्रतिपादित है। प्रत्येक शूद्र

---

७. चण्डाल—प्राचीन आर्यों में चण्डाल प्रतिलोमज शूद्रों में माने जाते थे। ये लोग बस्ती से बाहर रहते थे; और बस्ती में आने के समय एक लकड़ी को ज़मीन पर ठोंकते हुए चलते थे जिसमें उनसे किसी का स्पर्श न हो।

८. मृतप—ये भी प्रतिलोमज हैं। मृतप की उत्पत्ति चण्डाल से मानी गई है। ये लोग मरघटों में चौकीदारी का काम करते और मृतकों के वस्त्र आदि लिया करते थे। लावारिस मुर्दों को निहार कर (खे भाश्र) ये लोग जलाते थे। राजाज्ञा से प्राणान्त-दण्ड पाए हुए पुरुषों को मृतप शूली पर चढ़ाते थे। कैयट इनको डोम्ब (डोम) कहता है।

९. यज्ञकर्म—यज्ञकर्म से यहाँ पञ्च महायज्ञों से अभिप्राय है। कैयट ने लिखा है—'शूद्राणां पञ्चयज्ञानुष्ठानेऽधिकारोऽस्तीति भाव।' ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और मनुष्ययज्ञ—ये पाँच महायज्ञ माने जाते हैं। इन पाँचों यज्ञों के प्रसिद्ध नाम अनुक्रम से ये हैं—अध्यापन, तर्पण, होम, बलि और अतिथिपूजन।

का जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह नित्य प्रति पंच महायज्ञ करे। पंच महायज्ञ करनेवाले शूद्र अबहिष्कृत हैं। इस समाधान को सुनकर विद्यार्थी इष्टापत्ति (प्रयोग की असिद्धि) दिखाते हुए कहेंगे—

एवमपि तक्षायस्कारं रजकतन्तुवायमिति न सिध्यति।

यदि अबहिष्कृत शूद्रों का ऊपर बतलाया हुआ लक्षण है, तो 'तक्षायस्कारम्, रजकतन्तुवायम्' ये प्रयोग सिद्ध न होंगे। क्योंकि तक्षा[10], अयस्कार[11], रजक[12] और तन्तुवाय[13] इन चार शूद्रों को यज्ञ करने का अधिकार नहीं है। यदि यज्ञाधिकार न मिलना ही बहिष्कृत का लक्षण होता, तो इन चारों शब्दों के समाहार के द्वंद्व में एकवचन और नपुंसक-लिंग, जो कि इन प्रयोगों में बतलाया गया है, नहीं होने पाता। परन्तु जब ये प्रयोग उक्त समास में सिद्ध हो रहे हैं, तब यह भी मानना होगा कि ये चारों जातियाँ अबहिष्कृत शूद्र हैं। आप कहते हैं कि जिन शूद्रों को यज्ञाधिकार प्राप्त हैं, वे अबहिष्कृत हैं। हम ऐसे चार शूद्रों का प्रयोग देखते हैं, जिन्हें यज्ञाधिकार अप्राप्त है, परन्तु जो अबहिष्कृत हैं। इस शंका का समाधान मुनि पतञ्जलि यों करते हैं—

एवं तर्हि पात्राद्निरवसितानाम्।

यदि ऊपर के समाधानों में इष्टापत्ति, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोष रहते हैं, और वे सब समाधान एकदेशीय (अपूर्ण) हैं, तो ऐसा लक्षण समझो कि जो शूद्र पात्र से बहिष्कृत नहीं हैं, वे अबहिष्कृत माने जायँ। पात्र से बाहर न करने या करने से आचार्य का जो अभिप्राय या,

---

१० तक्षा—यह लकड़ी काटनेवाली या लकड़ी का काम करनेवाली जाति प्रतीत होती है।

११. अयस्कार—लोहे का काम करनेवाली जाति (लोहार)।

१२. रजक—कपड़ा धोनेवाली और रँगनेवाली जाति।

१३. तन्तुवाय—कपड़ा बुननेवाली जाति (जुलाहे)। तक्ष, अयस्कार, रजक और तन्तुवाय ये चारों जातियाँ अबहिष्कृत शूद्रों के साथ ही गिनी जाती थीं, परन्तु इन्हें पञ्च महायज्ञ करने का अधिकार न था।

उसे विद्यार्थी समझ गए, क्योंकि आगे फिर उन्होंने कोई प्रश्न नहीं किया। भगवान् पतंजलि सर्वसाधारण विद्यार्थियों पर अनुग्रह करते हुए पात्र से अबहिष्कृत और पात्र से बहिष्कृत इन शब्दों का धर्मशास्त्र में निर्दिष्ट अर्थ यों स्पष्ट करते हैं—

> यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेण शुध्यति तेऽनिरवसिताः।
> यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेणाऽपि न शुध्यति ते निरवसिता इति।

जिन शूद्रों के भोजन करने पर पात्र (जूठा बरतन) संस्कार[14] से, जैसा कि धर्मशास्त्र में बतलाया है, शुद्ध हो सकता है, वे अनिरवसित (अबहिष्कृत) शूद्र हैं। जिन शूद्रों के भोजन करने पर पात्र (जूठा बरतन) संस्कार से भी शुद्ध नहीं हो सकता, वे निरवसित (बहिष्कृत) शूद्र हैं।

महाभाष्य के अनुसार इस सूत्र का भावार्थ यह प्रतीत होता है कि शूद्र दो प्रकार के हैं—अबहिष्कृत और बहिष्कृत। बहिष्कृतों में केवल दो जातियाँ हैं—चण्डाल और मृतप। बाकी सब अबहिष्कृत हैं। अबहिष्कृतों में तक्ष, अयस्कार, रजक और तंतुवाय इन चार शूद्रों को पंचयज्ञ का अधिकार नहीं है। शक और यवन का एक ही उदाहरण महाभाष्य में दिया है। उससे विदित होता है कि महाभाष्यकार पतंजलि जाति से और गुणकर्म से, दोनों प्रकार से वर्ण-व्यवस्था मानते थे। क्योंकि शक और यवन जाति से क्षत्रिय थे, पर द्विजोचित कर्म का

---

१४. संस्कार—ताम्रायः कांस्यरैत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च।
शौचं यथार्हं कर्तव्यं क्षाराम्लोदकवारिभिः॥

ताँबा, लोहा, काँसा, पीतल, राँगा और सीसा इन धातुओं के बरतन अपवित्र होने पर भस्म, क्षार के पानी और जल से माँज धोकर शुद्ध किए जायँ। सुवर्ण के बरतन को केवल पानी से, चाँदी, लोहे और काँसे के बरतन को राख से, ताँबे और पीतल के बरतनों को खटाई के पानी से शुद्ध करना चाहिए। कैयट का अभिप्राय इसी संस्कार से है; आयुर्वेद में लिखित धातु-शुद्धि से नहीं।

लोप होने पर शूद्रत्व को पहुँच गए थे। पीछे इनके जो वंशज हुए, वे जाति से भी शूद्र माने गए। सब प्रकार के अबहिष्कृत शूद्र द्विजातियों के बरतनों में भोजन करते रहे हैं। उनके उच्छिष्ट बरतन साधारण रीति से माँजने धोने से ही शुद्ध माने गए हैं।

---

(१२) आमेर के महाराज सवाई जयसिंह के ग्रंथ और वेधशालाएँ

[२]

[लेखक—पंडित केदारनाथ शर्मा, राजपंडित, जयपुर]

(नागरीप्रचारिणी पत्रिका, नवीन संस्करण, भाग ३, पृ. ४११ से आगे]

सवाई जयसिंह जी महाराज के ग्रंथों में से 'जीच महम्मद-शाही' नामक फारसी के ग्रहगणित-विषयक ग्रन्थ की भूमिका का भाषा अनुवाद नागरीप्रचारिणी पत्रिका में पहले दिया जा चुका है। अब यहाँ पर उस ग्रंथ के सब विषयों की सूची दी जाती है *।

[१] सूर्य की सारणियाँ—

(१) सूर्य के क्रान्तिवृत्तीय मध्यम भोग तथा सूर्य के उच्च के मध्यम भोग, हिजरी सन् ११४१ से ११७१ तक।

(२) सूर्य और उसके उच्च की मध्यम गतियाँ निम्न लिखित अरबी वर्षों की—

३०, ६०, ९०, १२०, १५०, १८०, २१०, २४०, २७०, ३००, ६००, ९००, १२०० ।

(३) सूर्य की और उसके उच्च की मास गति, प्रति अरबी महीने की।

(४) सूर्य की और उसके उच्च की दैनिक गति, १ से ३१ दिन तक की।

(५) सूर्य की और उसके उच्च की प्रति घण्टे की गति। यह गति मिनट और सेकेण्ड की गति जानने के लिये ६१ घंटों तक की

* डब्ल्यू. हंटर साहब के लेख के आधार पर।

दी गई है, जिससे एक ही कोष्ठक से घंटे, मिनट, सेकेंड तक की गति लाई जा सकती है।

(६) सूर्य और उसके उच्च की हिजरी वर्ष १ से ३१ तक की प्रति वर्ष की गति।

(७) काल समीकरण जिसके द्वारा यह जाना जाता है कि मध्यम और स्पष्ट समय का वर्ष भर में किस क्रम से अन्तर बढ़ता घटता है।

(८) सूर्य का मंदफल संस्कार। इस संस्कार का उपकरण सूर्य का मध्यम केन्द्र है; और उसमें काल समीकरण संस्कार दिया गया है। यदि मध्यम केन्द्र उत्तर की राशियों में अर्थात् मेष से कन्या तक में हो, तो मंदफल संस्कार ऋण किया जाता है; और यदि दक्षिण की राशियों में तुला से मीन तक में मध्यम केन्द्र हो, तो मंदफल संस्कार धन किया जाता है।

(९) सूर्य का मन्दकर्ण और उसकी प्रति घंटे की गति और सूर्य का स्पष्ट बिम्ब मान अर्थात् पृथ्वी से सूर्य तक का अंतर। इसका उपकरण संस्कृत मध्यम केंद्र है।

[२] चंद्रमा की सारणियाँ—

(१–६) इन छः सारणियों में चंद्रमा के मध्यम भोग तथा चंद्रमा की महीने, दिन, घंटे, मिनट आदि की गतियो, उच्च के भोग और गतियों तथा राहु के भोग और गतियों का विषय है। ये सब सारणियाँ भी सूर्य की सारणियों के अनुसार हिजरी सन् के अनुसार बनाई गई हैं।

(७) चंद्रमा का मंदफल संस्कार। इस संस्कार का उपकरण चंद्र मध्यम केंद्र है, जिसमें काल समीकरण संस्कार दिया गया है। और यह मंदफल संस्कार चंद्रमा में भी सूर्य की तरह मंद केंद्र के उत्तर-दक्षिण की राशियों में ऋण या धन किया जाता है।

(८) चंद्रमा में द्वितीय फल संस्कार। यह संस्कार मंदफल

संस्कृत चंद्रमा में और प्रथम संस्कार से संस्कृत उच्च में तथा राहु में भी दिया जाता है।

इस संस्कार के लाने में दो उपकरण आवश्यक होते हैं—

(क) मंदफल संस्कृत चंद्रमा के भोग में से सूर्य का मंदफल संस्कृत भोग घटाना चाहिए। यह उपकरण राश्यादिक होता है और चंद्रमा की द्वितीय संस्कार सारणी के ऊपर और नीचे की तरफ राशिक्रम से लिखा गया है।

(ख) प्रथम संस्कार संस्कृत चंद्रमा में से सूर्य के उच्च का भोग घटाना चाहिए। जो राश्यादि शेष रहे, उसकी राशि और अंश सारणी की दाहिनी और बाईं तरफ लिखे गए हैं।

यह संस्कार ऊपर लिखे (क) (ख) संज्ञक दोनों उपकरणों के संपात से लाया जाता है।

यदि दूसरा उपकरण अर्थात् (ख) क्रान्ति वृत्त के प्रथम अर्ध अर्थात् मेषादि छः राशियों में हो और प्रथम उपकरण अर्थात् (क) क्रांति वृत्त के प्रथम और चतुर्थ चरण में हो, अर्थात् मेष से मिथुन तक वा धनु से मीन तक की राशियों में हो, तो यह द्वितीय संस्कार चंद्रमा में धन किया जाता है; और यदि प्रथम उपकरण अर्थात् (क) क्रांति वृत्त के द्वितीय वा तृतीय चरण में हो, अर्थात् कर्क से कन्या तक वा तुला से धनु तक हो, तो यह द्वितीय संस्कार चंद्रमा में ऋण किया जाता है।

किंतु यदि दूसरा उपकरण अर्थात् (ख) क्रांति वृत्त के उत्तरार्ध में हो और पहला उपकरण, अर्थात् (क) क्रांति वृत्त के प्रथम वा चतुर्थ चरण में हो, तो यह द्वितीय संस्कार चंद्रमा में ऋण किया जाता है; और यदि पहला उपकरण अर्थात् (क) क्रांति वृत्त के द्वितीय वा तृतीय चरण में हो, तो यह द्वितीय संस्कार चंद्रमा में धन किया जाता है।

(९) चंद्रमा के तृतीय संस्कार लाने में भी दो उपकरण आवश्यक होते हैं। वे ये हैं—

(क) प्रथम और द्वितीय संस्कारों से संस्कृत चंद्रमा में से सूर्य का स्पष्ट राश्यादिक भोग घटाना चाहिए। शेष जो राश्यादिक रहे, उसके राशि और अंश तृतीय संस्कार सारणी के ऊपर नीचे की तरफ दिए गए हैं।

(ख) चंद्रमा के मध्यम केंद्र में भी द्वितीय संस्कार देना चाहिए। संस्कृत चंद्र-मंद-केंद्र के राशि और अंश तृतीय संस्कार सारणी की दाहिनी और बाईं तरफ दिए गए हैं।

यह तृतीय संस्कार भी इन दोनों (क) और (ख) के संपात से लाया जाता है और सारणी में दिए हुए धन-ऋण के चिह्न के अनुसार प्रथम और द्वितीय संस्कारों से संस्कृत चंद्रमा में दिया जाता है। और इस तृतीय संस्कार के देने पर चंद्रमा अपनी कक्षा में स्पष्ट हो जाता है।

(१०) राहु का संस्कार—

इस संस्कार के लाने के लिये चंद्रमा के तीन संस्कारों से संस्कृत भोग में से सूर्य भोग घटा देना चाहिए। जो शेष रहे, वह उपकरण होगा।

इस उपकरण से राहु-संस्कार की सारणी से फल लाना चाहिए। और वह संस्कार प्रत्येक अंक के साथ दिए हुए धन-ऋण चिह्न के अनुसार राहु में जोड़ना या घटाना चाहिए।

और इसी संस्कार के साथ राहु के द्वितीय संस्कार के अंक भी 'राहु संस्कार' के नाम से दिए हुए हैं। यह संस्कार भी राहु के भोग में सारणी में दिए धन-ऋण चिह्न के अनुसार जोड़ना या घटाना चाहिए।

(११) चंद्रमा का चतुर्थ संस्कार, अथवा चंद्रमा के भोग का (जो चंद्रमा की निज कक्षा का है) सूर्य की कक्षा पर (अर्थात

क्रांति वृत्त पर, जिस पर सूर्यादि सब ग्रहों के भोग लाए जाते हैं) परिणत करने का संस्कार।

चंद्रमा के तीन संस्कारों से संस्कृत किए हुए भोग में से राहु का संस्कृत किया हुआ भोग घटा देना चाहिए। जो शेष रहे, वह चंद्रमा का शर लाने का उपकरण होगा। और यही उपकरण चंद्रमा का चतुर्थ संस्कार लाने में भी उपयोगी होगा।

यह उपकरण यदि प्रथम अथवा तृतीय पद में हो (अर्थात् मेष से मिथुन तक वा तुला से धनु तक हो) तो चंद्रमा की निज कक्षा के भोग में से (तीन संस्कार किए हुए चंद्रमा में से) यह चतुर्थ संस्कार घटा देना चाहिए। और उपकरण यदि द्वितीय वा चतुर्थ पद में हो, अर्थात् कर्क से कन्या राशि तक वा धनु से मीन राशि तक हो, तो यह संस्कार चंद्रभोग में जोड़ देना चाहिए। यह चतुर्थ संस्कार कर देने पर चंद्रमा का भोग क्रांतिवृत्तीय (अर्थात् जिस वृत्त पर सूर्य आदि ग्रहों का गणित लाया जाता है, उस वृत्त पर का) होगा।

(१२) चंद्रमा के शर लाने की सारणी में दो कालम हैं। उनमें क्रम से चंद्रमा का शर और चंद्र-शर का संस्कार है। ये दोनों ही पदार्थ ऊपर साधन किए हुए शर लाने के उपकरण के राशि, अंशों द्वारा शर-सारणी से लाए जाते हैं।

राहु के संस्कार को और चंद्र-शर के दूसरे कालमवाले अंक को आपस में गुण देना चाहिए; और गुणन-फल चंद्रमा के शर में जोड़ देना चाहिए। यह संस्कार कर देने पर चंद्रमा का शर स्पष्ट होगा।

यदि चंद्र-शर लाने का उपकरण मेष से कन्या तक की राशियों में हो, तो यह शर उत्तर दिशा का होगा; और यदि तुला से मीन तक की राशियों में हो, तो यह शर दक्षिण दिशा का होगा।

[३] शनि की सारणियाँ—

(१–६) ये छः सारणियाँ शनि के मध्यम भोग, शनि के उच्च

और पात के मध्यम भोगों की हैं; और इन सारणियों में सूर्य और चंद्र सारणी के तुल्य ही उपकरण हिजरी सन् के वर्ष, मास आदि दिए हुए हैं।

(७) शनि का प्रथम संस्कार—

इसका उपकरण शनि का मध्यम केंद्र है। यदि यह केंद्र मेष से कन्या तक की छः राशियों में हो, तो यह संस्कार मध्यम योग में से ऋण किया अर्थात् घटाया जाता है। और यदि तुलादि छः राशियों में हो, तो यह संस्कार जोड़ा जाता है।

(८) शनि के पात का संस्कार—

इसका उपकरण 'शर का उपकरण' नाम से कहा गया है। उपकरण लाने का प्रकार यह है कि शनि के प्रथम संस्कार से संस्कृत किए हुए भोग में से पात का भोग घटा देना चाहिए। यदि यह उपकरण पहले और चौथे पद में हो (अर्थात् मेष से मिथुन तक वा धनु से मीन तक की राशियों में हो) तो यह संस्कार धन किया अर्थात् जोड़ा जाता है। यदि दूसरे और तीसरे पद में (अर्थात् कर्क से धनु तक की राशियों में) हो, तो यह संस्कार ऋण किया अर्थात् घटाया जाता है।

(९) शनि का द्वितीय संस्कार—

यह संस्कार शनि के निज कक्षावृत्तीय भोग को सूर्य के कक्षावृत्त में अर्थात् क्रांति वृत्त पर परिवर्तित करने के लिये किया जाता है।

इसका उपकरण संस्कृत किया हुआ शर का उपकरण ही है। अथवा यों कहना चाहिए कि शनि के प्रथम संस्कृत भोग का और संस्कृत राहु के भोग का जो अंतर है, वही इस सारणी का उपकरण होता है।

यह संस्कार प्रथम संस्कार संस्कृत से ग्रह के निज कक्षावृत्तीय भोग में जोड़ा और घटाया जाता है। धन ऋण करने का नियम वही है

जो चंद्रमा की सारणियों में कक्षावृत्त से क्रांति वृत्त पर परिणत करने में लिखा जा चुका है ।

(१०) शनि का शर लाने की सारणी—

इसका उपकरण भी वैसे ही लाना चाहिए, जैसे चंद्रमा के शर लाने का उपकरण बताया गया है ।

(११) शनि का मंदकर्ण लाने की सारणी ।

मंदकर्ण उस दूरी का नाम है जो पृथ्वी से ग्रह तक है ।

इस सारणी का उपकरण शनि का मध्यम मंद केंद्र है, जिसमें द्वितीय फल संस्कार भी किया गया हो ।

[४] बृहस्पति की सारणियाँ—

(१-४) ये सारणियाँ शनि की सारणियों के तुल्य ही हैं । किंतु इनमें शनि-पात के संस्कार की सारणी नहीं है । इस कारण बृहस्पति की सारणियाँ संख्या में १० ही हैं ।

(५—७) ये मङ्गल, शुक्र और बुध की सारणियाँ हैं और इन सब की संख्या और प्रकार बृहस्पति की सारणियों के समान है ।

यही 'जीच महम्मद शाही' की विषय-सूची है । यह ग्रंथ फारसी भाषा में होने के कारण प्रचार में नहीं आया । इस समय इस ग्रन्थ की केवल दो प्रतियाँ उपलब्ध हैं । एक तो अलवर के राजकीय पुस्तकालय में और दूसरी ब्रिटिश म्यूजियम (लंडन) के पुस्तकालय में । जयपुर की वेधशाला की मरम्मत कराने के समय अलवर की पुस्तक ए. एफ्. गैरट् साहब ने मँगवाई थी; किंतु उसके गणित के अंक फारसी अंकों में बिंदी जैसे लिखे होने के कारण उसका कुछ उपयोग नहीं हुआ । डब्ल्यू हंटर साहब ने जो भूमिका, विषय-सूची आदि एशियाटिक् रिसर्चेज् के पंचम भाग में दी है, उसी के आधार पर गैरट् साहब ने अपनी यंत्र-वर्णन की पुस्तक में सब बातें लिखी हैं ।

'जीच महम्मद शाही' की भूमिका से उक्त ग्रंथ की उपादेयता अवश्य

ही प्रतीत होती है; क्योंकि उस समय ग्रहगणित की पाश्चात्य देश (इंग्लैंड) में भी उन्नति होने का प्रारम्भिक काल ही था। वहाँ की सारणियों के गणित से चंद्रमा का गणित ठीक नहीं होता। उसमें चंद्र ग्रहण में पाँच मिनट तक का अंतर पड़ता था, यह इस भूमिका से जाना जाता है। महाराज सवाई जयसिंह ने स्वयं यन्त्र-शालाएँ बनवाकर इस सूक्ष्म अंतर को भी निकालने की कोशिश की और उस में सफलता भी हुई, यह उनके लिये कम गौरव की बात नहीं है।

---

(१४) समालोचना

भाषा विज्ञान—लेखक बा० श्यामसुन्दर दास बी० ए०, प्रकाशक बाबू रामचंद्र वर्मा, साहित्य रत्न-माला कार्यालय, बनारस सिटी। पृ० सं०३८०+२०। मूल्य ३)

सब को विदित है कि एक नहीं डेढ़ पीढ़ी से बाबू श्यामसुंदरदास हिंदी की अनवरत सेवा कर रहे हैं, जिससे इन दोनों में घनिष्ट संबंध हो गया है। बाबू श्यामसुंदर दास ने अपनी आराध्य देवी हिंदी को केवल काशी विश्वविद्यालय ही में नहीं वरन् पुराने से पुराने कलकत्ता विश्वविद्यालय और नवीन से नवीन नागपुर विद्यापीठ में उच्च से उच्च आसन पर बैठा दिया अर्थात् एम० ए० की परीक्षा में प्रवेश करा दिया है और उसे सर्वांग विभूषित करने के लिये अनेक चमकदार रत्न प्रकट किये हैं, जिनमें से सब से नवीन "भाषा विज्ञान" है। इसमें एक ऐसे विषय का परिशीलन किया गया है जिसकी देशी भाषाओं में न्यूनता थी और जिसको अँग्रेजी में फाइलालोजी कहते हैं। इसकी परिभाषा उक्त बाबू साहब ने ग्रंथ के आदि में यों दी है—"भाषा विज्ञान उस शास्त्र को कहते हैं जिसमें 'भाषा' मात्र के भिन्न भिन्न अंगों और स्वरूपों का विवेचन तथा निरूपण किया जाता है।" इसको अधिकतर स्पष्ट करने के लिये आप लिखते हैं—"मनुष्य किस प्रकार भाषण करता है, उसके भाषण का किस प्रकार विकास होता है, उसके भाषण और उसकी भाषा में कब, किस प्रकार और कैसे कैसे परिवर्तन होते हैं, किसी भाषा में दूसरी भाषाओं के शब्द आदि किन किन नियमों के अधीन होकर मिलते हैं, कैसे तथा क्यों समय पाकर किसी भाषा का रूप ही और का और हो जाता है तथा एक भाषा किस प्रकार परिवर्तित होकर पूर्णतया स्वतंत्र एक दूसरी भाषा का रूप धारण कर लेती है, इन

विषयों तथा इनसे संबंध रखनेवाले और सब उपविषयों का भाषा विज्ञान में समावेश होता है। इसमें शब्दों की उत्पत्ति और रूप-परिवर्तन तथा वाक्यों की बनावट आदि पर भी विचार किया जाता है।" इससे सरलता से अनुमान हो सकता है कि इसके लिये किस कोटि के पांडित्य की आवश्यकता है। ग्रंथकर्ता ने जिस योग्यता के साथ विषय का प्रतिपादन किया है, वह उसके पाठकों ही को ज्ञात हो सकता है। ऐसे विषय में मतभेद की अधिक संभावना रहती है; परंतु समालोच्य पुस्तक में इस प्रकार से विवेचन किया गया है जिससे शंकाओं के लिये अधिक जगह नहीं छोड़ी गई। इसी कारण यह पुस्तक एम० ए० के समान परीक्षाओं के लिये बहुत उपयुक्त बन गई है।

भाषा विज्ञान से केवल भाषा संबंधी ज्ञान ही प्राप्त नहीं होता, वरन् जाति विज्ञान या मानव विज्ञान को भी सहायता पहुँचती है। भाषा विज्ञान के ही बल पर यहाँ के मूल निवासी गोंड भीलादि का आगमन आस्ट्रेलिया और अफ्रिका से निर्धारित किया गया है। यद्यपि यह प्रश्न विवादग्रस्त है, तथापि भाषाओं के साम्य से भारतवर्ष और उक्त महाद्वीपों की जातियों का संबंध निश्चित हो चुका है। यह भाषा ही की करतूत है जो बड़े बड़े समुद्र ओड़े पड़ जाने पर भी सहस्रों वर्ष के बिछुड़े भाइयों का मिलाप कर देती है। भाषा क्षेत्र विस्तीर्ण है, अभी तक पूरा जुता नहीं। अधिकतर अध्ययन से न जानें और कितनी बातों का पता लग जाय। बरमी भाषा अँगेजी भाषा से बिलकुल भिन्न है। परंतु मेरे एक बरमी मित्र ने मुझे प्रायः सौ शब्द ऐसे बताए जो दोनों भाषाओं में मिलान खाते हैं। परंतु ऐसी बातों से सिद्धान्त स्थिर करने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता रहती है। नहीं तो परिणाम वैसा ही हास्यजनक हो जाता है जैसा गोंड और अंग्रेज के साम्य में। गोंड सागौन को टेका कहते हैं, अंग्रेज टीक कहते हैं। गोंड स्त्री पुरुष कतार बाँधकर नाचते हैं, अंग्रेज

भी वैसा ही नाचते हैं, जंगली गोंड़ आबदस्त नहीं लेते, वैसा ही अंग्रेज करते हैं, इसलिये गोंड़ अंग्रेज हैं।

हम बाबू श्यामसुंदरदास को बधाई देते हैं कि उन्होंने नवीन प्रकार की रचना कर हिन्दी साहित्य के भांडार को भरने का श्रेय प्राप्त किया है। परंतु स्मरण रहे कि इस विषय की इतिश्री इसी पुस्तक से नहीं होती। भाषा-मर्मज्ञों को चाहिए कि इस परम उपयोगी विषय पर अनेक पुस्तकें लिखें जिनसे तुलना के लिये अधिकतर सामग्री प्राप्त हो सके। बाबू साहब ने पंथ दिखला दिया, अब हिन्दी-रसिकों पर निर्भर है कि वे उसकी पुष्टि और वृद्धि करें।

हीरालाल

(बी०ए०, राय बहादुर)

प्राचीन मुद्रा—श्रीयुक्त राखालदास बंद्योपाध्याय की बँगला पुस्तक का अनुवाद, अनुवादक बाबू रामचन्द्र वर्मा, प्रकाशक-नागरीप्रचारिणी सभा काशी। पृ० संख्या १०+१२+२६९+१८ मूल्य ३)

श्रीयुत बाबू राखालदास बंद्योपाध्याय का नाम पुरातत्व विभाग में बहुत ही ऊँचा है। पुरातत्व, लिपितत्व, मुद्रातत्व और इतिहास में उनको समान गति है और अपनी मातृभाषा से उन्हें अत्यन्त प्रेम है। ऊपर लिखे विषय इस प्रकार के हैं कि उनका मथन बहुधा अंग्रेजी या अन्य युरोपीय भाषाओं में किया जाता था, इसलिये इस देश के बहुतेरे लोग जो युरोपीय भाषाएँ नहीं जानते, इन विषयों के ज्ञान से वंचित रह जाते थे। केवल बँगला जाननेवालों के सुभीते के लिये उक्त बाबू साहब ने कोई दस वर्ष पूर्व 'बाङ्गलार इतिहास' नामक बंगाल का प्रामाणीक इतिहास लिखा था और उसके एक साल पश्चात् "प्राचीन मुद्रा" नामक दूसरा ग्रन्थ बँगला में प्रस्तुत किया। ये दोनों पुस्तकें ऐसी अच्छी बनीं कि इनका मान बंगाल ही में नहीं वरन भारतवर्ष और युरोप तक में हुआ। नवंबर सन् १९१५ ई० की हितकारिणी में 'बँगालार

इतिहास' की समालोचना करते हुए मैंने लिखा था:—"इस हिन्दी पत्र में बंगाली पुस्तक के विषय में चर्चा करने का इतना ही अभिप्राय है कि हिन्दी बोलनेवालों पर यह प्रकट हो जाय कि अन्य प्रांतों के विद्वान् अपनी मातृभाषा की सेवा करने के लिये किस प्रकार उत्साहित हैं और अनेक रत्न उपार्जित कर उसका भाण्डार भरने के लिये कितना उद्योग करते हैं। साथ ही इसके यह भी बताने की आवश्यकता है कि यदि हर एक प्रांत के एक दो विद्वान् बनर्जी बाबू की शैली की ऐतिहासिक पुस्तकें रच डालें, तो हिंदुस्थान के इतिहास का संग्रह कैसा परिपूर्ण और श्रेष्ठ हो जाय और भारतीय साहित्य के एक अपूर्ण अङ्ग की पूर्ति हो जाय।"

भारत का शृंखलाबद्ध इतिहास लिखा ही नहीं गया। इसलिये इधर उधर का जोड़ तोड़ लगाकर सामग्री इकट्ठी करने का प्रबंध किया गया है। इसके दो ही मुख्य साधन अवगत हैं अर्थात् शिला-ताम्रलेख और मुद्रा। मुद्राओं में अधिक लेख लिखने की गुंजाइश नहीं रहती तिस पर भी इन मितभाषी धातुओं के टुकड़ों ने कई खोए हुए वंश-वृक्षों को पुनः सामने खड़ा किया है और उनको भारतीय चरित्र में गौरव का स्थान प्राप्त करा दिया है। कभी कभी अकेला छोटा सा नाम बड़ा काम कर जाता है। सर आशुतोष मुकर्जी ने अपनी मृत्यु के प्रायः दो मास पूर्व पटने में बिहार और उड़ीसा की खोज-सभा के समक्ष व्याख्यान देते हुए कहा था कि हाथीगुंफा के बृहच्चटान लेख का कैसा ही विद्वान् पढ़नेवाला महाराजा खारवेल के गोरथगिरि की चढ़ाई का पता न लगा सकता, यदि उनके स्वर्गीय मित्र चार्लस रसल ने बराबर की पहाड़ियों पर केवल एक द्वि-शब्दी लेख का पता न लगाया होता। उस पहाड़ पर एक जगह "गोरथगिरि" नाम खुदा है जिससे स्पष्ट है कि खारवेल ने जिसका नाम सुनकर कोई ऐसा शहर न था जो काँप न उठता था, बराबर के पर्वत पर कोई दो हजार वर्ष पूर्व आक्रमण किया था।

मुद्राओं के लेखों से इससे कहीं अधिक मसाला मिल जाता है। राजाओं के नाम के सिवा उनके वंश, अधिकार, काल, धर्म्म, पोशाक, रुचि, शिल्प-कला, सभ्यता आदि का पता लगता है। उदाहरणार्थ समुद्रगुप्त के सिक्के लीजिए। ये कई प्रकार के मिलते हैं। एक में ध्वजा लिये राजा की मूर्ति बनी रहती है। वह दाहिने हाथ से अग्नि-कुंड में धूप डालता दिखलाया गया है। आस पास उपगीति छंद में "समर शत वितत विजयी जितारि पुरजितो दिवं जयति" अंकित है, जो उसके पराक्रम की सूचना देता है। दूसरी ओर लक्ष्मी की मूर्ति बनी है, जिससे स्पष्ट है कि उसकी आराध्य देवी लक्ष्मी थी। दूसरे सिक्के में राजा धनुष बाण लिये बतलाया गया है। तीसरे में राजा के साथ रानी कुमार देवी की मूर्त्ति बनी रहती है। चौथे में राजा परशु लिये चित्रित पाया जाता है। पाँचवें में बाघ पर तीर चलाता हुआ, छठें में बीणा बजाता हुआ, सातवें में अश्वमेध यज्ञ करता हुआ दिखलाया गया है। इन सिक्कों से वे सब बातें जो ऊपर गिनाई गई हैं; एक दम प्रकट हो जाती है।

'प्राचीन मुद्रा' में मुसलमानी राज्य के पूर्व के सिक्कों का ब्योरेवार वर्णन है जिससे मर्मज्ञ अनेक ऐतिहासिक बातों का पता लगा सकते हैं। इस पुस्तक में बारह परिच्छेद हैं जिनमें यूनानी, शक, कुषण-वंशीय, गुप्तवंशी, सैसनीय, आंध्र, हूण, प्रतीहार, कलचुरि, चालुक्य, गाहड़वाल, चन्देल इत्यादि अनेक राजाओं के सिक्कों का विवेचना-पूर्ण वर्णन किया गया है और जो वर्तमान अनुवाद द्वारा हिन्दी जाननेवालों को उपलब्ध है। प्रामाणिक मुद्रातत्ववेत्ता बनर्जी बाबू द्वारा प्रणीत, हिन्दी के सिद्धहस्त लेखक बाबू रामचन्द्र वर्म्मा द्वारा अनुवादित, लिपि-तत्ववेत्ता राय बहादुर पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा द्वारा संपादित, इतिहासज्ञ मुंशी देवीप्रसाद की पुस्तक-माला में सम्मिलित और हिन्दी सभाओं की अग्रगण्य काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रका-

शित यह ग्रंथ केवल संग्रह के लिये ही नहीं है, वरन् मननपूर्वक अध्ययन के योग्य है। अंत में वर्णाक्षर क्रमानुसार विषयानुक्रमणिका जोड़ देने से उसकी उपयोगिता अधिक बढ़ गई है। यदि गत नौ वर्षों में मिले हुए प्राचीन सिक्कों का वर्णन परिशिष्ट में जोड़ दिया जाता तो बहुत ही अच्छा होता। यह सरलता से हो सकता था; क्योंकि भाग्य-वश इसके सम्पादक ऐसे मिले जो इस विषय के विशेष मर्मज्ञ हैं। कदाचित् इस सुन्दर ग्रन्थ को कहीं नजर न लग जाय, इसलिये मुद्रक ने थोड़ा इस पर काजल लगा दिया है। पृ० २०८ में लिखा है–"गौप्त संवत् १९१ में खुदे हुए और ईरान में मिले हुए एक और शिला-लेख में भानुगुप्त नाम के मालव के एक और राजा का उल्लेख है।" पाठक इस ईरान को पढ़कर फारस देश का ध्यान कर अवश्य हैरान होंगे। यह ईरान सागर जिले का योपान एरन है। यह अनुवादक का दोष नहीं है, मूल ही में भूल है। एरन का नाम कई बार आया है। परन्तु बँगला में ईराण व इराण ही छपा है। अनुवादक ने एक दो जगह शुद्ध करने की चेष्टा भी की है। यथा षष्ठ परिच्छेद में बँगला पुस्तक के पृष्ठ १०४ में लिखा है। 'मध्य प्रदेशे सागर जेलाय इराण नामक स्थाने एक प्रकार प्राचीन ताम्रमुद्रा आविष्कृत हइयाछे'। इसका अनुवाद पृ० १३१ में यों किया गया है–'मध्य प्रदेश के सागर जिले के ऐरन नामक स्थान में" इत्यादि। पृ० २३५ में इसने ऐरिन रूप धारण कर लिया है। इसी प्रकार भरहुत की फजीहत हुई है। इस छोटे से गाँव का नाम जनरल कनिंघम ने 'The Stupa of Bharhut' १०५ वर्ष पूर्व लिख कर जाहिर कर दिया था। हमारे देशी इतिहास-कारों ने गाँव का नाम भरहट, भारहट, भारहुत, भरहूत, बरहुत आदि नामों से अमर कर दिया है। 'हिन्दी प्राचीन मुद्रा' में बरहूत लिखा गया है (देखो पृ० ९ या प्रथम चित्रपट) कनिंघम ने अपनी पुरातत्व की रिपोर्ट में एक जगह एक गीत लिखा है जो इस प्रकार है—

पानी भरौं बकौली रहौं घनेरे गाँव ।

भरहुत क्यार गड़रिया तासो जुड़ों सनेव (सनेह)

इसमें भरहुत की जगह बरहूत या भरहूव कर देने से गीत वेतुका हो जायगा, परंतु इस पर कौन ध्यान देता है। अंग्रेजी के हिज्जे की खूबियों की प्रदर्शनी कर ही दी गई। छापे की छोटी मोटी कुछ और भूले हैं, परतु थोडी हैं। वे पाठकों को भ्रम मे नहीं डाल सकती ।

हीरालाल

(रायबहादुर, बी० ए०)

हिंदी लोकोक्ति संग्रह कोष—लाला विश्वंभरनाथ खत्री द्वारा संकलित, सम्पादित और प्रकाशित, मूल्य सादी जिल्द ३॥), सुनहरी जिल्द ४), मिलने का पता—ग्रन्थकर्ता, ९९ हैरिसन रोड, कलकत्ता ।

पंडित लक्ष्मण नारायण गर्दे ग्रंथ का परिचय देते हुए लिखते हैं—"लोकोक्ति भी भाषा का एक अलकार है, पर केवल अलंकार नहीं है, अलकार से बहुत कुछ अधिक है। यह लोकोक्ति है—लोक-विशेष के ज्ञान, अनुमान और अनुभव का 'गागर मे सागर' है। कुछ लोकोक्तियाँ घटना विशेष से उत्पन्न होती हैं, कुछ इतिहास विशेष के सस्कार से निकलती हैं और कुछ नित्य के व्यवहार से। प्रत्येक लोकोक्ति किसी न किसी कवि की ही उक्ति है, परतु उसमें ज्ञान अकेले उस कवि का नहीं, प्रत्युत् सारे समाज का होता है। समाज उस उक्ति में अपने ही अनुभव का दर्शन कर प्रसन्न होता है और उसे सादर ग्रहण करता है। इसी बात पर अंग्रेजी भाषा में एक लोकोक्ति है—"Wisdom of many and Wit of one" अर्थात् 'बहुतों की अनुभूति और एक की उक्ति।' इसमें संदेह नहीं कि लोकोक्तियाँ साहित्य का एक अंग हैं। इनसे अपने पूर्वजों के अनुभव, ज्ञान और चोज भरे वचनों का ही परिचय नहीं होता, वरन् इनके प्रयोग से भाषा में एक प्रकार का लालित्य और चमत्कार आ जाता है, जो उसे मनोमुग्धकारी बना देता

है। इसलिये लोकोक्तियों का संग्रह करना मानों पूर्व के ज्ञान और अनुभव के भंडार को संचित और रक्षित करना है। हिंदी में लोकोक्तियों की कमी नहीं है, पर अब तक इनका कोई अच्छा संग्रह नहीं हुआ था। जहाँ तक हमें ज्ञात है, फैलन साहब ने पहले पहल एक ऐसा संग्रह तैयार करके छपवाया था; पर उसका मूल रोमन अक्षरों में और व्याख्या आदि अंग्रेजी भाषा में थी, इससे जनसाधारण में उसका प्रचार न हो सका। और भी कई महाशयों ने कई छोटे मोटे संग्रह बार छपे और छपवाए हैं, पर कोई अच्छा संग्रह अभी तक नागरी अक्षरों और हिंदी भाषा में नहीं छपा है। लाला विश्वंभरनाथ ने इस कष्टसाध्य कार्य को पूर्ण करके हिंदी साहित्य का उपकार किया है और इसके लिये वे धन्यवाद और प्रशंसा के पात्र हैं। लाला विश्वंभरनाथ का ग्रंथ सुपर रायल अठपेजी आकार के ३५५ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। प्रत्येक पृष्ठ में लगभग २३ उक्तियाँ आई हैं। अतएव अनुमानतः इस ग्रंथ में लगभग ८, ९ हजार उक्तियों का संग्रह है। बीच बीच में देखने पर ऐसा ज्ञात होता है कि कुछ उक्तियाँ छूट गई हैं। ऐसा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कोष ग्रंथों के प्रारम्भिक संस्करणों में ऐसा प्रायः हो जाता है। इससे उसका महत्व कम नहीं हो सकता। स्थान स्थान पर लोकोक्तियों के संबंध में जो व्याख्याएँ दी गई हैं, वे भी कहीं कहीं विचारणीय है। किसी उक्ति के संबंध में जो कथा प्रसिद्ध है, उसे बिना जाँच किए मान लेना उचित नहीं है। उदाहरण के लिये 'अंटा गुड़गुड़' के संबंध में जेनरल आक्टरलोनी के संबंध में जो कुछ कहा गया है, वह ऐतिहासिक घटनाओं के कहाँ तक अनुकूल है, इसकी जाँच कर लेना आवश्यक था। ग्रंथकर्ता महाशय से हमारा अनुरोध है कि इस पुस्तक का जब दूसरा संस्करण होने लगे, तो वे छूटी हुई उक्तियों को सम्मिलित करने तथा सब की व्याख्या को जहाँ कहीं आवश्यकता हो, दुहराकर ठीक करने का प्रयत्न करें। अंत में हम ग्रंथकर्ता महाशय

को उनके परिश्रम के लिये साधुवाद कहते हुए हिंदी-प्रेमियों से इस ग्रंथ का यथेष्ट आदर करने का अनुरोध करते हैं।

श्यामसुन्दरदास
(बी० ए०)

जातक कथा-माला (पहला भाग)—अनुवादक तथा प्रकाशक, बाबू रामचन्द्र वर्मा, साहित्य-रत्न-माला कार्यालय, काशी। पृष्ठ संख्या १० + ६ + १९० छपाई आदि साफ़। मूल्य १)

जब कभी समालोचक के सामने कोई ऐसी पुस्तक आ जाती है जिसकी उपयोगिता पहले ही सिद्ध हो चुकी है और जिसके लेखक इने-गिने सिद्धहस्तों में गिने जाते हैं, तब उसका कर्तव्य-क्षेत्र बहुत संकुचित सा हो जाता है। ऐसी दशा में उसका लिखना चाहे पिष्ट-पेषण न भी हो, तथापि समालोचन नहीं कहा जा सकता। वह एक तरह का परिचायक होगा। इसी भाँति का संगठन आज इस समालोचक के सामने आ जगा है। यह प्रस्तुत पुस्तक बौद्ध धर्म की प्रसिद्ध जातक कथाओं का आंशिक अनुवाद है। अनुवादक हैं हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक बाबू रामचन्द्र वर्मा। यह पुस्तक कैसी शिक्षाप्रद और रोचक होगी, यह इन्हीं दो बातों से भली भाँति जाना जा सकता है। इतना ही, नहीं यह पुस्तक हिंदू-विश्व-विद्यालय के हिन्दी पाठ्य क्रम में निर्वाचित भी हो चुकी है। इससे भी उसकी उपयोगिता अच्छी तरह प्रमाणित होती है। इसलिये यह व्यक्त ही है कि यहाँ गुण-दोष-विवेचन का अधिक अवकाश नहीं है। यहाँ केवल यही दिखाना है कि एक बड़ी भारी आवश्यकता की वर्मा जी ने कैसी पूर्ति की है और वह पूर्ति कहाँ तक हो सकी है।

यदि जन-संख्या से ही महत्व का माप किया जाय तो भी बौद्ध-धर्म सब के आगे स्थान पाने के योग्य है। जिस देश ने अल्प काल ही में कल्पनातीत उन्नति कर रूस ऐसे प्रचंड साम्राज्य को जर्जरित

कर दिया, वह जापान भी इसी बौद्ध-धर्म का अनुयायी है। चीन ऐसा विशालकाय देश, जो अपनी सभ्यता की प्राचीनता के लिये और अपनी जन-संख्या की प्रभूतता के लिये समुचित गर्व धारण कर सकता है, वह भी बुद्ध भगवान के ही आदेशों का माननेवाला है। कहाँ तक कहें, तिब्बत, स्याम, ब्रह्म देश, सिंहल द्वीप आदि में बौद्ध धर्म की कल्पलता आज भी हरी भरी लहलहा रही है। जिस धर्म ने इस प्रकार संसार के अनेक भागों में अपने सत्य-बल के प्रचार द्वारा अभी तक पूरी तरह से सिक्का जमा रक्खा है, उसके ग्रन्थों की ओर किस जाति या व्यक्ति का ध्यान आकृष्ट न होना चाहिए?

पाश्चात्य देशों में—विशेष कर जर्मनी में—इस धर्म के ग्रन्थों का इतना अनुशीलन हुआ है कि यदि तद्विषयक समस्त लेखों या पुस्तकों का संग्रह किया जाय तो एक बड़ा भारी पुस्तकालय भर जाय। बड़े ही आश्चर्य और लज्जा की बात है कि जिस देश में इस धर्म का उदय हुआ, वहीं उसका लोप भी हो गया। आज हम लोग प्लेटो, कांट आदि की दुहाई देने में जरा भी नहीं हिचकते, किन्तु इसी देश के सर्व-श्रद्धेय बुद्ध भगवान् के एक वचन का भी नाम नहीं जानना चाहते। आजकल हिन्दी के भाण्डार को भर पूर करने की चर्चा चारों ओर गूँज रही है और कुछ अंशों में वह चर्चा निःसन्देह चरितार्थ भी हो रही है। किन्तु पूछना यह है कि किस हिन्दी-दिग्गज का ध्यान वास्तविक कल्पतरुओं की ओर गया है। आज तक कोई ऐसी पुस्तक मेरे देखने में न आई जिससे यह मालूम पड़े कि अमुक महाशय ने पाली का या प्राकृत का अथवा दर्शनों का वास्तविक अनुशीलन कर कलम उठाया है। हाँ यदि किसी भारतीय भाषा में ऐसी पुस्तकों का प्रादुर्भाव हुआ है तो वह बँगला में हुआ है। हिन्दी तो बिलकुल ही पिछड़ी हुई है। मुझे जहाँ तक मालूम है, वर्माजी की यह पुस्तक ही इस ढंग की पहली पुस्तक है। अस्तु।

बौद्ध ग्रन्थ दो भागों में विभक्त किए जा सकते हैं—(१) संस्कृत-ग्रंथ और (२) पाली ग्रंथ। प्राचीन बौद्ध धर्म अर्थात् हीनयान के समस्त ग्रन्थ पाली ही में लिखे हुए हैं। वे 'त्रिपिटक' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनका महायान के संस्कृत ग्रंथों से कुछ कम महत्व नहीं है, बल्कि कुछ अंश में उनसे बढ़ कर ही है। वे तीनों पिटक ये हैं-(१) विनय पिटक (२) सूत्र पिटक और (३) अभिधर्म पिटक। विनय पिटक में शील-विषयक शिक्षा दी गई है। इसी लिये वह 'अप्यादेशना' के नाम से प्रसिद्ध है। अभिधर्म पिटक में परमार्थ का उपदेश प्रज्ञा-विषयक शिक्षा देकर किया गया है। इसी लिये वह परमार्थदेशना भी कहा जाता है। सूत्र पिटक को व्यवहार देशना कहते हैं; क्योंकि उसमे भगवान् बुद्ध ने कथा कहकर व्यवहार की शिक्षा दी है।

सूत्र पिटक पाँच भागों में विभक्त है-(१) दीर्घ निकाय (२) मध्यम निकाय (३) संयुक्त निकाय (४) अङ्गोत्तर निकाय और (५) क्षुद्रक (खुद्दक) निकाय। क्षुद्रक निकाय का प्रधान अंश जातक हैं *। जातक कथा में उन कथाओं का संग्रह है जो बुद्ध भगवान् ने 'बुद्ध' होने पर पूर्व जन्म के अनुभवों को स्मरण कर कही थीं। इनका बड़ा महत्व है। बौद्धों के लिये तो वे रामायण भागवत ही हैं; अन्य धर्माव-लम्बियों के लिये भी वे कम आदर की चीज नहीं हैं। बौद्ध धर्म की विश्वजनीन शिक्षाओं को यदि सरल ढंग से हृदयंगम करना है तो इन्हें अवश्य पढ़ना चाहिए। प्राचीन इतिहास कीसामग्री तो इनमें इतनी भरी पड़ी है कि उनका अन्यत्र मिलना ही कठिन है। तुलना-त्मक कथा-विज्ञान की दृष्टि से भी इनकी उपयोगिता बड़ी चढ़ी बढ़ी है †।

---

* जिनको इस विषय में अधिक जानना हो वे George Hust की Sacred Literature नामक पुस्तक देखें।

† Francis and Thomas के 'Jataka Tales' की भूमिका देखिए।

इनके अनुवाद बहुत भाषाओं में निकल चुके हैं। जर्मन में तो कई अनुवाद हो चुके हैं। अंग्रेजी में पहले पहल Rhys Davids ने प्रारंभ किया। Cowell की अध्यक्षता में कई विद्वानों ने मिलकर समाप्त किया। सबसे सुगम संस्करण Francis and Thomas का है। बँगला में श्रीयुत ईशान घोष का अनुवाद बहुत ही अच्छे ढंग से हुआ है। बड़ी ही लज्जा की बात है कि हिन्दी-लेखकों की किसी प्रकार कमी न होने पर भी इस ओर किसी का ध्यान न गया। बाबू रामचंद्र वर्मा के प्रति हर एक हिन्दी भाषा-भाषी को कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने इस बड़े भारी अभाव को कुछ अंश में दूर किया।

वर्मा जी की यह-पुस्तक करीब दो सौ पृष्ठों की है। १९० पृष्ठों में ४५ जातक कथाओं का अनुवाद दिया गया है। अनुवाद में कोई क्रम नहीं रक्खा गया है। चुन चुनकर कथाएँ ली गई हैं। शायद जातकार्थ वर्णना के क्रम से ही अनुवाद किया गया है। बीच बीच में कथाएँ छोड़ दी गई हैं। चुनने में किन नियमों का पालन किया गया है, यह मुझे कुछ भी पता न लग सका। बीच बीच में कई अच्छे जातक भी छोड़ दिए गए हैं। शायद वे द्वितीय भाग के लिये 'रिजर्व' रक्खे गए हों। अनुवाद बहुत करके बहुत ही सरल और साधु भाषा में करने का प्रयत्न किया गया है। इससे साधारण से साधारण लोग भी लाभ उठा सकते हैं। किन्तु कहीं कहीं एक दो शब्द ऐसे आ गये हैं कि उनका अर्थ साधारण जन शायद शीघ्र न समझ सकें। "गाड़ियों से घेरकर स्कंधावार बनाया गया" इस वाक्य में 'स्कंधावार' शब्द कैसा है ? शायद इससे अधिक उपयुक्त अन्य शब्द न जँचा हो। कुछ भी हो, इससे कोई विशेष हर्ज यद्यपि नहीं है, तथापि ऐसे स्थानों पर स्वतंत्र रूप से लिखा जाता तो और अच्छा होता।

अनुवाद के पहले १० पृष्ठों की भूमिका है। यह अत्यन्त उपयोगी है। बिना ऐसे उपोद्घात के तो इस अनुवाद का कुछ महत्त्व ही न रहता।

यह कौन जानने बैठा है कि जातक क्या हैं, बोधिसत्व किसको कहते हैं, इत्यादि। इसलिये इन कथाओं के कहने के पहले यह सब बता देना उचित ही है। बल्कि 'श्रेयसि केन तृप्यते' इस कहावत को चरितार्थ करते हुए हम तो यह कहेंगे कि भूमिका बहुत ही छोटी है। जब लोगों का चित्त इस ओर आकर्षित करना है (और बिना ऐसा किए अनुवाद के अन्य भागों के निकलने की संभावना ही कैसे हो सकती है) तब जितना प्रसंगवश कहा जा सकता है, उतना बौद्धधर्म-साहित्य के बारे में कह देना ही उचित था। कम से कम यह बता देना तो आवश्यक ही था कि पाली में और कौन कौन ग्रन्थ हैं, उनका जातकों से क्या सम्बन्ध है, पाली जातकों और संस्कृत जातकों में क्या अन्तर है और बौद्ध धर्म साहित्य में जातकों का क्या महत्व है। भूमिका में कई वाक्य ऐसे हैं जो स्पष्ट नहीं प्रतीत होते। "बल्कि बोधिसत्व या बुद्धांकुर के रूप में रहता है" इस वाक्य में संयोजक 'या' क्या सूचित करता है? क्या 'बुद्धांकुर' भी पारिभाषिक शब्द समझा गया है? शायद संक्षेपोक्ति-प्रयत्न ही इन अस्फुटताओं का निदान है। अधिक चाह से प्रेरित होकर ही यह सब हम कह रहे हैं। अन्यथा 'अकरणान्मन्द करणं श्रेयः' तो है ही।

अंत में हिंदी में बौद्ध ग्रंथों को प्रवेशाधिकार देना प्रारंभ करने के लिये हृदय से आभार मानते हुए हम वर्माजी का अभिनंदन करते हैं। आशा है, वर्मा जी इतने ही अनुवाद से संतुष्ट होकर न बैठ जायँगे। जातकों का अनुवाद तो पूरा होना ही चाहिए। इसके अतिरिक्त पाली के अन्य प्रसिद्ध ग्रंथ—'मिलिन्द पह्नो' 'थेरीगाथा' इत्यादि का भी अनुवाद करना चाहिए। किंतु हमारा इसके साथ ही एक और भी नम्र निवेदन है। वह यह है कि जहाँ तक हो सके, मूल ग्रन्थों का भी अनुरोध रखना चाहिए। ऐसा न करने से कहीं कहीं, विशेष कर गाथाओं के अनुवाद में कुछ कुछ गड़बड़ रह जाने की बहुत

संभावना रह जाती है। अनुवादों में भी जर्मन अनुवाद ही सब से अधिक विश्वासार्ह होते हैं। इसलिये यदि शक्य हो तो उनका भी उपयोग अवश्य करना चाहिए।

बटुकनाथ शर्मा
(साहित्याचार्य्य, एम० ए०)

---

(१५) दंडी की अवंतिसुंदरी-कथा

[लेखक श्रीयुत पण्डित बलदेव उपाध्याय एम० ए०, काशी ।]

क्षिण भारत प्राचीन संस्कृत पुस्तकों का सुरक्षित गृह है। उत्तरीय भारत में विधर्मी मुसलमानों के भयंकर उपद्रवों के कारण प्राचीन पुस्तकों का पता बहुत कम लगता है; परन्तु दक्षिण में जहाँ ऐसे उपद्रव कम हुए थे, अभी तक प्राचीन प्रतियाँ सुरक्षित हैं। हाल ही में मालाबार प्रदेश में दो हस्त-लिखित पुस्तकों की उपलब्धि हुई है, जो संस्कृत साहित्य के इतिहास के लिये अत्यन्त महत्व की प्रतीत होती हैं। अब ये पुस्तकें गवर्नमेंट ओरिएन्टल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी (Goverament Oriental Mss. Library) में सुरक्षित हैं। पहली पुस्तक बड़ी बुरी दशा में पाई गई है। न तो यह पूर्ण है और न कहीं ग्रंथकार ही का नाम-निशान पाया जाता है। हाँ, इसके प्रारम्भ में हर्ष-चरित की तरह प्राचीन कवियों का वर्णन श्लोकों में पाया गया है। शेष भाग गद्य में लिखा गया है, परन्तु ग्रंथ पूर्ण नहीं हुआ है। दूसरे ग्रंथ के आधार पर इसका नाम 'अवन्तिसुंदरी-कथा' तथा रचयिता महाकवि दंडी माने गए हैं।

दूसरा ग्रंथ कुछ अच्छी दशा में प्राप्त हुआ है। यह प्रायः अनुष्टुप् छंदों में रचा गया है, पर सर्गान्त में भिन्न भिन्न वृत्त भी हैं। ग्रंथ के आदि के छः परिच्छेद तो बिल्कुल ही शुद्ध तथा पूर्ण पाए गए हैं, पर सप्तम परिच्छेद खण्डित है। यह भी पहले ग्रंथ की तरह पूरा तो नहीं है, परंतु इतना त्रुटित भी नहीं है कि समग्र ग्रंथ के विषय को समझने

में किसी तरह की बाधा हो। रचयिता का नाम इसमें भी गायब है। अनुमान की निर्बल भित्ति पर जरूर ही ग्रंथकार के विषय में कुछ कहा जा सकता है। ग्रन्थ के प्रत्येक सर्गान्त में भारवि के 'लक्ष्मी' शब्द, माघ के 'श्री' शब्द तथा प्रवरसेन के 'अनुराग' शब्द की भाँति 'आनंद' शब्द सर्वदा प्रयुक्त हुआ है। भोज के शृङ्गारप्रकाश में सर्गान्त में 'आनंद' शब्द का प्रयोग करनेवाले 'शूद्रक-कथा' के रचयिता 'पंचशिख' का उल्लेख पाया जाता है *। तो क्या इस शब्द-प्रयोग-साम्य से पंचशिख इसके रचयिता माने जा सकते हैं? ग्रंथकार के विषय में ऐतिहासिक सामग्री की कमी हो, परंतु ग्रंथ की अंतरंग परीक्षा से उसके संबंध में बहुत कुछ पता लगता है। सौभाग्यवश ग्रंथ का नाम 'अवन्तिसुन्दरी कथासार' दिया गया है, जिससे यह पहले ग्रन्थ का छन्दोबद्ध सारांश प्रतीत होता है। इसके पहले परिच्छेद में दण्डी के पूर्वजों का वर्णन किया गया है। इस उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री की चर्चा आगे की गई है।

भारवि और दंडी

संस्कृत महाकाव्यों में किरातार्जुनीय का स्थान अत्यन्त ऊँचा है। इसके रचयिता महाकवि 'भारवि' हैं, जिनकी अर्थ-गाम्भीर्यमयी कविता का आस्वादन कर प्रत्येक सहृदय अपने को कृतकृत्य समझता है। साहित्यिक दृष्टि से हम भारवि के विषय में समग्र ज्ञातव्य विषयों से परिचित हैं, परंतु ऐतिहासिक दृष्टि से अभी तक भारवि का समय गाढ़ अंधकार के आवरण से ढका हुआ है। भारवि का सब से पहला उल्लेख दक्षिण के चालुक्यवंशी राजा पुलकेशी द्वितीय के ऐहोले के शिलालेख में मिलता है जो ६३४ ई० का लिखा हुआ है †। इस उल्लेख

---

* Ramkrishna Kavi Avanti Sundari Katha of Dandi, Proceedings of Second Oriental Conference, p 193.

† येनायोजि नवेऽश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः॥

से इतना ही ज्ञात होता है कि सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारवि की प्रसिद्धि खूब हो चली थी; इनका नाम महाकवि कालिदास के साथ बड़े आदर के साथ लिया जाता था; तथा ये उनके ही समान उन्नत साहित्यिक स्थान पाने के पूरे अधिकारी थे।

परन्तु इससे भारवि के आविर्भाव-काल का यथोचित पता नहीं लगता। ६३४ ई० के कितने वर्ष पहले भारवि ने भारत भूमि की शोभा बढ़ाई थी, यह ठीक ठीक उपर्युक्त लेख से ज्ञात नहीं होता। एक दूसरे शिलालेख से भी भारवि का समय अनिश्चित ही रह जाता है। यह शिलालेख* पश्चिमी गंगावंशी राजा दुर्विनीत के समय का है। इसमें स्पष्ट रूप से लिखा हुआ है कि राजा दुर्विनीत ने किरातार्जुनीय के पंद्रहवें सर्ग की टीका की। इस उल्लेख से यत्कथंचित् भारवि का समय निर्णीत भी किया जा सकता था, परंतु डा० फ्लीट जैसे प्रामाणिक पुरातत्ववेत्ताओं की सम्मति में यह लेख बिल्कुल जालसाजी है; इसमें कुछ भी ऐतिहासिकता नहीं†। ऐसी स्थिति में भारवि के विषय में ठीक ठीक कुछ भी निर्णय नहीं हो सकता।

परन्तु अब इस प्रश्न के निर्णायक साधन की उपलब्धि हुई है, जिससे न केवल भारवि के समय का ही ठीक ठीक निश्चय हो जाता है, वरन् उनके कुटुम्ब तथा पारिवारिक जीवन पर भी यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। यह साधन है दण्डिकृत यही अवन्तिसुंदरी-कथा तथा इसका पद्यबद्ध अवंतिसुंदरी कथासार नामक संक्षिप्त सारांश। इस दूसरी पुस्तक के प्रथम परिच्छेद में महाकवि दण्डी की कई पीढ़ियों का इतिहास दिया

* श्रीमत्कोंगणि महाराजाधिराजस्य अविनीतनाम्नः पुत्रेण पुन्नाटराज स्कंदवर्मप्रिय-त्रिका जननेन...शब्दावतारकारेण देवभारती निबद्धबड्डकथेन,किरातार्जुनीये,पञ्चदशसर्गटीकाकारेण दुर्विनीत नामधेयेन।

—Mysore Archeological Report 1916 p. 36

† डा० फ्लीट ने पश्चिमी गंगावंशियों के दानपत्रों के संबंध में जो कुछ उद्गार प्रकट किए हैं, वे बहुधा छलपत्रों से पूर्ण हैं, अतएव वे ज्यों के त्यों मानने योग्य नहीं है। सं०

हुआ है। यह वर्णन इतिहास की दृष्टि से बहुमूल्य है। इससे भारवि के विषय में पक्की पक्की ऐतिहासिक बातों का पता लग जाता है।

इससे जान पड़ता है कि 'भारवि' किरातार्जुनीय के रचयिता का उपनाम मात्र था। इनका असली नाम था—दामोदर। इनके पूर्वज पश्चिमोत्तर देश (गुजरात) के सर्वश्रेष्ठ नगर आनन्दपुर में निवास करते थे*। वहाँ से किसी कारणवश वे लोग नासिक हट आए तथा कालांतर में अचलपुर (संभवतः आधुनिक एलिचपुर) में अपना निवास नियत किया। इन्हीं कौशिक गोत्रीय ब्राह्मणों में नारायण स्वामी नामक पंडित हुए थे जिनके मेधावी पुत्र हमारे कविवर भारवि हैं। पहले पहल भारवि ने राजकुमार विष्णुवर्धन की सभा को सुशोभित किया और उनके कृपा-भाजन हुए थे। यह राजकुमार दक्षिण के इतिहास में कुब्ज

---

* अस्त्यानन्दपुरं नाम प्रदेशे पश्चिमोत्तरे।
आर्यदेशशिरोरत्नं ततामन् वत्सो नृपः॥
ततोविनिःसृता काचित् कौशिकमहासन्ततिः।
सुरलोकादिवायाती पुण्यकीर्तिमरस्वती॥
नासिक्यभूमावोसुत्तन्मूलदेश निवेशिताम्।
प्राप्य चलपुरं......रीमधि वन्त्यभो॥
तस्यां नारायणस्वामी नाम्ना नारायणोदयत्
दामोदर इति श्रीमान् आदिरा...भवेत्॥
स मेधावी कविर्विद्वान् भारवि. प्रभवं गिराम्
अनुरुध्याकरोन्मैत्रीं नरेंद्रे विष्णुवर्धने॥
×　　　×　　　×　　　×　　　×
स दुर्विनीत नाम मात्र अन्वर्थाभिधानवान् तस्यान्तिके वसदेव:।......॥
×　　　×　　　×　　　×　　　×
अनेक यो युद्धकृत्य वरदमुनात्ममात्।
×　　　×　　　×　　　×　　　×
अस्ति प्रासाद विस्तार प्रम्लम्योमान्तरा पुरी।
काञ्चपुराख्या वरदाय: वकुग्ग कुम्भजन्मनः।
तस्या बन्धे बुधप्राज्ञ ध्वस्ताखिलवल्लभः
पल्लवेषु महीपालः सिंहविष्णुरिति श्रुतः।

विष्णुवर्द्धन* के नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध है। यह प्रथमतः अपने ज्येष्ठ भ्राता प्रसिद्ध महाराज पुलकेशी द्वितीय का प्रतिनिधि बनकर महाराष्ट्र का शासन करता था। ६१६-१७ ई० के आसपास यह महाराष्ट्र ही में रहता था, क्योंकि इस वर्ष में इसने अपने भ्राता के प्रतिनिधि रूप से एक ताम्रशासन जारी किया था †। अनंतर इसने तेलिंगाना में जाकर वेंगी में एक नवीन राज्य की स्थापना की जो इतिहास में पूर्वीय चालुक्य (Eastern Chalukya of Vengi) के नाम से परवर्तीकाल में खूब प्रसिद्ध हुआ। जब यह केवल राजकुमार था, तभी महाराष्ट्र में इससे भारवि का परिचय हुआ था। अनन्तर इसने आखेट के अवसर पर कविवर से मांस खाने के लिये आग्रह किया। कवि ने इसके आश्रय की अवहेलना कर दुर्विनीत राजा के यहाँ आसन जमाया। इस नाम का राजा पश्चिमी गंगावंशीय Western Ganga नरेशों में अत्यंत प्रसिद्ध था जिसने 'शब्दावतार' नामक व्याकरण ग्रंथ की रचना की। इस राजा का समय सातवीं सदी का प्रथम चतुर्थ भाग माना जाता है। यह सरस्वती के वरपुत्रों का आश्रयदाता ही नहीं था, वरन् स्वयं भी सरस्वती का उपासक था। यह संस्कृत के अतिरिक्त पैशाची भाषा का भी ज्ञाता जान पड़ता है, क्योंकि इसने गुणाढ्य रचित प्रसिद्ध बृहत्कथा का अनुवाद देवभारती—संस्कृत—में किया था। यह भारवि का आश्रयदाता अवश्य था; इसकी यथोचित पुष्टि इस घटना से होती है

* उक्त पुस्तक में उल्लिखित नरेंद्र विष्णुवर्द्धन चालुक्य पुलकेशी द्वितीय के भाई कुमार विष्णुवर्द्धन से कोई भिन्न राजा होना चाहिए, क्योंकि इसी लेख में ऊपर जो अवतरण दिया है, उसमें विष्णुवर्द्धन को 'नरेंद्र' कहा है, न कि कुमार। दूसरी बात यह भी है कि जब वह सितारे के आस पास के प्रदेश पर अपने भाई की ओर से शासन कर रहा था, उस समय के अपने दानपत्र में वह अपने को 'युवराज' लिखता है। तीसरी बात यह भी है कि यदि भारवि पुलकेशी के समय में ही पण्डित होता, तो उसकी कालिदास के समान प्रसिद्धि उसी समय में नहीं हो सकती थी। सं.

† Satara Grant; Indian Antiquary, Vol. XIX p. 303.

कि इसने स्वयं किरातार्जुनीय के सब से कठिन, अर्थ-गंभीर तथा श्लेष-प्रधान पंद्रहवें सर्ग की सुबोध टीका लिखी थी। इसने अवश्य ही भारवि के सहवास से किरात का उचित मंथन किया था; तभी तो सर्वक्लिष्ट सर्ग की टीका लिखने को उद्यत हुआ। अतएव यदि हम कहें कि भारवि ने ६२०—२५ तक इसकी सभा की शोभा बढ़ाई, तो अनुचित न होगा। अनंतर अत्यंत आग्रह करने पर भारवि काञ्ची के पल्लव नरेश सिंहविष्णु के पास आकर रहने लगे। काञ्ची के पल्लव राजा सदा से विद्याप्रेमी होते आए हैं। अनेक विद्वानों को उन्होंने आश्रय देकर संस्कृत साहित्य का अत्यंत उपकार किया है।

सिंहविष्णु तो इस वंश का प्रसिद्ध विद्याप्रेमी राजा है। संभवतः इसी के सुयोग्य पुत्र महेंद्रवर्मा ने 'मत्तविलास' नामक प्रहसन की रचना की *। यदि वास्तव में महेंद्रवर्मा भारवि के आश्रयदाता का पुत्र हो तो यह मानने में आपत्ति नहीं दिखाई देती कि इसने संभवतः भारवि से विद्या का अभ्यास तथा कविता का अध्ययन किया होगा। सिंहविष्णु का समय ६२० से ६२७ ई० तक माना जाता है। संभवतः राज्य के अंतिम समय में ही भारवि का इस पल्लव राजा के साथ साक्षात्कार हुआ था।

पूर्वोक्त वर्णन का सारांश यही है कि भारवि की जन्मभूमि महाराष्ट्र प्रदेश है। हिमालय का वर्णन करने से इन्हें उत्तरीय भारत में घसीट लाना उचित नहीं। इनके आविर्भाव का समय छठी शताब्दी का

---

* यह प्रहसन 'अनंतशयन ग्रंथावली' में त्रिवेंद्रम से प्रकाशित हुआ है। इसमें सूत्रधार कहता है:—

भवति श्रूयतां। पल्लवकुलतिलकस्य वंशस्थल पर्वतस्य...श्रीमहिमानुरूपशान्ति भूतिपरिभूत राजराजस्य श्री सिंहविष्णुवर्मणः पुत्रः शत्रुघ्नवर्णनिग्रहस्य पदवीं पर्वतस्य महाभूतवर्मा महाराजः श्री महेंद्रविक्रमवर्मा नाम।

उत्तरार्द्ध तथा सप्तम शताब्दी का प्रथम चतुर्थ भाग है। ६१० के आस पास ये महाराष्ट्र में विष्णुवर्धन के आश्रय में थे। ६२० ई० के समीप कर्नाटक में गंगावंशीय दुर्विनीत की सभा में रहे तथा ६२५ में तेलगु प्रांत में पल्लव-नरेश सिंहविष्णु की सभा की शोभा बढ़ाते थे तथा काञ्ची में ही अपना निवासस्थान बनाकर रहने लगे थे। इसी ऐतिहासिक तथ्य की उपलब्धि हुई है।

दंडी का जीवन-वृत्तान्त

दंडी के विषय में इस कथा से निम्नलिखित बातों का पता लगता है।

कविवर भारवि के तीन लड़के हुए जिनमें 'मनोरथ' मध्यम पुत्र था *। मनोरथ के भी चारों वेदों की भाँति चार पुत्र उत्पन्न हुए जिनमें 'वीरदत्त' सब से छोटा होने पर भी एक सुयोग्य दार्शनिक था। 'वीरदत्त' की स्त्री का नाम 'गौरी' था। इन्हीं से कविवर दंडी का जन्म हुआ था। बचपन में ही इनके माता पिता मर गए थे। ये काञ्ची में निराश्रय ही रहते थे। एक बार जब काञ्ची में विप्लव उपस्थित हुआ, तब ये काञ्ची छोड़कर जंगलों में इधर उधर भटकते फिरते थे। अनंतर शहर में शांति होने पर ये फिर पल्लव-नरेश की सभा में आ गए और वहीं रहने लगे।

---

* मनोरथाह्वयस्तेषां मध्यमो वंशवर्धन.

ततस्तनूजाश्चत्वारः चतुर्वेदा इवाभवन् ।

श्री वीरदत्त इत्येषां मध्यमो वंशवर्धनः

यवीयानस्य च श्लाघ्या गौरी नामाभवत् प्रिया ॥

ततः कथंचित् सा गौरी द्विजाधिपतिरासयोः

कुमारं दण्डिनामानं व्यक्तशक्तिमजीजनत ।

स बाल एव मात्रा च पित्रा चापि व्ययुज्यत ॥

संक्षेप में महाकवि दण्डी का वंशवृत्त अवन्तिसुन्दरी-कथा के आधार पर नीचे दिया जाता है:—
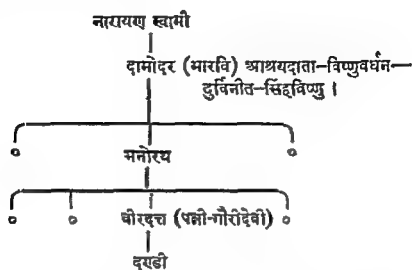
इससे स्पष्ट है कि महाकवि दण्डी भारवि के प्रपौत्र थे। इस वर्णन से (यद्यपि यह बहुत ही थोड़ा है) दण्डी के अंधकारमय जीवन पर प्रकाश की एक गाढ़ी किरण पड़ती है। भारवि का संबंध उत्तरीय भारत से न होकर दक्षिण भारत से है। हिंदुओं की पवित्र नगरी काञ्ची (आधुनिक कांजीवरम्) इनकी जन्मभूमि थी। इनका जन्म एक अत्यंत शिक्षित ब्राह्मण कुल में हुआ था। भारवि की चौथी पीढ़ी में इनका जन्म होना ऊपर के वर्णन से बिल्कुल निश्चित है। काञ्ची के पल्लव-नरेशों की छत्रछाया में इन्होंने अपने दिन सुखपूर्वक बिताए थे।

इस ग्रन्थ से दक्षिण भारत की एक किंवदंती की भी यथेष्ट पुष्टि होती है। एम० रंगाचार्य ने एक किंवदंती का उल्लेख किया है कि पल्लव राजा के पुत्र को शिक्षा देने के लिये ही दंडी ने 'काव्यादर्श' की रचना की थी। काव्यादर्श के प्राचीन टीकाकार तरुणवाचस्पति की सम्मति में दण्डी ने निम्नलिखित प्रहेलिका में काञ्ची के पल्लव नरेशों की ओर इङ्गित किया है—

नासिक्यमध्या परितश्चतुर्वर्णविभूषिता ।
अस्ति काचित्पुरी यस्यामष्टवर्गाह्वया नृपाः ॥
(पृ० ३०, श्लोक ११४)

अतएव दण्डी को काञ्ची के पल्लव-नरेश के आश्रय में मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं जान पड़ती।

दंडी का समय

दण्डी के आविर्भाव काल के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। अलंकार-साहित्य के इतिहास में इससे बढ़कर विवाद का विषय और कोई नहीं। भामह के काव्यालंकार में दंडी से अनेक समानता तथा विभिन्नता होने से यह प्रश्न और भी उलझन में पड़ गया है। अभी तक इसका निश्चय नहीं हो सका। कोई उन्हें भामह के पहले मानकर छठी शताब्दी के आरंभ का ग्रंथकार मानते हैं तो कोई भामह के अनंतर मानकर सातवीं सदी में रखते हैं। इस विवाद के निर्णय में अवन्तिसुंदरी-कथा कितनी सहायता दे सकती है, इसका कुछ विचार किया जाता है।

नवम शताब्दी के ग्रंथों में दंडी का नामोल्लेख पाए जाने से निश्चित है कि उनका समय उक्त शताब्दी से पीछे कदापि नहीं हो सकता। सिंघाली भाषा के अलंकार-ग्रंथ 'सिय-बस-लकर' (स्वभाषालंकार) की रचना काव्यादर्श के आधार पर की गई है *। इसका रचयिता, राजा सेन प्रथम, महावंश के अनुसार ८४६—६६ तक राज्य करता था। इससे भी पहले के कन्नड़ी भाषा के अलंकार-ग्रंथ 'कविराजमार्ग' में काव्यादर्श की यथेष्ट छाया देखी गई है। इस ग्रंथ के संस्कारक श्री के० बी० पाठक ने इसकी भूमिका में स्पष्ट दिखलाया है कि इसके उदाहरण या तो काव्यादर्श से हूबहू नकल किए गए हैं या कहीं कहीं कुछ परि-

* डाक्टर बारनेट—जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी १९०५

वर्णित रूप में रखे गए हैं। हेतु, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों के लक्षण भी दंडी से अक्षरशः मिलते हैं। ग्रंथ के लेखक अमोघवर्ष का समय ८१५ के आसपास माना जाता है। अतएव काव्यादर्श की रचना नवीं शताब्दी के अनंतर कदापि स्वीकृत नहीं की जा सकती।

यह तो दंडी के काल की अन्तिम सीमा है। अब पूर्व की सीमा की ओर ध्यान देना चाहिए। यह तो निर्विवाद है कि काव्यादर्श के समग्र पद्य दंडी की ही मौलिक रचना नहीं हैं। उनमें प्राचीनों के पद्य भी सन्निविष्ट हैं। 'लक्ष्य लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगंवचः' में दंडी ने साफ तौर पर—'इति' शब्द के प्रयोग से यहा जाना जाता है—कालिदास के प्रसिद्ध पद्यांश 'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्य लक्ष्मीं तनोति' से उद्धरण पेश किया है। अतः इनके कालिदास के अनंतर होने में तो संदेह का स्थान ही नहीं है; परंतु अन्य भाव-साम्य से ये बाणभट्ट के अनंतर के भी प्रतीत होते हैं।

अरत्नालोकसंहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः
दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः।

काव्यादर्श के इस पद्य में पिटरसन तथा जैकोबी की सम्मति में कादंबरी में चंद्रापीड़ को शुकनास द्वारा दिए गए उपदेश की छाया देख पड़ती है। आगे दिखलाया जायगा कि दंडी ने मयूरभट्ट के साथ बाण की भी प्रशस्त प्रशंसा की है * तथा कथा में 'कादंबरी' का वर्णन भी बाण की प्रसिद्ध कथा के बिल्कुल अनुरूप है। अतः मेरी सम्मति में दंडी को बाणभट्ट (७ वीं सदी का पूर्वार्द्ध) के अनंतर मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं जान पड़ती। प्रो० पाठक की राय में काव्यादर्श में निर्वर्त्य, विकार्य तथा प्राप्यहेतु का विभाग वाक्यप्रदीप के कर्त्ता भर्तृहरि (६५० ई०) के अनुसार किया गया है †। कहा गया है कि भामह-दंडी

* भिन्नस्तीक्ष्ण मुखेनापि चित्रबाणेन निर्व्यथः। व्यवहारेषु जहौलीना न मयूर ..।

† पाठक—इंडियन ऐंटिक्वेरी १६१२ ई०।

का प्रश्न अभी तक अनिश्चित दशा में है; तथापि मेरा विश्वास है कि दंडी का समय भामह के अनंतर है *। भामह ने धर्मकीर्ति के प्रमाण के लक्षण को उद्धृत कर उसका खंडन किया है। अतएव यदि भामह धर्मकीर्ति (६४४-७०) के अनंतर माना जाय, तो स्पष्ट है कि दंडी का समय सातवीं सदी का अंत तथा आठवीं का प्रारंभ माना जा सकता है। इसी स्थान पर अवंतिसुंदरी-कथा की अमूल्य सहायता का यथेष्ट अनुभव होता है। ऊपर दिए गए सिद्धांत को यह बात अच्छी तरह से प्रमाणित कर रही है। यह भी दिखाया गया है कि दंडी भारवि की चौथी पीढ़ी में हुए थे। यदि प्रत्येक पीढ़ी के लिये कम से कम २० वर्ष भी मानें, तो भी दंडी का समय भारवि से करीब अस्सी वर्ष के अनंतर ठहरता है। भारवि यदि सातवीं सदी के आरंभ में विद्यमान थे, तो दंडी उस सदी के अंत तथा आठवीं के आरंभ में होंगे। ऊपर दिखाया गया है कि इस समय को निश्चित मानने से संस्कृत-साहित्य की निश्चित घटनाओं से किसी प्रकार का विरोध नहीं पड़ता। काव्यादर्श में उल्लिखित राजवर्मा (रातवर्मा) को यदि हम नरसिंहवर्मा द्वितीय (जिसका विरुद अथवा उपनाम राजवर्मा था) मान लें तो किसी प्रकार की अनुपपत्ति उपस्थित नहीं होती। प्रो० आर० नरसिंहाचार्य † तथा डाक्टर बेलवलकर ‡ ने भी इन दोनों की एकता मानकर दंडी का समय सातवीं सदी का उत्तरार्द्ध बतलाया है। शैवधर्म के उत्तेजक पल्लव-राज नरसिंह वर्मा का समय ६९०-७१५ माना जाता है × जो दंडी के लिये निश्चित किए गए समय से यथेष्ट अनुरूपता रखता है।

---

* जो लोग भामह-दंडी के प्रश्न के विषय में अधिक जानना चाहें, वे काणे कृत साहित्य-दर्पण की भूमिका पृ० २५ तथा डाक्टर सुशील कुमार दे रचित History of Sanskrit Poetics देखें।

† Indian Antiquary, 1912 p 90.

‡ Notes on काव्यादर्श 2nd chapter P 176-77.

× G. Jon-Vean Dubreul, Ancient History of the Deccan, p 70.

दंडी के ग्रंथ

राजशेखर के 'त्रयो दण्डिप्रबंधाश्च त्रिषुलोकेषु विश्रुताः' के अनुसार दण्डी की तीन रचनाएँ प्रतीत होती हैं। ये तीन प्रबंध कौन हैं, इस पहेली का भिन्न भिन्न विद्वानों ने भिन्न भिन्न प्रकार से उत्तर दिया है। अवंतिसुंदरी-कथा की उपलब्धि से तो यह प्रश्न और भी विकट हो गया है। काव्यादर्श के विषय में प्रत्येक प्रकार से निश्चय है कि यह दण्डी की रचना है। दशकुमार-चरित के विषय में भी अभी तक निश्चय ही था, परंतु अब यत्र तत्र संदेह की ध्वनि सुनाई पड़ रही है। श्री अगाशे* को शृङ्गार-रस के कुछ अश्लील वर्णनों तथा काव्यादर्श में वर्णित काव्यदोषों की दशकुमार में उपलब्धि से विश्वास है कि यह ग्रंथ दण्डी रचित नहीं है। परंतु यदि बाहरी दृष्टि से अश्लील तथा रतिवर्णन से ग्रंथकार के विषय में संदेह हो रहा है, तो कुमार का अष्टम सर्ग न तो कालिदास की रचना होगा और न नैषध का अष्टादश सर्ग श्रीहर्ष का। अवंतिसुंदरी-कथा दशकुमार के पूर्वार्द्ध में वर्णित कथा के अनुरूप है। अतः कथा को दण्डी की असली रचना मानने से दशकुमार के पूर्वार्द्ध में संदेह होने लगा है। यह संदेह आज का नहीं है। बहुत पहले विल्सन तथा चिपळूणकर शास्त्री† के भी शब्दों की निरुक्ति तथा कथा के पूर्वापर में किसी अंश में विरोध होने से यह संदेह क्या निश्चय होने लगा था कि उत्तर-पीठिका तो वास्तव में असली है, परंतु पूर्व पीठिका दण्डी की नहीं। के० वी० लक्ष्मणराव का कहना है‡ कि असली रचना कथा ही है, परंतु समयानंतर किसी कारण से वह शीघ्र ही लुप्त हो गई और उसी

* संस्कृत कविपंचक (मराठा) पृ०—२२६—७

† दण्डीची अवन्तिसुन्दरी कथा, विविध ज्ञान विस्तार, वर्ष ५४ अंक ८ (१९२३ अगस्त)

‡ Indian Antiquary, 1915; Intro. to Daskumar Charit (B. S. S.).

कथा के आधार पर किसी ने पीछे से पूर्वपीठिका जोड़कर समग्र कथा का सिलसिला जारी रखा। इसी कारण कथा तथा पूर्वपीठिका में उल्लिखित अवन्तिसुन्दरी के आख्यान की अनेक घटनाओं में भिन्नता दिखाई देती है। जो हो, कथा को दण्डी की दूसरी रचना मानने में कोई सन्देह नहीं। तीसरे ग्रंथ के विषय में मतभेद है। डाक्टर पिशेल ने मृच्छकटिक को ही दण्डी की तीसरी रचना बताया था। पिटर्सन तथा जैकोबी ने 'छंदोविचित्ति' के ही तीसरी रचना होने का अनुमान किया था, परंतु 'सा विद्या नौर्विवक्षणाम्' में छंदोविचित्ति को दण्डी ने ही विद्या कहा है, ग्रंथ नहीं; अतएव यह ग्रंथ न होकर छंदशास्त्र का द्योतक है*। इसी प्रकार 'कला परिच्छेद' को भी ग्रंथ मानना उचित नहीं। सौभाग्यवश भोजराज इसके लिये हमारी सहायता करते हैं। उन्होंने अपनी 'शृंगार प्रकाशिका' † में दण्डी के 'द्विसंधान' नामक काव्य से निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया है—

उदारमहिमारामः प्रजानां हर्षवर्द्धनः
धर्मप्रभव इत्यासीत् ख्यातो भरतपूर्वजः।

धनंजय कवि का द्विसंधान काव्य प्रकाशित हुआ है, परंतु उसमें यह पद्य नहीं मिलता। यह कहना कठिन है कि 'द्विसंधान' का निश्चित विषय क्या है। सम्भवतः वह रामायण तथा महाभारत का सम्मिलित आख्यान होगा।

---

* Dr. Belvelkar-Notes on काव्यादर्श Chapter 1st.

† इस महत्वपूर्ण ग्रंथ की उपलब्धि अभी हाल में दक्षिण भारत में हुई है। यह मद्रास गवर्नमेंट के ग्रंथ संग्रहालय में सुरक्षित है। कहा जाता है कि अलंकार शास्त्र पर इससे बड़ा और दूसरा ग्रंथ नहीं है। इसमें लगभग ३० हजार श्लोक हैं और 'प्रकाश' नामक ३६ प्रकरण हैं। इसी में भोज ने 'शृंगारमेव रसनात् रसमामनाम' (शृंगारप्रकाश) में वर्णित शृंगार की प्रधानता के सिद्धांत का वर्णन यथेष्ट रूप में किया है। इस महामूल्य ग्रंथ के प्रकाशन से अलंकार-शास्त्र की अनेक नई बातों का पता लगने की आशा है।

पूर्व कवि-प्रशंसा

अवन्तिसुंदरी कथा की छंदोबद्ध भूमिका संस्कृत साहित्य के लिये अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसमें ऐसे प्राचीन कवियों के नाम आए हैं जिनका वर्णन अन्यत्र नहीं मिलता; और यदि मिलता भी है तो उससे कुछ अपूर्व साहित्यिक बातों का सन्निवेश इसमें पाया जाता है। प्रथमतः 'सुबंधु' नामक कवि के विषय में दण्डी का यह पद्य है :—

सुबंधुः किल निष्क्रांतो बिंदुसारस्य बंधनात्
तस्यैव हृदयं भित्वा वत्सराज........॥

यद्यपि यह श्लोक खण्डित है तथापि इससे सुबंधु के विषय में पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री की उपलब्धि होती है। सुबंधु का संबंध बिंदुसार और वत्सराज के साथ किसी न किसी प्रकार से था। उपलब्ध वासवदत्ता के रचयिता सुबंधु इससे भिन्न प्रतीत होते हैं, क्योंकि वासवदत्ता का समय कालिदासीय शकुंतला * तथा कामसूत्र के कर्त्ता वात्स्यायन † (ई० पाँचवीं सदी) के स्पष्ट उल्लेख से पंचम शताब्दी के आस पास माना जाता है। नाट्यशास्त्र के टीकाकार अभिनवगुप्त ने नाट्यायित (एक नाटक के भीतर अनेक नाटक) के उदाहरण में सुबंधु रचित 'वासवदत्ता नाट्यधार' का उल्लेख किया है तथा कुछ अंश को उद्धृत भी किया है जिसमें वामन की काव्यालंकार-वृत्ति में उल्लिखित एक पद्यखण्ड ‡ में चंद्रगुप्त के पुत्र 'चंद्रप्रकाश' का नामोल्लेख पाया जाता है। वामन की वृत्ति से यह भी ज्ञात होता है कि उसके प्रधान सचिव (मंत्री या मित्र) वसुबंधु (या सुबंधु) थे। इस पद्यांश पर विद्वानों

---

* विफलमेव पुष्पधन्वस्य कृते प्रवासस्य शापमनुभवति शकुन्तला।

† कामसूत्रविन्यास इव मल्लनाग घटित कान्तारसामोद।

‡ सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयश्चन्द्रप्रकाशो युवा।
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः।
आश्रयः कृतधियामित्यस्य वसुबन्धु साचिव्योपक्षेपपरत्वात् साभिप्रायत्वम्।

में बड़ा मतभेद है तथा अभी तक वह अनिश्चित है। स्मिथ ने एम० पेरी की सम्मति मानकर 'चंद्रप्रकाश' से समुद्रगुप्त का आशय निकाला है तथा वसुबंधु को चौथी सदी में मानकर उसी महान् गुप्त नरेश की सभा में उन्हें रखा है*। परंतु हरप्रसाद शास्त्री तथा आर० नरसिंहाचार्य ने जितनी हस्तलिखित प्रतियों की परीक्षा की है, उन सब में 'वसुबंधु' ही पाठ मिलता है। परंतु वासवदत्ता के लेखक केवल एक ही सुबंधु की जानकारी से उस पाठ में विद्वानों का विश्वास नहीं था; क्योंकि सुबंधु का समय पाँचवीं शताब्दी के बाद ही माना जाता है और उस समय में किसी चंद्रगुप्त-तनय के साथ उसका संबंध ठीक नहीं बैठता। परंतु 'वासवदत्ता नाट्यधार' के कर्ता सुबंधु के इस ऐतिहासिक उल्लेख से ऊपर का पाठ अत्यंत महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि चंद्रगुप्त-तनय बिंदुसार ही था जिसकी सभा में सुबंधु जैसे 'कृतधी' विद्वान् उपस्थित रहते थे †।

सुबंधु तथा वत्सराज के नाम दर्शक रूप में पाए जाते हैं। अतः इस श्लोक में वर्णित सुबंधु 'वासवदत्ता नाट्यधार' के रचयिता प्रतीत होते हैं और चंद्रगुप्त मौर्य के पुत्र के समसामयिक होने के कारण इनका समय २८० ई० पू० के आसपास जान पड़ता है।

गुणाढ्य तथा चौर शास्त्र के आचार्य मूलदेव के उल्लेख के अनन्तर महाकवि शूद्रक के विषय में यह श्लोक है—

शूद्रकेणासकृज्जित्वा स्वच्छया खड्गधारया।
जगद्भूयोऽप्यवष्टब्धं वाचा स्वचरितार्थया॥

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि शूद्रक न केवल महाविजयी राजा था, वरन् संसार को चकित करनेवाला महाकवि भी था। अभी तक

---

* Early History of India (Third Edition) p. 334.

† Rangnath Saraswati: Vasubandhu or Subandhu. Proceedings and Transactions of Second Oriental Conference. p. 203-13.

मृच्छकटिक प्रकरण के कर्ता रूप में शूद्रक का नाम प्रसिद्ध था; परन्तु अब 'पद्मप्राभृतक' नामक भाण भी शूद्रक के नाम से उपलब्ध हुआ है। अवन्तिसुन्दरी कथा में भी शूद्रक की विजय-वार्ता वर्णित है। पूर्वोक्त पद्य के 'वाचा स्वचरितार्थया' से प्रतीत होता है कि शूद्रक ने कविता में अपने जीवन की ही घटनाओं का वर्णन किया है। तो क्या मृच्छकटिक का विजयी आर्यक शूद्रक ही है? और भी अनेक उल्लेखों के आधार पर कुछ विद्वान् शूद्रक को ही विक्रमीय सम्वत् का संस्थापक मानने लगे हैं*।

महाकवि भास के विषय में लिखा है—

सुविभक्त मुखाद्यङ्गैर्व्यक्तलक्षणवृत्तिभिः
परेतोऽपि स्थितो भासः शरीरैरिव नाटकैः।

इससे स्पष्ट है कि भास ने अनेक नाटकों की रचना की थी; परन्तु भास के नाम से प्रकाशित १३ नाटकों के रचयिता के विषय में इससे कुछ नई सामग्री नहीं मिलती।

सेतुबन्ध प्राकृत महाकाव्य के कर्ता प्रवरसेन के विषय में यह श्लोक पाया जाता है:—

सेतुरूपेण तिष्ठन्तो लोके सद्वस्तुदर्शिनः।
षट्पञ्चाशप्रमाणत्वं गताः नः कविपुंगवाः॥

जान पड़ता है कि सेतुबन्ध केवल एक कवि की रचना नहीं है, बल्कि अनेक कवियों ने इसके निर्माण में सहायता दी है। 'सेतुबन्ध' की हस्त लिखित प्रति में 'वाकाटकानां महाराजाधिराजस्य प्रवरसेनस्य कृतौ' लिखा हुआ है जिससे प्रवरसेन स्पष्टतः वाकाटकों का राजा प्रतीत होता है। प्रवरसेन द्वितीय ने कादम्ब नरेशों को हराकर विदर्भ तक अपनी शक्ति बढ़ाई थी। उनका समय ४२० ई० के आस पास माना जाता है।

---

* Mythe S. J. Vol. 13, No. 1.

कालिदास की मधुर कविता का वर्णन इसके अनन्तर किया गया है:—

लिप्ता-मधुद्रवेनासन् यस्य निर्विवशा गिरः
तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम्।

किसी नारायण के विषय में नई सामाग्री का पता निम्नलिखित पद्य से लगता है:—

व्याप्तुं पदत्रयेणापि यश्शक्तो भुवनत्रयम्।
तस्य काव्यत्रयव्याप्तौ चित्रं नारायणस्य किम्।

पद्य में नारायण के तीन प्रबन्धों का उल्लेख है। सम्भवतः 'वेणी-संहार' उनमें से एक होगा। परन्तु अन्य दो काव्यों का पता अभी तक नहीं लगा। ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन के द्वारा वेणीसंहार के कई श्लोक ध्वनि के उदाहरण में उद्धृत किए गए हैं। वामन ने भी अपने अलंकारसूत्र में न केवल इससे पद्य ही उद्धत किया है, वरन् 'पतितं वेत्स्यसि क्षितौ' में पदभंग के द्वारा 'वेत्स्यसि' शब्द की सद्यः प्रतीयमान व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धि का भी यथेष्ट निराकरण किया है। इससे जान पड़ता है कि वामन के समय में ८ वीं सदी के अन्त में भट्टनारायण की कविता विशेष आदर के साथ देखी जाती थी तथा उनके प्रयुक्त पद प्रामाणिक माने जाते थे। अब कथा में उनका उल्लेख होने से उनका समय निश्चय पूर्वक निर्धारित किया जा सकता है। दण्डी के इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि नारायण का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध भाग है। वे धर्मकीर्ति और भट्टवाण के समकालीन जान पड़ते हैं।

अनन्तर वाणभट्ट तथा मयूरभट्ट का वर्णन एक ही पद्य में किया गया है—

भिन्नस्तीक्ष्णमुखेनापि चित्रं वाणेन निर्व्यथः।
व्याहारेषु जहौ लीलां न मयूर............॥

राजशेखर ने अपनी कवि-प्रशंसा में वाण और मयूर को हर्ष-वर्धन (६०६–६४८ ई०) का समकालीन बतलाया है। पद्मगुप्त के

नवसाहसांकचरित से इसकी पुष्टि होती है। बाणभट्ट की इस प्रशंसा-मयी सूचना से निश्चित रूप से अनुमान किया जा सकता है कि दण्डी का आविर्भाव-काल बाण के अनन्तर है। इसके द्वारा ऊपर सिद्ध किए गए दण्डी के समय की यथेष्ट पुष्टि होती है। यही क्यों, कथा में कादम्बरी की आख्यायिका भी पूर्ण रूप से वर्णित है। दण्डी ने कादम्बरी की प्रत्येक घटना का वैसा ही वर्णन किया है जैसा बाण* ने पूर्वार्द्ध कादम्बरी में। परन्तु कादम्बरी कथा के उत्तरार्द्ध की पूर्ति दण्डी ने अपनी उर्वरा कल्पना शक्ति से की है। इस कारण बाण भट्ट के सुपुत्र पुलिन्दभट्ट द्वारा पूरित उत्तरार्द्ध से यह कथा बिल्कुल ही भिन्न है।

कादम्बरी-कथा की समानता से भी दण्डी का काल बाण के अनन्तर पूर्ण रूप से निश्चित होता है। इसमें सन्देह करने का लेश मात्र भी स्थान नहीं है।

ग्रन्थ का विषय

ऊपर लिखा जा चुका है कि अवन्तिसुन्दरी कथा का वही विषय है जिसका वर्णन दशकुमार चरित की पूर्वपीठिका में किया गया है। कथासार इसी कथा का छन्दोबद्ध सारांश है। कथा में वररुची, शूद्रक, कादम्बरी आदि अनेक उपकथाएँ भी निबद्ध हैं जिनसे यह ग्रन्थ बृहत्कथा के ढङ्ग पर रचा गया प्रतीत होता है। यदि घंघाल (जंघाल) ने काव्यादर्श की टीका में अवन्तिसुन्दरी कथा नामक आख्यायिका का उल्लेख किया है और वल्लभदेव की सुभाषितावलि से विभिन्न एक अन्य सुभाषितावलि में दण्डी के नाम से व्यास के विषय में वही पद्य पाया जाता है जो इस कथा के प्रथम परिच्छेद में दिया गया है। इस से भी इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता अच्छी तरह से अनुमित होती है।

* श्रीहर्षस्याभवत् सभ्यः समो बाणमयूरयोः।

दण्डी की रचना-शैली बड़ी ओजस्विनी है। उसमें बाणभट्ट के समान ही आनन्द आता है। रचना का ढंग भी उससे बहुत कुछ मिलता जुलता है। परन्तु जहाँ तहाँ अर्थ की कठिनता जान पड़ती है। तथापि इस गद्य काव्य की सुभग रचना एक महाकवि के सर्वथा उपयुक्त है, इसमें सन्देह नहीं। अभी तो इस ग्रन्थ के सात ही परिच्छेद प्राप्त हुए हैं। शेष भाग का लोप संस्कृत साहित्य तथा भारतीय इतिहास दोनों के लिये अशेष हानिकर हुआ है। निम्नलिखित अंश को ग्रन्थ से उद्धृत कर यह निबन्ध समाप्त किया जाता है:—

......तरङ्गमयी भ्रूपताकयोः, इन्दीवरमयी नयनयुगे, रक्तोत्पलमयी दन्तच्छदे, कुमुदमयी ईषत्स्मितेषु,...अमृतमयी वचसि, प्रसादमयी मनसि, चक्रवाकमयी पयोधरयोः, आवर्तमयी नाभिरन्ध्रे, पुलिनमयी नितम्बतटेषु, पुष्पकरमयी पादतलयोः, भ्रमर...पभोगायतीर्णा मन्दाकिनी लीला कर कान्तिराग प्राचुर्याणि, पञ्चैव महभूतस्थाने निधाय निर्मितेव प्रजापतिना, प्रावृडिव घनगभीरस्तननाभि रमणी, शरदिव सरसां कान्तिमुद्वहन्ती, हेमन्तवृत्तिरिव प्रालम्बिनी हारमालिनी, शिशिरश्रीरिव नवनवमालिका वसन्तवेलेव चारुभुजवासभूषिततनुलता सर्वर्तुसवृत्तितयैवनन्दनस्यभावा..................देवी वसुमती नामी ।

सोमेश्वरदेव और कीर्त्तिकौमुदी के संबंध में स्फुट टिप्पणियाँ

[लेखक—पंडित दत्तात्रेय बालकृष्ण डिस्कलकर एम. ए. राजकोट ।]

(१)

नागरीप्रचारिणी पत्रिका के भाग ४, अंक १ में पंडित शिवदत्त शर्मा जी ने 'सोमेश्वरदेव और कीर्त्ति-कौमुदी' नामक लेख प्रकाशित किया है। उसमें सोमेश्वरदेव-रचित ग्रंथों की नामावली में 'सुरथोत्सव' की प्रस्तावना के अनुसार 'काव्यादर्श' और 'काव्यप्रकाश टीका' के नाम भी 'कैटेलॉगस् कैटेलॉगरम्' (Catalogus Catalogorum) के आधार पर दिए गए हैं; परंतु उसके साथ ही उक्त पुस्तकों के सोमेश्वरदेव-रचित होने में शंका प्रकट की है जो यथार्थ है। ऐसा पाया जाता है कि उक्त पुस्तकों का कर्ता और कीर्त्तिकौमुदी-कर्ता गुर्जरेश्वर पुरोहित सोमेश्वरदेव दो भिन्न भिन्न पुरुष थे*; क्योंकि गुजरात के सोमेश्वर देव के पिता का नाम कुमार था और वह वसिष्ठगोत्री नागर ब्राह्मण था, ऐसा उसके रचे हुए 'सुरथोत्सव' काव्य के पंद्रहवें सर्ग से पाया जाता है। टीकाकार सोमेश्वर कान्यकुब्ज (कन्नौज) का निवासी था। उसके बाप का नाम देवक था और वह भारद्वाज-गोत्री ब्राह्मण था, ऐसा उक्त टीका के अंत में लिखे हुए इस श्लोक से पाया जाता है:—

भारद्वाजकुलोत्तं समट्टदेवकसूनुना।
सोमेश्वरेण रचितः काव्यादर्शः सुमेधसा ॥

इन दोनों कवियों के नामों में भी थोड़ा सा अंतर है जो पाठकों

---

* वल्लभजी हरिदत्त आचार्य कृत 'कीर्त्ति कौमुदी' के गुजराती भाषांतर की प्रस्तावना, पृ० ४४।

के ध्यान में आया होगा। दूसरी बात यह है कि 'काव्यादर्श' और 'काव्य प्रकाश टीका' ये दो भिन्न ग्रंथ नहीं, किंतु दोनों नाम एक ही ग्रंथ के हैं जैसा कि पंडित जी ने माना है। 'काव्य प्रकाश' की 'बाल बोधिनी' टीका में उक्त टीकाकार के पूर्व की ४६ टीकाओं के नाम दिए हैं, जिनमें ३१ वीं संख्या में इस टीका का परिचय नीचे लिखे अनुसार दिया है:–

काव्यादर्शाभिधा टीका कृता सोमेश्वरेण च।

सोमेश्वर नामक एक तीसरा कवि हो गया है, जो गर्गगोत्री ब्राह्मण, पद्मनाभ का पुत्र, और कृष्णराज नाम के किसी राजा का मंत्री था, ऐसा पश्चिमी खानदेश के बलसाणा गाँव में मिले हुए शक संवत् ११०६ (वि० सं० १२४१) के एक शिलालेख से ज्ञात होता है *। परंतु उसने कोई ग्रंथ लिखा या नहीं, इस विषय में कुछ भी जाना नहीं गया।

(२)

पंडित जी ने सोमेश्वर रचित शिलालेखों † की जो सूची दी है, उसमें उक्त कवि की बनाई हुई डभोई की वि० सं० १३११ की प्रशस्ति ‡ का नाम छूट गया है। प्रो० कायवटे ने अपना 'कीर्तिकौमुदी' की अँग्रेजी भूमिका (पृ० ९) में उसका उल्लेख किया है। सोमेश्वरदेव का समय निर्णय करने में वह उपयोगी है, क्योंकि सोमेश्वर रचित प्रशस्तियों में वह सब से पिछली है। मेरा अनुमान है कि सोमेश्वरदेव का समय अनुमान से वि० सं० १२५० से १३१५ तक होगा।

(३)

अनेक ग्रंथों और शिला-लेखों से ज्ञात होता है कि वस्तुपाल ने आबू, गिरनार और शत्रुंजय तीर्थों की अनेक बार यात्रा की थी और वहाँ

---

* आर्किआलॉजिकल् सर्वे, वेस्टर्न सर्किल की सन् १९१८–१९ की रिपोर्ट, पृ० ४९।

† बंबई गजेटियर, जि० १, भा० १, पृ० २०२।

‡ एपिग्राफिया इंडिका, जि० १, पृ० २५–३२।

मंदिर बनवाकर उनमें शिलालेख लगवाए थे। वस्तुपाल का मित्र और उस समय का राजकवि सोमेश्वरदेव था, जिसके रचे हुए दो शिलालेख गिरनार से और एक आबू से मिल चुका है। अनुमान होता है कि सोमेश्वर देव रचित कोई प्रशस्ति वस्तुपाल ने शत्रुंजय पर भी लगाई होगी, परंतु दुर्भाग्य से उसका कोई पता नहीं लगता।

(४)

पंडितजी ने सोमेश्वरदेव के जीवन की एक घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है (पृ० १६) कि 'इस (वीसल) के राजा होने पर भी सोमेश्वर का प्रभाव अन्यून रहा। इस राजा ने नागड़ नाम के एक ब्राह्मण को प्रधान बना दिया और वस्तुपाल के अधिकार न्यून कर दिए। इतना ही नहीं किंतु एक मुँहलगे समराक नाम के प्रतिहार के कहने पर इन दोनों भाइयों से वह बलात्कार धन माँगने लगा......इत्यादि'। इस घटना में सत्यता मालूम नहीं देती, क्योंकि कुछ ग्रंथों और पट्टावलियों* से पाया जाता है कि वस्तुपाल का देहांत वि० सं० १२९८ में हो गया, जैसा कि पंडित जी ने माना है; और वीसलदेव वि० सं० १३०० में गद्दी पर बैठा †। यदि यह बात ठीक हो तो प्रस्तुत घटना कैसे हो सकती है?

---

* श्रीयुत रामकृष्ण गोपाल भंडारकर कृत 'संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकों के शोध की रिपोर्ट, सन् १८८३–८४ ई. की', पृ. १४।

† श्रीयुत किल्कलकर का यह कथन कि 'वीसलदेव वि. स. १३०० में गद्दी पर बैठा' मानने योग्य नहीं है। वीरधवल का देहांत वि. सं. १२९५ में हुआ (बंबई गजेटियर, जि. १, भाग १, पृ. २०३, संवत् १२९५ वर्षे भाद्रपद शुदि ११ रवौ स्तम्भतीर्थे महामंडलेश्वरराणक श्रीविसलदेव राज्ये......................। पाटण के संघ विपाड़ा के भंडार में रखी हुई 'योगशास्त्र' की ताड़पत्र पर लिखी हुई पुस्तक के अंत में)। उससे पूर्व ही उसके ज्येष्ठ पुत्र प्रतापमल्ल का शरीरांत हो चुका था। उसके देहांत के समय उसके दो पुत्र वीरम और वीसलदेव (वीसल, विश्वल, विश्वलदेव, विश्वमल्ल) विद्यमान थे। अपने पिता के मरते ही वीरम ने अपने को अपने पिता की धोलका की गद्दी का उत्तराधिकारी

इसके विरुद्ध 'प्रबंध चिंतामणि' आदि में लिखा मिलता है कि वस्तुपाल की सहायता से ही वीसलदेव गद्दी पर बैठा था। यदि ऐसा हुआ हो तो वीसलदेव सहसा वस्तुपाल को पदच्युत कर कृतघ्न न हुआ होगा *।

मान लिया, परंतु उसके उद्धत होने के कारण मंत्री वस्तुपाल ने वीसलदेव का पक्ष लेकर उसी को धोलके की जागीर का स्वामी बनाया। वीरम कुछ इलाका दबाकर एक दो वर्ष गुजरात में ही रहा (संवत् १२९६ वर्षे कार्तिक सुदि ३ गुरौ अद्येह राजावली समलंकृत महाराजाधिराज श्रीमद्भीमदेवकल्याण विजय राज्ये प्रवर्तमाने महामंडलेश्वर राणक श्री-वीरमदेव राजधानी विद्युत्पुरस्थितेन श्री········। ताड़पत्र पर लिखी हुई मलयगिरि कृत 'संग्रहणी टीका—जयसलमेर के जैन भंडारों के ग्रंथों की सूची, पृ. ३५)। फिर वहाँ से भागकर अपने श्वसुर जालोर (जोधपुर राज्य में) के चौहान राजा उदयसिंह के यहाँ जा रहा और वस्तुपाल के उद्योग से वह वहीं मारा गया। ऐसी दशा में वीसलदेव का वस्तुपाल की विद्यमानता में ही धोलका का स्वामी बनना निश्चित है। वि. सं० १३०० में या उसके आस-पास तो वीसलदेव ने गुजरात के राजा त्रिभुवनपाल का राज्य छीना था। सं०

* राजपूतों के प्राचीन और अर्वाचीन इतिहास का अध्ययन करनेवालों को प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय तक के कई ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं कि कभी कभी राजपूत राजा अपने पर बड़ा उपकार करनेवालों का अपकार कर बैठने में तनिक भी नहीं हिचकते थे। गुजरात के सोलंकी राजा कुमारपाल ने अपने बहनोई कृष्णदेव (कान्हड़) की सहायता से ही राज्य पाया था, परंतु पीछे से उसने कृष्णदेव की आँखें निकलवा दी थीं। जोधपुर के महाराज अजीतसिंह के प्राण बचानेवाला तथा औरंगजेब का छीना हुआ उसका राज्य वापस लेने के लिये लड़नेवालों में मुख्य दुर्गादास राठौड़ ही था। परंतु राज्य पाने के पीछे अजीतसिंह ने उस परम उपकारी वीर पुरुष को अपने राज्य से भी निकाल दिया जिससे वह उदयपुर के महाराणा संग्रामसिंह (दूसरे) की शरण में जा रहा। महाराणा ने उसे बड़े सम्मान के साथ अपने यहाँ रखा और रामपुरा जिले का शासक नियत किया, जहाँ उसका देहांत हुआ और शिप्रा नदी के तट पर उसका अग्निसंस्कार हुआ। ऐसी दशा में संभव है कि वीसलदेव भी अपने पिता की जागीर का स्वामी होने के पश्चात् अन्य लोगों की बातों में आकर मंत्री वस्तुपाल का अविश्वास करने और नागड़ के प्रति सद्भाव दिखलाने लगा हो, जैसा कि 'वस्तुपाल चरित' से अनुमान किया जा सकता है। यह तो निश्चित है कि वस्तुपाल और उसके भाई तेजपाल के पीछे उस (वीसलदेव)

मुझे तो वस्तुपाल के संबंध की ये दोनों दंत-कथाएँ निर्मूल प्रतीत होती हैं*। यदि उनमें कुछ सत्यता हो, तो यही मान सकते हैं कि यहाँ नामों में कुछ गड़बड़ है। वस्तुपाल के स्थान में उसके छोटे भाई तेज-पाल का नाम होना चाहिए। तेजपाल की मृत्यु वि. सं. १३०८ में होना पट्टावलियों में लिखा मिलता है। शायद वीसलदेव ने उसके साथ दुर्व्यवहार किया हो।

ने नागड़ को अपना मंत्री बनाया था (संवत् १३१० वर्षे मार्ग० शुदि पूर्णिमायां अद्येह महाराजाधिराज विश्वलदेवकल्याण विजयराज्ये तत्पादपद्मोपजीविमहामात्य श्रीनागड़ प्रभृति पंचकुल प्रतिपत्तौ एवं काले प्रवर्तमाने प्रकरणपुस्तिका माधुचन्द्रेन लेखितेति जयसलमेर के जैन पुस्तक-भंडारों की (सूचि, पृ. ३७—३८) सं०

* ऊपर लिखी हुई दोनों दंतकथाएँ निर्मूल नहीं हैं। उनमें सत्यता का कुछ अंश अवश्य है, जैसा कि जैन ग्रंथों से पाया जाता है। सं०

कबीर

जीवन-खण्ड

[लेखक पं० शिवमङ्गल पाण्डेय, बी० ए०, विशारद]

कबीर की जीवन-घटना साधारण नहीं है। वह पद पद पर अलौकिकता से पूर्ण है। आरम्भ से अन्त तक आश्चर्यमय है। जितनी ही उनकी उत्पत्ति संदिग्ध और अज्ञात है, उतना ही उनका मरण और उनकी जीवन-व्यवस्था भी। सत्यतः उनके जीवन की कोई ऐसी घटना नहीं है, जिसमें दैविकता और पारलौकिकता के कुछ अंश न पाए जाते हों। 'भक्तमाल' में उनकी उत्पत्ति का ठीक इसी तरह उल्लेख है।

जब रामानन्द स्वामी पवित्र नगरी काशी में रहते थे, उस समय एक अकिञ्चन ब्राह्मण उनकी सेवा करता था और सदा उनकी सुख-सामग्रियों के सञ्चित करने में रत रहता था। दास स्वामी जी पर इतनी श्रद्धा-भक्ति रखता था कि वह उनको अपना गुरु मानता था। स्वामी जी उसके लिये देव-तुल्य थे। उस ब्राह्मण के एक विधवा कन्या थी। वही उसकी इकलौती बेटी थी। उस पर पिता का अगाध वात्सल्य-प्रेम था। ऐसी कन्या ऐसे पिता की योग्य सन्तति थी। वह सर्वदा धर्मपरायणा थी। उसकी प्रवृत्ति केवल पूजा और धार्मिक कार्यों में रहती थी। वह ऋषि के दर्शनार्थ बहुत उत्कण्ठित रहा करती थी। एक दिन पिता से उसने इसके लिये निवेदन किया। ब्राह्मण भी इस पर सहमत हो गया और उसको उस पवित्रात्मा के चरण-कमलों के समीप ले गया। कन्या का चरित्र धर्मपरायण था ही। उसने बड़े नम्र भाव से उस शुद्ध-बुद्ध पुरुष को सिर नवाया। स्वामी जी उसके ऐसे बर्ताव से बहुत प्रसन्न हुए, और कह पड़े—'जा तेरे पुत्र हो'। ऐसी

दशा में सिद्ध फ़क़ीर ऐसा ही आशीर्वाद दिया करते हैं। स्वामी जी को क्या पता था कि कन्या किशोरावस्था से ही विधवा है। पिता समीप ही खड़ा था। उस पर एकाएक वज्रपात सा हुआ। वह बहुत घबराया और ऋषि से बोला—"पूज्यपाद! आपने क्या कहा! मेरी कन्या विधवा है। उसको पुत्र कैसे हो सकता है?" ऋषि कुछ भी क्षुब्ध नहीं हुए और धैर्यपूर्वक उन्होंने उत्तर दिया—"मेरा वचन असत्य नहीं हो सकता। उसको पुत्र अवश्य होगा। परंतु गर्भधारण का चिह्न उस पर लक्षित नहीं होगा, और न कोई अपमानपूर्ण किम्वदन्ती जनता में फैलेगी"। ब्राह्मण भौचक्का हो गया। उसके मुँह से बात तक न निकलती थी। कन्या को धीरे से साथ लेकर घर चला आया। उसने यह बात किसी से नहीं कही और भविष्य की प्रतीक्षा करने लगा। दस महीने बीत गए, और बिना किसी गर्भधारण के चिह्न के, कन्या को एक पुत्र उत्पन्न हुआ। कन्या इस बात पर बहुत दुःखित हुई कि इसका समाचार किसी तरह छिपा नहीं रह सकता। वह किं कर्तव्यविमूढ़ा सी हो गई। घबराहट में उसने पैदा होते ही पुत्र को गोद में उठा लिया और एक नदी पार करके उस पार उगे हुए झाड़ और नरकल के नीचे कलेजे पर पत्थर रखकर पुत्र को फेंक दिया। उसने सोचा कि शायद किसी बटोही की नजर इस पर पड़ जाय और दया के वशीभूत होकर इसके प्राण की रक्षा हो जाय। तदनन्तर ऐसा हुआ कि अलो नाम का एक जोलाहा उसी रास्ते से गुजर रहा था। बालक को ऐसी असहाय दशा में देखकर जोलाहे को उस पर दया आ गई। उसने पुत्र को उठा लिया और घर ले आया। जोलाहा बालक को पुत्रवत् रखने लगा। बालक पर उसका प्रेम इस कारण से अधिक था कि वह सन्तान-हीन था। उसी बालक को वह स्वपुत्र मानने लगा। काल के गाल से अलौकिक रीति से बचा हुआ यही बालक आज के इस छोटे से लेख का पवित्र और उज्ज्वल नायक है।

बालक धीरे धीरे बड़ा हुआ। जब उसके नामकरण का समय आया, तब धर्मपिता ने उसका नाम कबीर रक्खा। अली का जीवन-निर्वाह कपड़ा बुनने से होता था। पुत्र को भी उसने बुनने का काम सिखाया। होते होते कबीर बुनने के काम में ऐसे पारंगत हो गए कि उनकी कमाई पिता की कमाई से कहीं अधिक होने लगी। ऐसा होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि अली बहुत वृद्ध हो गया था और एक प्राणघातक रोग से ग्रस्त था। उससे काम अच्छी तरह होता न था। यद्यपि कबीर बुनाई के काम में सिद्धहस्त हो गए, तथापि उनके जीवन का वही एक मात्र उद्देश्य न था। ताना तनने के साथ ही साथ वे सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की प्रशंसा में भिन्न भिन्न प्रकार के गाने गाया करते थे। नवयुवक कबीर बड़े परिश्रम से कार्य करते और अपने माता-पिता का जीवन-निर्वाह कराने में सदा संलग्न रहते थे। इस प्रकार वे अपने कुटुम्ब का भली भाँति पालन पोषण करने में समर्थ हुए।

एक दिन कबीर पास के बाजार को जा रहते थे कि इतने में आकाशवाणी हुई—"हे कबीर! रामानन्द स्वामी से मंत्र लो और माला पहन और तिलक लगाकर वैष्णव हो जाओ"। कबीर ने इन शब्दों को नितान्त ऐश्वरीय जाना और तुरन्त ही ऋषि के आश्रम की ओर चल पड़े। रास्ते में उनको मालूम हुआ कि रामानन्द स्वामी ब्राह्मण को छोड़कर इतर किसी जातिवाले को मंत्र नहीं देते। कबीर तो मुसलमान थे। उनसे मंत्र पाना तो स्वप्न में भी नहीं देखा जा सकता था। यह समझकर कबीर बहुत ही दुःखी होकर धीरे धीरे घर की ओर लौटे। परन्तु कबीर ऐसे न थे कि जिन पर प्रतिकूल घटना का भयपूर्ण प्रभाव पड़े। वे अपने विचार के पक्के थे। उसी समय से कोई रास्ता निकालने के सोच विचार में लग गए। अन्त में उन्होंने एक ऐसा ढंग सोच निकाला जिससे वे अपना अभीष्ट सफल कर सकें।

रामानन्द स्वामी बड़े प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त के पहले ही सोकर उठते थे और उसी समय गंगा-स्नान के लिये जाते थे। एक दिन कबीर अपने झोंपड़े से उस समय उठे, जब प्रकाश अंधकार पर विजय-प्राप्ति के हेतु घोर युद्ध में प्रवृत्त होता है। कबीर घाट पर पहुँचकर सबसे अंतिम सीढ़ी पर लेट गए। संयोगवश ऐसा हुआ कि जब रामानन्द स्वामी नीचे उतर रहे थे, तब उनका खड़ाऊँ कबीर के सिर से टकरा गया। स्वामी बिना कुछ सोचे समझे बोल उठे—"राम कह, राम कह"। कबीर, जिन्होंने मर जाने का बहाना किया था, तत्काल वहाँ से उठकर घर आए। उसी समय से माला पहन और तिलक लगाकर कबीर वैष्णव हो गए। ऐसे वेश में वे अपनी झोंपड़ी के दरवाजे पर बैठे बैठे "राम" "राम" का मंत्र जपा करते थे। कबीर को ऐसे अनजपी ढंग में पाकर उनकी माँ ने कुछ हँसी में कहा—"कबीर! किसने तुमको ऐसा पागल बना दिया?" माता का यह कथन कुछ अंशों में ठीक था। धार्मिक दृष्टि से कोई मुसलमान वैष्णव तभी कहा जा सकता है, जब उसके मस्तिष्क में कुछ विकृति आ गई हो। हिन्दू-शास्त्रानुसार भी कोई मुसलमान हिन्दू नहीं हो सकता। कबीर ने माँ को उत्तर दिया—"नहीं माँ! मैं विक्षिप्त नहीं हूँ, बल्कि रामानंद स्वामी का शिष्य हो गया हूँ।" सभी जानते थे कि स्वामी जी मुसलमान का मुख देखना तक नहीं चाहते। उन्होंने कबीर को चेला कैसे बनाया? गाँववालों के कानों में यह खबर पड़ी कि ऋषि तक पहुँच गई। ऋषि को विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने तत्काल ही कबीर को बुला भेजा। कबीर के आते ही वे परदे के पीछे हो गए, क्योंकि वे किसी मुसलमान के समक्ष न बोलते थे। आड़ से ही उन्होंने कबीर से पूछा—"तू मेरा चेला कैसे हुआ?" कबीर ने कहा—"स्वामी जी! क्या 'राम' नाम के अतिरिक्त अन्य भी कोई मंत्र है?" स्वामी जी के 'नहीं' कहने पर कबीर ने फिर पूछा—"क्या 'राम कह,

राम कह' को छोड़कर दूसरा भी कोई मंत्र देने का ढंग है ? और क्या स्वामी जी ! आपने गंगा के तट पर, जब आपका खड़ाऊँ मेरे सिर से टकराया था, मुझ को यही मंत्र नहीं दिया था ?" कबीर के इस यथोचित उत्तर ने रामानन्द स्वामी के अन्तःकरण से मुसलमानों के प्रति उनके वैमनस्य-भाव को निकाल दिया। वे परदे के बाहर निकल आए और आनन्दमय तथा आश्चर्यपूर्ण भाव से कबीर को गले लगा लिया। कबीर के म्लेच्छ होते हुए भी स्वामी जी ने उन्हें अपनी पंगति में ले लिया।

जब कबीर ने देखा कि आकाशवाणी पूर्णतया चरितार्थ हुई, तब उनका उत्साह और भी बढ़ा और अब वे बराबर ईश्वर-प्राप्ति के प्रयत्न में रहने लगे। एक दिन हरि ने उनकी परीक्षा लेनी चाही। जब कि कबीर बाजार में एक थान लेकर बेचने गए, एक वैष्णव ने आकर उनसे कपड़ा माँगा। वैष्णव हरि के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं था। कबीर वैष्णवों के भक्त थे। वे इनकार न कर सके। कपड़े का आधा भाग वैष्णव को दे डाला। वैष्णव ने कहा—"आधे से मेरा काम नहीं चलेगा"। इस पर उन्होंने अवशिष्ट आधा भाग भी दान कर दिया। कबीर के माँ-बाप धनी न थे। कपड़े बेचने से ही उनकी रोजी चलती थी। उस दिन बिना मूल्य के कपड़ा वैष्णव को दे डाला, इसलिये कबीर घर में कुछ नहीं दे सकते थे। उन्होंने यह भी सोचा कि घर पर कुछ झिड़कियाँ भी मिलेंगी। इसलिये उस दिन शाम को घर जाना उन्होंने अच्छा नहीं समझा। वे बाजार ही में एक स्थान पर सो रहे और यह सोचा कि माँ-बाप किसी तरह से गुजर कर ही लेंगे।

हरि को कबीर के भूखे कुटुम्ब पर दया आई और वे अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थ लेकर कबीर के घर गए। माता भौचक्की रह गई और बोली—"हे कबीर। तुमने आज किस को लूटा है ? अगर न्यायाधीश को इसका पता चल गया, तो हथकड़ी बेड़ी डालकर बन्दीगृह में रख

छिप जाओगे"। तदनन्तर हरि ने, जिसने कि अभी कबीर का रूप धारण किया था, फिर वैष्णव का बाना बनाया, और तुरन्त बाजार में कबीर के पास आए और उनसे घर जाने को कहा। कबीर घर लौट आए और सब हाल सुनकर बहुत चकित हुए। कबीर को पूर्ण विश्वास हो गया कि यह सब करतूत हरि की ही है। यह समझकर कि ईश्वर मुझ पर इतना दयालु है, कबीर ने सब सांसारिक विषयों का त्याग कर दिया और केवल ईश्वर-ज्ञान की ओर झुके। उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति वैष्णवों में बाँट दी और एक निस्पृह वैरागी की तरह रहने लगे। ब्राह्मणों को कबीर का दान बहुत बुरा लगा। उन्होंने कबीर के प्रतिकूल कुछ कपट-प्रबंध रचने का विचार किया। क्रोध में उन्होंने कबीर से कहा—"ऐ जोलाहे! तुमने सब कुछ वैष्णवों को लुटा दिया और हम लोगों को कुछ भी न दिया। क्या यह न्याय-संगत है? हम लोग तुम्हारी दानशीलता से बाहर क्यों रहें?" परन्तु कबीर विवश थे। उन्होंने सब कुछ समाप्त कर दिया था। उन्होंने अन्त में ब्राह्मणों से कहा—"कुछ देर ठहरिए, मुझे एक जगह से लौट आने दीजिए"। इतना कह कबीर बाजार चले गए और उसी स्थान पर लेट गए। इसी बीच में हरि ने कबीर का बाना बनाकर, बैलों पर रुपए लाद कर और उन ब्राह्मणों के पास आकर उनको भरपूर धन दिया। फिर उसी तरह कबीर के पास जाकर उनको घर लौट जाने को कहा। तदनुसार कबीर घर आकर क्या देखते हैं कि सब ब्राह्मण दान से तृप्त हैं और उनका घर धन से भरा है। कबीर ने सब धन उसी दम दान कर दिया। लोगों को आशातीत सम्पत्ति प्राप्त हुई। अब क्या था! कबीर का नाम कर्ण की तरह प्रसिद्ध हुआ। प्रति दिन भिखमंगों की भीड़ उनके दरवाजे पर लगी रहती। उनका सब समय दान देने ही में लग जाता। इससे उनके भजन भाव में बड़ी बाधा आ उपस्थित हुई। उन्होंने इस जंजाल से छुटकारा पाने की कोशिश में

कुछ रख नहीं छोड़ा। अन्त में एक ऐसा ढंग ढूँढ़ निकाला, जिससे कि वे कार्य-सिद्धि में सफल हुए। यद्यपि ऐसा ढंग एक त्यागी वैष्णव के चरित्र के नितांत अयोग्य था, तथापि और कुछ दूसरी घात उनको उस समय न सूझी।

एक दिन प्रातःकाल कबीर ने एक वेश्या को बुलाया और अपने साथ उसको शहर में घूमने को कहा। रास्ते में उसको बहुत बड़े बड़े इनाम देते जाते थे। कबीर ने एक हाथ उसके कंधे पर रख लिया था और दूसरे हाथ से कमंडलु लिए हुए थे। इसी वेष में जनपथ और राजपथ पर वे घूम रहे थे। यह अत्यंत कलुषित दृश्य सज्जनों की नजर में इतना चुभता था कि वे कबीर के घर से सदा के लिये नौ दो ग्यारह हुए। उनके लिये यह पाप-पूर्ण धृष्टता की पराकाष्ठा थी। दुष्ट लोग इस पर प्रसन्न हुए कि कबीर भी, जिनकी प्रख्याति दाक्षिण्य और धार्मिकता में बहुत बढ़ी चढ़ी थी, अब हमीं लोगों में से एक हो गए। इसी बाने से कबीर राजा के सम्मुख जा पहुँचे। राजा ने, जैसी कि आशा थी, इससे बहुत बुरा माना। वह असभ्य और अशिष्ट व्यवहार देखकर कबीर ने कमंडलु से कुछ जल पृथ्वी पर छिड़का। राजा ने समझा, शायद बाबा मेरे ऊपर नाराज हो गए हों। उन्होंने मर्म-भेदी स्वर में कहा—"क्या आपने क्रोध में मुझे शाप दिया है?" बाबाजी ने कहा—"नहीं महाराज! जगन्नाथ जी का पण्डा गर्म गर्म प्रसाद थाली में लिए जा रहा था। कुछ प्रसाद उसके पैर पर गिर पड़ा, जिससे कि वह जल गया। उसी का कष्ट शांत करने के लिये मैंने जल फेंका है"। राजा को उस समय इस बात पर विश्वास नहीं हुआ; परंतु पुरी से जब समाचार मँगाया गया, तब कबीर का कथन अक्षरशः सत्य निकला। राजा बहुत लज्जित और भयभीत होकर क्षमा-प्रार्थना के लिये कबीर के पास आया। अब कबीर का नाम राजा के यहाँ भी प्रख्यात हो गया और उनके भाग्य में महान् परिवर्तन हो चला।

तत्पश्चात् राजा साहब का देहांत हो गया। उनके लड़के सिकंदर ने राजगद्दी पाई। पास के ब्राह्मणों ने, जो जोलाहे कबीर के वैष्णव हो जाने से बुरा मानते थे, उनकी माँ को बहका कर महाराजाधिराज सिकंदर के पास भेज दिया। दिन ही को माँ के हाथ में एक दीपक दे दिया और सिकंदर से उससे कहलवाया—"आप के राज्य में दिन ही रात हो गया है; नहीं तो एक मुसलमान हिन्दू कैसे हो सकता था?" राजा ने शिकायत सुन ली और कबीर को दरबार में दण्ड देने के लिये बुलाया। उनके आते ही एक दरबारी ने कहा—"राजा का आधिपत्य स्वीकृत करके उनका अभिनंदन करो"। अपने विश्वास में दृढ़ कबीर ने निडर होकर कहा—"मैंने केवल राम को ही जाना है। मैं उसी का अधिकार मानने को तैयार हूँ, दूसरे किसी का नहीं"। इस निर्भीक और अनम्र उत्तर से सिकंदर बहुत क्रुद्ध हुआ। उसने फौरन ही हुक्म दिया कि इसके हाथ पैर बाँधकर गंगा में फेंक दो। राजकीय शासन ज्यों का त्यों पूरा किया गया। परंतु कुछ काल के बाद जब सब लोग यह सोच रहे थे कि कबीर अब परलोक को सिधारेगा, वे हथकड़ी बेड़ी से मुक्त होकर पानी के बाहर आ खड़े हुए। यह सत्यतः एक आश्चर्यमयी घटना थी; परंतु राजा का क्रोध तनिक भी शांत नहीं हुआ। उसने फिर कबीर को प्रज्वलित अग्नि में फेंक देने का हुक्म दिया। वैसा किए जाने पर भी कबीर का एक बाल भी बाँका न हुआ—उनका शरीर बिल्कुल सुरक्षित बना रहा। इस पर भी राजा के सिर से भूत नहीं उतरा। उसने फिर भी कबीर को हाथी के नीचे कुचलवाने का हुक्म दिया। यह प्रयोग भी विफल रहा; क्योंकि हाथी कबीर को दूर ही से देखकर बेतहाशा भागा। इसका कारण जानने के लिये राजा ने स्वयं हाथी पर सवार होकर कबीर को कुचलवाना चाहा। परंतु राजा और हाथी दोनों को कबीर व्याघ्र-वत् लक्षित होते थे। हाथी कबीर को बाघ समझकर चिंघाड़ मारकर भाग निकला। अब जाकर राजा की

आँखें खुलीं। उसके अंतःकरण पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने बहुत विनयपूर्वक कबीर के पास आकर उनको साष्टाङ्ग प्रणाम किया और क्षमा की प्रार्थना करता हुआ हाथ जोड़कर बोला—"कबीर साहब! कृपाकर मुझे क्षमा कीजिए। मुझे दैविक क्रोध से बचाइए। मैं आप को धन दौलत, जितना आप चाहें, देने को तैयार हूँ"। संसार-त्यागी कबीर ने उत्तर दिया—"मैं ऐसी सम्पत्ति को क्या करूँ, जिसके पाने से बाप बेटे में और भाई भाई में वैर-भाव पैदा होता है? पर इतना मैं कहे देता हूँ कि दयालु राम तुम्हारा अपराध क्षमा करेंगे।"

जब उपर्युक्त ब्राह्मणों ने देखा कि हमारे सब उपाय मिट्टी में मिल गए, तो उन्होंने फिर और अधिक प्रभावशाली उपाय निकालना चाहा। वे जानते थे कि हिंदू और मुसलमान दोनों ने कबीर को छोड़ दिया है। केवल वैष्णवों में उनकी प्रतिष्ठा और सर्वप्रियता है। यदि केवल वैष्णवों से और उनसे अनबन हो जाय, तो हमारा मतलब निकल आवे। तदनुसार उन लोगों में से चार मनुष्यों ने वैष्णवों के रूप बनाए। उन्होंने कबीर के नाम का एक झूठा पत्र बनाया और उसे लेकर तमाम मुल्क के वैष्णवों को कबीर के यहाँ एक नियत दिन को भोज के लिये निमंत्रित किया। उस दिन हजारों वैष्णव कबीर के दरवाजे पर आ उपस्थित हुए। कबीर ने समझ लिया कि हमारे साथ कूट-व्यवहार किया गया है। वे कुछ घबराए भी, कि साधारण जन-समाज में तो मेरा अपमान था ही, अब वैष्णवों से भी मुझसे बिगड़ेगी। अंत में उन्होंने ईश्वरीय शक्ति ही का आश्रय लेना सब से अच्छा समझा। प्रार्थना करते ही हरि ने कबीर को अनेक प्रकार की सामग्रियों से भर-पूर कर दिया। अतिथि-समाज खूब खा पीकर निमंत्रक से बहुत प्रसन्न हुआ और हृदय से आशीर्वाद देता हुआ अपने घर को चला गया।

परंतु कबीर की विघ्न-बाधाओं और कठिन परीक्षाओं का यहीं

अंत नहीं है। शायद उपर्युक्त ब्राह्मणों के ही प्रोत्साहन से एक वेश्या ने फिर भी कबीर को अपने लावण्यमय मनोहारी रूप के फंदे में फँसाना चाहा। परंतु यहाँ भी धार्मिकता की अधर्म पर और सदाचार की व्यभिचार पर विजय हुई। वेश्या के हृदयग्राही और मनोमुग्धकारी रूप को देखकर कबीर ने भक्ति का एक बहुत अच्छा भजन गाया, जिसका प्रभाव उस पर अटल रीति से पड़ा। वह बहुत लज्जित हुई और सदाचार और धार्मिकता के भाव से अपने घर लौट गई। शायद उसी दिन से उसने वेश्या का कार्य छोड़ दिया। उपर्युक्त भजन इस आशय का था:—"उसी राम ने, जिसने मुझे बनाया है, तुमको भी बनाया है—हम लोगों का निर्माणकर्त्ता एक ही है। तुम सचमुच मेरी माँ की बहन हो। तुम में और मुझ में माँ बेटे का संबंध है। मेरी शिक्षा मानकर घर लौट जाओ, और एकनिष्ठ होकर राम की भक्ति में रत हो जाओ। तुम को विश्वास रहे कि ऐसा करने पर राम तुम्हारी कलुषित पापमय आत्मा को अधोगति से उद्धार कर देंगे"। इस प्रकार कबीर ने अपने शत्रुओं से संग्राम में विजय पाई। अब कोई शत्रु उनका सामना न कर सकता था। छल, कपट, प्रलोभन सब कबीर पर प्रयुक्त किए गए; परंतु सदाचार और धार्मिकता की प्रज्वलित अग्नि के सामने ये सब ऐसे नष्ट हो गए, जैसे प्रातःकाल का कोहरा सूर्योदय से छिन्न भिन्न हो जाता है।

आलोचना-खण्ड

ऐसा जान पड़ता है कि कबीर बहुत दिनों तक जीवित रहे, परन्तु निस्सन्देह उनकी अवस्था इतनी अधिक न रही होगी, जितनी कि उनके अनुयायी कहते हैं। वे कहते हैं कि कबीर का जन्म-काल १२०० सं० और मरण-काल १५०० सं० है। कलियुग में ३०० वर्ष जीना नितान्त असंभव है। हिंदू-शास्त्रानुसार मनुष्य-जीवन लगभग १०० वर्ष से अधिक नहीं हो सकता। परंतु अनुभव से प्रतीत होता है कि यह सीमा कभी कभी उल्लंघित

की गई है। यूरोप के सबसे बड़े दीर्घ-जीवी मि० पार का मरण १५४ वें वर्ष में हुआ था। मृत्यु के बाद उनके मस्तिष्क के अनुसंधान (Post-mortem Examination) से ज्ञात हुआ कि यदि वे प्राकृतिक साधारण व्यवस्था से रहते, तो कुछ और दिनों तक जीवित रहते। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष में भी १०० वर्ष से ऊपर तक के मनुष्य हो गए हैं और होते हैं। अभी गत वर्ष में मेरे ही गाँव का एक लोनिया ११५ वें वर्ष में मरा था। इस प्रकार और भी अनेक उदाहरण हैं। इन उदाहरणों से पता चलता है कि इस कलियुग में मनुष्य-जीवन १६० या १७० वर्षों से अधिक का नहीं हो सकता। इस विचार से कबीर का ३०० वर्ष जीना असंभव नहीं तो और क्या हो सकता है? यदि यह भी मान लिया जाय कि कबीर भारतवर्ष के सब से बड़े दीर्घजीवी थे, तो भी उनकी अवस्था १६० या १७० वर्ष से अधिक नहीं हो सकती।

कबीर रामानन्द स्वामी के शिष्य थे। रामानन्द भी रामानुज के (जो कि वैष्णव संप्रदाय के प्रवर्तक थे) शिष्य थे। इतिहास से ज्ञात होता है कि धारासमुद्र के राजा विष्णुवर्धन (१११७ ई०—११३७ ई०) ने वैष्णव होकर रामानुज को अपना गुरु माना। इससे उक्त प्रसिद्ध धर्मोपदेशक का बारहवीं शताब्दी में होना सिद्ध है। यह भी निर्विवाद है कि रामानन्द रामानुज के ठीक बाद के शिष्य न थे। सत्यतः रामानन्द रामानुज से चौथी पीढ़ी में थे। वे राघवानन्द के अनुलोम शिष्य थे। ये सब उपदेशक दीर्घजीवी थे। यदि रामानुज के बाद रामानन्द तक तीनों ऋषि १००—१०० वर्ष के लगभग जीवित रहे हों, तो भी रामानन्द का काल चौदहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग आता है। प्रोफे० एच० एच० विलसन ने भी ऋषि का यही समय बतलाया है। कबीर के मंत्र लेने के समय रामानन्द अवश्य बहुत वृद्ध हो गए थे। उनकी भी अवस्था १०० वर्ष के लगभग रही होगी। इसलिये यदि हम कबीर का काल १५ वीं शताब्दी मानें, तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

में समान-रूपेण विद्यमान है। इस विचार से एक धर्म से दूसरे में कोई विशेष अंतर नहीं। तदनुसार कबीर ने इस बात पर बड़ा ज़ोर दिया था कि हिंदुओं और मुसलमानों का ईश्वर एक ही है। भाग्यवश वह समय ऐसा था कि हिन्दुओं और मुसलमानों का वैर-भाव कुछ दूर हो गया था—वे एक दूसरे से मैत्री-भाव रखने लगे थे। यही कारण है कि कबीर के इस सिद्धांत का लोगों ने समर्थन किया और इससे वे प्रभावान्वित हुए।

कबीर के अनुसार ईश्वर केवल सर्वधर्मगत ही नहीं है, प्रत्युत वह अखिल-विश्व-व्यापक भी है। संसार में कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, जिसमें ईश्वर का अंश न पाया जाता हो, अतः प्रकृति के किसी अंग की अवहेलना भी नितांत घृणित और अनुपयुक्त है। सब पदार्थों को आदरपूर्वक, अनुराग से देखना चाहिए। परन्तु कबीर न तो विश्व-देव-वादी ही थे और न अनेकदेववादी। वे केवल आस्तिक अर्थात् ईश्वर-वादी थे। इस प्रकार वे आधुनिक ब्राह्म-समाज (ब्राह्मो-समाज) के अग्रसर कहे जा सकते हैं। ब्राह्म-समाज के सब से बड़े नेता केशवचंद्र सेन कहते हैं—"मनुष्यात्मा पहले प्रकृति ही में ईश्वर का अन्वेषण करती है। उसका सब से पहला ईश्वर-ज्ञान प्रकृति-ज्ञान से भिन्न नहीं है। उसकी सबसे पहली पूजा प्रकृति-पूजा ही है। वह प्रत्येक पदार्थ का पूजन करती है, जो उसमें आश्चर्य और कृतज्ञता का संचार करे"। वे फिर कहते हैं—"यह प्रकृति का नैसर्गिक पूजन न तो विश्व-देववाद है और न अनेकदेववाद। यह तो केवल अपरिमित शक्ति का पूजन है; अर्थात् साधारण ईश्वरवाद तथा आस्तिकता है"। नीतिज्ञ कवि पोप का कथन है—"हम केवल प्रकृति ही के द्वारा प्राकृतिक ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं"। सत्यतः प्रकृति-पूजन ईश्वर-पूजन की प्रथम श्रेणी है, अथवा परोक्ष अपरोक्ष में प्रतिभासित होता है। कबीर का धार्मिक सिद्धान्त ठीक ऐसा ही मालूम होता है।

कबीर मूर्त्ति-पूजा के कट्टर विरोधी थे। वे कहते हैं कि ईश्वर परोक्ष और अद्रष्टव्य है; और इसलिये उसकी प्रतिमा बनाना मूर्खता है। मूर्त्ति में जीवन का कुछ भी अंश नहीं रहता, अतः मिष्टान्न, फल तथा अन्य खाद्य द्रव्यों का उसको भोग लगाना हास्यास्पद है। मूर्त्ति ईश्वर नहीं है; अतः उसका पूजन निरर्थक और व्यर्थ है। जब एक निराकार परब्रह्म की सत्ता निर्विवाद है, तो पत्थर और मूर्त्ति की पूजा करने से क्या लाभ? थाली-भर मिठाई का भोग लगाने से क्या मूर्त्ति उसका कुछ भी भाग खा सकती है? मूर्त्ति को खाद्य द्रव्य के स्वाद का क्या ज्ञान? अज्ञानता में मनुष्य चंदन से उसके शरीर का लेपन करता है, जिसके न कान हैं, न जीभ है, और जो न स्पर्श-शक्ति का यथोचित ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जो लोग तुलसी के पत्ते से पत्थर की पूजा करते हैं, वे स्वयं पत्थर से अच्छे नहीं हैं। वे बने हुए भक्त हैं। जिसको अखिल-विश्वात्मा परमेश्वर का कुछ भी ज्ञान नहीं है, वह चौरासी योनि में भटकता हुआ सर्वदा नरक का ही सेवन करता है। सच्चा पूजन जीवात्मा का होता है। पूजन से और वाह्य आडम्बर से कुछ भी संबंध नहीं। हिंदू-धर्मानुसार जो कर्मकाण्ड और आडम्बर हैं, वे सत्य आध्यात्मिक पूजन का लघु अंश भी नहीं हैं। ईश्वर-प्राप्ति में मुख्य वस्तु भक्ति है। ईश्वर में मनसा, वाचा, कर्मणा भक्ति रखना ही उस तक पहुँचने का द्वार है।

पक्के हिंदू और मुसलमान की तरह माला जपने में कबीर को तनिक भी विश्वास न था। रोमन कैथलिक-वाले भी माला को बहुत महत्व देते हैं। कबीर कहते हैं कि भक्ति का आडंबर निरर्थक है। ईश्वर-प्रार्थना करनेवाले को कबीर शिक्षा देते हैं:—

"कर का मनका छोंड़िके, मन का मनका फेर"।

इस प्रकार कबीर का धार्मिक विचार नितांत विशुद्ध है; उसमें ऊपरी सजावट और बाह्याडंबर का लेशमात्र भी नहीं है।

इस कथन का समर्थन एक और बात से भी होता है। यह कहा जा चुका है कि कबीर की माँ ने कुछ दुष्ट ब्राह्मणों के कहने पर सिकंदर से अपने लड़के की शिकायत की थी। यह सिकंदर, लोदी खानदान का दूसरा बादशाह और बहलोल लोदी का लड़का था। सिकंदर १४८८ ई० से १५१७ ई० तक राजगद्दी पर रहा। बहलोल बड़ा पराक्रमी शासन-कर्त्ता था। उसने उत्तरीय भारत का एक बहुत बड़ा भाग, पंजाब से बनारस तक, जीतकर अपने राज्य में मिलाया था। सिकंदर ने अपने बाप के जीते हुए सब मुल्कों पर अधिकार ज्यों का त्यों रक्खा और बिहार को भी अपने राज्य में मिलाया। इसलिये बहुत संभव है कि सिकंदर बनारस में कुछ दिनों तक रहा हो और अतः कबीर की माँ को शिकायत करने का अच्छा मौक़ा मिला हो। इस प्रकार कबीर के अनुयायियों का उनके मरण के विषय में कथन अधिक असत्य नहीं प्रतीत होता। उनके अनुसार भी कबीर की मृत्यु १५०० सं० (१४४३ ई०) में हुई। १४४३ ई० और १४८८ ई० में बहुत अंतर नहीं है। अतः कबीर का मृत्यु-काल लगभग १४९० ई० मानने पर उनका जन्म लगभग १३२० ई० में हुआ होगा।

कबीर की मृत्यु भी उतनी ही आश्चर्य-जनक है, जितना कि उनका जन्म। जब कबीर को ब्रह्म-ज्ञान के बल से मालूम हुआ कि अब हमारे मरने का समय समीप है, तब उन्होंने अपने अनुयायियों और शिष्यों से अपनी अन्त्येष्टि-क्रिया के विषय में कहा। उनके शव का क्या किया जाय, इसके विषय में उन्होंने दो असंगत आदेश दिए। हिंदुओं से जलाने को कहा और मुसलमानों से क़ब्र में गाड़ने को कहा। उस समय इसका पूर्ण आशय कोई समझ न सका। यह असंभव सा प्रतीत होता है और आदेशकर्त्ता की बुद्धि में कुछ विकार आ जाना बतलाता है। परंतु कबीर को सत् असत् का अच्छा ज्ञान था; उनका कथन असत्य तथा विकारयुक्त नहीं हो सकता था। अंत में, कहा जाता है कि,

जिस दिन कबीर का प्राणांत हुआ, अथवा वे अंतर्द्धान हुए, वे पृथ्वी पर लेट गए और अपने शरीर को एक बड़े कपड़े से ढक लिया। थोड़ी देर में अंत हो जाने पर उनके शिष्य झगड़ने लगे। हिंदू कहते थे कि शव जलाया जायगा और मुसलमान क़ब्र में गाड़ने पर तुले थे। जब झगड़ा खूब जोरों से हो रहा था, दोनों ओर की भलाई चाहनेवाला कोई आकर कहने लगा कि कपड़ा उठाकर देखो तो सही। वैसा किए जाने पर कपड़े के नीचे केवल फूलों का ढेर मिला। अब झगड़ा शांत हुआ। आधे फूल हिंदू राजा वीरसिंह के आदेशानुसार हिंदू लोग ले जाकर जलाकर प्रसन्न हुए और आधे मुसलमानों ने क़ब्र में गाड़कर खुशी मनाई। हिंदुओं ने काशी में 'कबीरचौरा' नामक स्थान पर अंत्येष्टि-क्रिया की थी। मुसलमानों ने मगहर में दफ़न किया था। ये दोनों स्थान कबीर के अनुयायियों के लिये बहुत पवित्र और महत्वपूर्ण हैं। वर्ष में एक बार दूर दूर से यात्री इन स्थानों के दर्शनार्थ आते हैं। कबीर-पंथी कहते हैं कि कबीर का मरण अगहन की एकादशी को हुआ था।

कबीर के बहुत चेले थे जिनमें से मुख्य बारह थे—गोपाल, भोगादास, नारायणदास, चर्मणदास, जोगादास, कमलदास, जीवनदास, लक्षलि, ज्ञानी, साहबदास, नित्यानंदनदास और रैनालदास। ये सब शिष्य बड़े पढ़े लिखे और बुद्धि-संपन्न थे। प्रत्येक ने समाज के लिये एक एक ग्रंथ लिख छोड़ा है। कबीर-पंथी इन ग्रंथों का बड़े आदर से अनुशीलन करते हैं। इस समय कबीर संप्रदाय उनके बारहों शिष्यों के अनुसार बारह शाखाओं में विभक्त है—एक एक शिष्य ने एक एक मार्ग निकाला था।

कबीर संप्रदाय का सब से बड़ा सिद्धान्त ईश्वर की एकात्मवादिता है। वही केवल अखिल विश्व का निर्माणकर्त्ता, अनादि और अनंत है। उसने किसी एक धर्म-मार्ग को नहीं अपनाया है, प्र[illegible] सब धर्मों

में समान-रूपेण विद्यमान है। इस विचार से एक धर्म से दूसरे में कोई विशेष अंतर नहीं। तदनुसार कबीर ने इस बात पर बड़ा ज़ोर दिया था कि हिंदुओं और मुसलमानों का ईश्वर एक ही है। भाग्यवश वह समय ऐसा था कि हिन्दुओं और मुसलमानों का वैर-भाव कुछ दूर हो गया था—वे एक दूसरे से मैत्री-भाव रखने लगे थे। यही कारण है कि कबीर के इस सिद्धांत का लोगों ने समर्थन किया और इससे वे प्रभावान्वित हुए।

कबीर के अनुसार ईश्वर केवल सर्वधर्मगत ही नहीं है, प्रत्युत वह अखिल-विश्व-व्यापक भी है। संसार में कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, जिसमें ईश्वर का अंश न पाया जाता हो, अतः प्रकृति के किसी अंग की अवहेलना भी नितांत घृणित और अनुपयुक्त है। सब पदार्थों को आदरपूर्वक, अनुराग से देखना चाहिए। परन्तु कबीर न तो विश्व-देव-वादी ही थे और न अनेकदेववादी। वे केवल आस्तिक अर्थात् ईश्वर-वादी थे। इस प्रकार वे आधुनिक ब्राह्म-समाज (ब्राह्मो-समाज) के अग्रसर कहे जा सकते हैं। ब्राह्म-समाज के सब से बड़े नेता केशवचंद्र सेन कहते हैं—"मनुष्यात्मा पहले प्रकृति ही में ईश्वर का अन्वेषण करती है। उसका सब से पहला ईश्वर-ज्ञान प्रकृति-ज्ञान से भिन्न नहीं है। उसकी सबसे पहली पूजा प्रकृति-पूजा ही है। वह प्रत्येक पदार्थ का पूजन करती है, जो उसमें आश्चर्य और कृतज्ञता का संचार करे"। वे फिर कहते हैं—"यह प्रकृति का नैसर्गिक पूजन न तो विश्व-देववाद है और न अनेकदेववाद। यह तो केवल अपरिमित शक्ति का पूजन है; अर्थात् साधारण ईश्वरवाद तथा आस्तिकता है"। नीतिज्ञ कवि पोप का कथन है—"हम केवल प्रकृति ही के द्वारा प्राकृतिक ईश्वर का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं"। सत्यतः प्रकृति-पूजन ईश्वर-पूजन की प्रथम श्रेणी है, अथवा परोक्ष अपरोक्ष में प्रतिभासित होता है। कबीर का धार्मिक सिद्धान्त ठीक ऐसा ही मालूम होता है।

कबीर मूर्त्ति-पूजा के कट्टर विरोधी थे। वे कहते हैं कि ईश्वर परोक्ष और अद्रष्टव्य है; और इसलिये उसकी प्रतिमा बनाना मूर्खता है। मूर्त्ति में जीवन का कुछ भी अंश नहीं रहता, अतः मिष्टान्न, फल तथा अन्य खाद्य द्रव्यों का उसको भोग लगाना हास्यास्पद है। मूर्त्ति ईश्वर नहीं है; अतः उसका पूजन निरर्थक और व्यर्थ है। जब एक निराकार परब्रह्म की सत्ता निर्विवाद है, तो पत्थर और मूर्त्ति की पूजा करने से क्या लाभ? थाली-भर मिठाई का भोग लगाने से क्या मूर्त्ति उसका कुछ भी भाग खा सकती है? मूर्त्ति को खाद्य द्रव्य के स्वाद का क्या ज्ञान? अज्ञानता में मनुष्य चंदन से उसके शरीर का लेपन करता है, जिसके न कान हैं, न जीभ है, और जो न स्पर्श-शक्ति का यथोचित ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जो लोग तुलसी के पत्ते से पत्थर की पूजा करते हैं, वे स्वयं पत्थर से अच्छे नहीं हैं। वे बने हुए भक्त हैं। जिसको अखिल-विश्वात्मा परमेश्वर का कुछ भी ज्ञान नहीं है, वह चौरासी योनि में भटकता हुआ सर्वदा नरक का ही सेवन करता है। सच्चा पूजन जीवात्मा का होता है। पूजन से और वाह्य आडम्बर से कुछ भी संबंध नहीं। हिंदू-धर्मानुसार जो कर्मकाण्ड और आडम्बर हैं, वे सत्य आध्यात्मिक पूजन का लघु अंश भी नहीं हैं। ईश्वर-प्राप्ति में मुख्य वस्तु भक्ति है। ईश्वर में मनसा, वाचा, कर्मणा भक्ति रखना ही उस तक पहुँचने का द्वार है।

पक्के हिंदू और मुसलमान की तरह माला जपने में कबीर को तनिक भी विश्वास न था। रोमन कैथलिक-वाले भी माला को बहुत महत्त्व देते हैं। कबीर कहते हैं कि भक्ति का आडंबर निरर्थक है। ईश्वर-प्रार्थना करनेवाले को कबीर शिक्षा देते हैं:—

"कर का मनका छाँड़िकै, मन का मनका फेर"।

इस प्रकार कबीर का धार्मिक विचार नितांत विशुद्ध है; उसमें ऊपरी सजावट और वाह्याडंबर का लेशमात्र भी नहीं है।

मृत पूर्वजों का जल से तर्पण करना हिंदुओं में एक साधारण बात है। कबीर को इस पर भी विश्वास न था, और वे इसकी हँसी उड़ाना चाहते थे। एक दिन जब कि वे नदी में स्नान कर रहे थे, कुछ हिंदू अपने मरे हुए पुरखों का तर्पण कर रहे थे। इसे देखकर उन्होंने भी पश्चिम की ओर पानी डालना आरंभ किया। उन हिंदुओं में से एक ने यह देख कर कबीर से पूछा—"ऐ जोलाहे! यह तू क्या कर रहा है" ? कबीर ने उत्तर दिया—"मैं एक खेत को सींच रहा हूँ, जो यहाँ से कुछ दूर है"। इस पर हिंदू ने उनको मूर्ख बनाया; क्योंकि दूर के खेत को इस प्रकार सींचना असंभव था। कबीर ने भी बड़े मार्के का उत्तर दिया। उन्होंने कहा—"तुम मुझसे बढ़कर मूर्ख हो, क्योंकि तुम तो वैकुंठवासी पूर्वजों को जल पहुँचाना चाहते हो"। इस तरह कबीर ने हिंदुओं की इस प्रणाली की हँसी उड़ाई।

कबीर की शिक्षा है कि आत्म-ज्ञान प्राप्त करना आत्मा के परमानंद के लिये बहुत आवश्यक है। बिना आत्म-ज्ञान के आत्मा की गति ईश्वर तक नहीं हो सकती और बिना ऐसी गति के निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकता, जो कि आत्मा के परमानंद से भिन्न नहीं है। कबीर बड़े जोरदार शब्दों में कहते हैं—"अपने महल को जाओ, सदा शांति और आनंद से रहो। ऐ साधु! स्वयं अपना घर जानो, और यम-पाश से मुक्त हो। यदि तुमको अपना ही घर नहीं मालूम है, तो संसार त्यागने पर तुम कहाँ जाओगे" ?

सद्गुरु के सत्संग की महत्ता की कबीर ने मुक्तकंठ में प्रशंसा की है। ऐसा सत्संग बहुत लाभकारी है और मनुष्य को सर्वोच्च निर्वाण पद तक पहुँचाने में बहुत सहायता देता है। यह पीयूष-वर्षा करता है और स्वर्गीय आनंद का अनुभव कराता है। कबीर बड़ी वाक्पटुता से कहते हैं—"साधु ही मेरे परिजन हैं। पदार्थ मूर्त्तियों के सामने न रखकर साधुओं और संन्यासियों को खिलाए जायँ, तो बहुत अच्छा

हो। ये लोग पृथ्वी पर ईश्वर के प्रतिनिधि हैं और इसलिये इन लोगों की उत्तम भोजन से तृप्ति करना उस स्वर्गीय परमात्मा की तृप्ति करने के बराबर है"।

मनुष्य के विषय में कबीर के विचार बहुत उन्नत हैं। वे बड़ी दृढ़ता से कहते हैं—"सब मनुष्य समान हैं। सचमुच उनमें कुछ अंतर नहीं है। बड़े से बड़ा ब्राह्मण छोटे से छोटे चाण्डाल से जौ-भर भी छोटा नहीं है। वर्ण-विभाग समाज की कृति का फल है; ईश्वर ने ऐसा नहीं किया है"। इस सिद्धान्त के अनुसार ही कबीर ने प्रत्येक वर्ण से शिष्य बनाए थे। इस विषय में कबीर अपने गुरु रामानंद से भिन्न मत के थे, क्योंकि वे ब्राह्मणों के अतिरिक्त किसी अन्य वर्णवाले को मंत्र न देते थे। कबीर को तो, जैसा कहा जा चुका है, उन्होंने भूल से चेला बना लिया था। परंतु यहाँ भी रामानंद अपने पूर्व अनुष्ठान और मार्ग से विचलित नहीं हुए थे, क्योंकि कबीर भी तो जन्म से ब्राह्मण ही थे। कबीर ने गुरुपरंपरागत इस पद्धति का खण्डन किया। वे हास्य-पूर्ण भाव से कहते हैं—"यद्यपि माता के कंधे पर यज्ञोपवीत नहीं रहता, तथापि पुत्र अपने को 'पाण्डेय ब्राह्मण' कहता है। उसी प्रकार यद्यपि बीबी फातिमा की मुसलमानी (अमेन्द्रिय-कर्तन) नहीं हुई थी, तथापि उसके पुत्र को उस दयाशून्य क्रिया के कष्ट सहने पड़े थे। अतः ब्राह्मण और क़ाज़ी दोनों धर्मच्युत हैं"।

गुरु-शिष्य के संबंध के विषय में कबीर का कुछ और ही मत है। सार्वजनिक हिंदू मत में और उसमें बड़ा अंतर है। साधारण हिंदू अपने गुरु को ईश्वरवत् मानता है। केवल गुरु ही की सहायता से निर्वाण पद प्राप्त हो सकता है। इस संसार सागर के लिये वही नौका है। फारसी के प्रसिद्ध कवि हाफ़िज़ भी कहते हैं—"मुल्ला के आचरण पर कुछ भी आक्षेप न करते हुए सब मुसलमानों को बिना किसी आपत्ति के उनका आज्ञापालन करना चाहिए"। इसके प्रतिकूल कबीर का कथन

है कि आचार्य और शिष्य दोनों एक दूसरे के मित्र हैं। एक दूसरे को कैवल्य गति प्राप्त कराने में सहायता देता है। आध्यात्मिक ज्ञान-प्राप्ति में पारस्परिक साहाय्य के अतिरिक्त गुरु शिष्य का संबंध अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। कबीर के अनुसार ईश्वर ही महान् गुरु है; उसका पद किसी ऐहिक पुरुष को नहीं मिल सकता। केवल उसके सहायतार्थ हमारी आत्मा अधोगति से मुक्त होकर स्वर्गीय सुख का अनुभव कर सकती है। ऐसा गुरु केवल परमात्मा ही के हाथ मिल सकता है, दूसरे किसी के द्वारा नहीं। ईश्वर ही हमारा पथ-प्रदर्शक, सहायक और अंतिम ध्येय है। उसको छोड़ देने से हम अपनी आत्मा तथा सर्वस्व छोड़ बैठेंगे।

धर्म पर कबीर के अति उत्तम विचार हैं। उनकी विशुद्ध और निष्काम धार्मिकता पर रामानंद स्वामी भी मुग्ध हुए बिना नहीं रह सके। यहाँ तक कि कबीर के गुरु होकर भी वे उनके शिष्य बनना चाहते थे। वृद्ध ऋषि कहते थे—"कबीर को जोलाहा मानना मेरी अज्ञानता थी।' मैं कबीर से दीक्षा लेने में बहुत प्रसन्न हूँगा और उस ब्रह्म की उपासना करूँगा, जो सदा उनके हृदय-मंदिर में वास करता है"। इस प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में कबीर की पूर्ण विजय हुई। कबीर का नाम धर्मोपदेश तथा धर्म-प्रचार में इतना बढ़ा कि ब्राह्मण साधु रामानंद की भी ख्याति उनके सामने कुछ न रह गई। सत्यतः कबीर का स्थान आध्यात्मिक तथा धार्मिक क्षेत्र में अति उच्च है। जीसस क्राइस्ट की तरह वे भी सर्वाधिपति परमेश्वर के पुत्र माने जाते हैं और देव-तुल्य आदर से सम्मानित होते हैं।

ईसाइयों और मुसलमानों की तरह कबीर मनुष्य और ईश्वर के बीच किसी मध्यस्थ की सत्ता पर विश्वास नहीं रखते थे। प्रतिनिधि द्वारा परमेश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। ऐसी प्राप्ति चाहनेवाले को और ही उपाय करना होगा। हाँ, यह हो सकता है कि वह किसी अपने से बुद्धिमान

से तद्विषयक शिक्षा ग्रहण कर लें; परंतु निर्वाण-पद की प्राप्ति केवल व्यक्तिगत प्रयत्न से ही होगी। परमेश्वर में पूर्ण विश्वास और दृढ़तर भक्ति ही जीव को नरक की यातनाओं से बचा सकती है। इस प्रकार कबीर का धर्म सब आदर्शों, पक्षपातों और मूढ़ विश्वासों से परे होकर उस अनादि और अनंत परब्रह्म की सत्ता के विश्वास पर अवलंबित है, जो अगोचर, निर्विकार, दुर्बोध, सर्वव्यापक, विश्वसृज, विश्वंभर और विश्वनाशक है।

गुरु नानक की तरह कबीर की भी एक धार्मिक पुस्तक थी, जिसका वे बड़ा आदर करते थे। कबीर-पंथियों के लिये यह रामायण, कुरान तथा बाइबिल है, और एक अमोघ पथ-प्रदर्शक है। यह इतनी पवित्र मानी जाती है कि कबीर-पंथी को छोड़कर दूसरा इसे छू तक नहीं सकता। इसका स्थान कीबर-सम्प्रदाय में वही है, जो कि 'ग्रंथ साहब' का सिक्ख-सम्प्रदाय में है। किसी किसी पुण्य अवसर ही पर यह निकाली जाती है। 'चौक आरती' के शुभ अवसर पर एक सुंदर रेशमी कपड़े से ढककर एक वेदिका बनाई जाती है और उसी पर यह पुस्तक रक्खी जाती है। कबीर-पंथियों के लिये 'चौक आरती' एक बहुत महत्वपूर्ण त्योहार है। उनकी विवाह-व्यवस्था बहुत साधारण है। विवाह में केवल इसी पुस्तक और मालाओं के विनिमय की आवश्यकता होती है।

प्रत्येक मनुष्य, जिसका आचरण शुद्ध और जीवन आध्यात्मिक तथा पुण्यमय हो, महंत हो सकता है। यह अधिकार केवल पुरुष ही को नहीं है। ईश्वर की अटल भक्त और शुद्ध आचार-वाली कोई सत्य-भाषिणी स्त्री भी महंत हो सकती है। किसी महंत को मांस मछली खाने की आज्ञा नहीं है। परंतु यदि कोई खा ले तो उसको प्रायश्चित्त करके तप करना पड़ता है। ऐसा करने पर वह फिर महंत बनाया जा सकता है। कबीर पुनर्जीवन पर विश्वास रखते थे। उनका कथन है

कि केवल पापात्मा ही को "पुनरपि जननं, पुनरपि मरणम्" का असह्य कष्ट सहना पड़ता है; पुण्यात्मा इससे मुक्त हो जाता है।

ईश्वर की पूजा के लिये केवल पवित्र और पुण्य गान ही आवश्यक है। किसी अन्य प्रकार की प्रार्थना-विधि की कोई आवश्यकता नहीं। परंतु इधर चलकर कबीर-पंथियों में कुछ धार्मिक विकार आ गए हैं। इनमें से कुछ एकाग्रचित्त होकर ध्यानावस्थित रहने लगे हैं, और कुछ माला भी फेरने लगे हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, कबीर के बारह शिष्यों के अनुसार कबीर-पंथी बारह मार्गों में विभक्त हैं। इन बारहों पंथों के अलग अलग सिद्धांत और तत्त्व हैं, परंतु सब अद्वितीय ईश्वर की सत्ता पर विश्वास रखते हैं। इससे ज्ञात होता है कि वेदान्त का अद्वैत-वाद ही कबीर-सम्प्रदाय का मुख्याधार है। परंतु कबीर-पंथी अपने गुरु से सृष्टि-निर्माण के विषय में प्रतिकूल मत रखते हैं। कबीर कहते हैं कि केवल परमात्मा ही विश्वकर्ता हैं; परंतु उनके अनुयायी 'काल' को भी बीच में लाते हैं। उनका कथन है—"दयालु ईश्वर ने 'काल' की सृष्टि की; और उसको आज्ञाकारी तथा प्रतिभाशाली पाकर अपनी शक्तियों का उस पर न्यास कर दिया। इस प्रकार ईश्वर ने 'काल' को विश्वनाथ बना दिया। ऐसे अधिकार से आरोपित 'काल' ने विश्व की रचना की। वह सदा से उसका पालन करता है और आवश्यकता होने पर उसका नाश कर देगा। परमेश्वर केवल पुण्यात्मा को अपने अधिकार तथा शासन में रखता है"।

कबीर-पंथी वर्ण-विभाग-व्यवस्था को मानते हैं, यद्यपि उनके गुरु ने इसका निरादर किया था। वे लोग कहते हैं—"प्रत्येक वर्ण का मनुष्य हमारे पंथ में आ सकता है, परंतु उसका वर्ण भेद पूर्ववत् ही रहेगा। परन्तु विवाहोत्सव तथा अंत्येष्टि क्रिया में वह मूर्ति-पूजन नहीं कर सकता; क्योंकि ऐसा करने से वह कबीर-पंथी नहीं रह जायगा"।

– किसी अन्य धर्म-वाले के साथ विवाह करना कबीर-पंथियों में

निषिद्ध नहीं है। परंतु वर और कन्या दोनों को माला पहनना आवश्यक है और तिलक-स्थापन के बिना विवाह नहीं हो सकता। परंतु यद्यपि कबीर-पंथी किसी दूसरे धर्म-वाले की कन्या से ब्याह कर सकता है, तथापि स्वयं अपने धर्म में अन्तर्विवाह मना है।

उपसंहार में कबीर के विषय में यह कहा जा सकता है कि उनकी जीवन-व्यवस्था साधारण जनता की जीवन व्यवस्था से कहीं उच्चतर है। उसमें स्वर्गीय शक्ति तथा दैविकता का पद पद पर अनुभव होता है। कबीर एक बहुत बड़े धर्मोपदेशक थे। जो कुछ वे करते थे, सब धर्म-प्रचार ही के हेतु। उनकी जितनी रचनाएँ हैं, सब उपदेशमय हैं। साधारण जनता पर प्रभाव डालने ही के लिये वे ग्राम्य भाषा का आश्रय लेते थे। इसी भाषा में उन्होंने सारी कविता की है। अधिकतर कविता द्वारा ही वे उपदेश देते थे। कारण यह है कि संगीतमय होने के कारण कविता से लोग अधिक प्रभावान्वित होते हैं। वे काव्य-गौरव तथा काव्य-सौष्ठव के लिये कविता नहीं करते थे। उनका संपूर्ण ध्येय धर्म-प्रचार ही रहता था। इसी लिये इस लेख में कबीर की कविता के गुण दोष का कुछ भी उल्लेख नहीं हुआ है। संपूर्ण ध्यान धर्मप्रवर्तक कबीर की ओर रखा गया है, न कि कवि कबीर की ओर। सत्यतः कबीर कवि नहीं थे। वे केवल धर्मोपदेशक थे—उपदेश को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये ही वे कविता करते थे। अभी तक कबीर-पंथ की ओर लोगों की प्रवृत्ति नहीं हुई है। आशा है, भविष्य में इसके गुण दोष की आलोचना करते हुए विद्वन्मण्डली में इसका सम्यक अध्ययन होगा, और संसार के पवित्र पंथों में इसको एक उपयुक्त उच्च स्थान दिया जायगा।

---

(१८) मंत्री कर्मचंद्र

[लेखक—पं० शिवदत्त शर्मा, अजमेर]

बीकानेर नगर के खरतरगच्छीय वृहदुपाश्रय के पुस्तक भंडार में "कर्मचंद्रवंशोत्कीर्तनकं काव्यम्" नाम की एक संस्कृत की ऐतिहासिक पुस्तक मिली है, जिसे श्रद्धेय पंडित गौरीशंकर जी महाराज छपवा रहे हैं। इस पुस्तक में मुख्य रूप से कर्मचंद्र का और गौण रूप से उसके पूर्वजों का चरित्र वर्णित है। इसके रचयिता का नाम जयसोम है, जो श्रीप्रमोद-माणिक्यगणि का शिष्य था और उसने, जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों से प्रगट होता है, अपने गुरु की प्रेरणा से और कर्मचंद्र के जैन धर्म के समृद्धि-वर्धक चरित्र से प्रसन्न होने पर इस पुस्तक की रचना विक्रम संवत् १६५० में लाहौर में की थी—

नृप विक्रमतः खभूतरसशशिमिते वर्षे ॥५२६॥
लाभपुर नगरे...प्रमोदमाणिक्यगणि शिष्यैः ॥५२९॥
श्रीजयसोमैर्विहिता घोखवंश्यावली गुरोर्वचसा ॥५३०॥
भूयांसः संति भूमीशा भूयांसः संति मंत्रिणः।
श्रीजैनधर्म माहात्म्यमनेनाधिकमेधितं ॥१४॥
तेन गीर्भिमकी तस्य वर्णनाय प्रगल्भते।
कमाम्रकलिकास्वादात्कोकिला किं न कूजति ॥१५॥

इस ग्रंथ में ५३७ श्लोक हैं, परंतु अन्य ग्रंथों की भाँति यह सर्गादि में विभक्त नहीं है। रचयिता बिना कोई व्यवधान निरूपण किए "ॐ श्री गौतमायनमः" से प्रारंभ कर "इति श्री...संपूर्णम्" तक निरन्तर लिखता चला गया है। जिस बोहित्य वंश की वंशावली जयसोम ने इस ग्रंथ में संकलित की है, वह किसी रूप में उसके पूर्व भी संयोजित थी;

क्योंकि उसने निम्नलिखित श्लोक में याचक पुण्यसार से वंश-वृत्तांत अवगत करना स्वीकृत किया है—

वंशावलीवाचकपुण्यसार-
मुखाद्यथाश्रावि तथा विविच्य।
अस्माभिरप्यादरसारचित्तै-
र्लिलीख्यलेऽयं कृतिनां सुखाय ॥५३४॥

जयसोम ने इस वंश-चरित्र को यथार्थ एवं निर्व्याज वर्णन करने की प्रतिज्ञा की है और ग्रंथ के पारायण से ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत अंशों में उसने अपनी प्रतिज्ञा को निभाया है। उसने लिखा है—

यदधिकमत्राभिहितं न्यूनं वा वर्णितं मया विहितात्।
तत्र मनागपि नागो यस्मादन्योक्तमिह लिखितं ॥५३१॥
रक्तमविर्वर्णितरां यस्मादधिकं कृतादपि प्रायः।
द्विष्टः कृतमपि सकलं न वदति यदपलपनाकुलितः ॥५३२॥
पूर्वजानामदृष्टत्वाद्रागद्वेषौ न तेष्विमे।
दृष्टानां तु यथादृष्टं वर्णना विदधेमया ॥५३३॥

आशय—यदि मैंने इस ग्रंथ में यथार्थ से अधिक अथवा न्यून वर्णन कर दिया हो, तो इस विषय में मेरा रत्ती भर भी दोष नहीं है, क्योंकि मैंने तो दूसरों का कहा हुआ लिखा है। देखा गया है कि जो अनुरागी होता है, वह प्रायः किए हुए से भी अधिक वर्णन करता है; और जो द्वेषी है, वह तो सत्य को भी झूठ बनाकर कहने की रुचि करता है और यथार्थ बात को भी छिपाता है। मैंने तो इस वंश के पूर्वजों को देखा ही नहीं; अतएव न उनमें राग है न द्वेष। हाँ जिनको मैंने देखा है, उनके चरित्रों का वर्णन जैसा देखा, वैसा ही किया है।

जयसोम के विषय में इस ग्रंथ से जो कुछ ज्ञात हो सकता है, वह इतना ही है कि वह श्रीप्रमोदमाणिक्य गणि का शिष्य था। उसका दीक्षा संस्कार माणिक्य सूरि ने किया था और उसने जिनचंद्र

सूरि से अनुचान (आचार्य) पदवी प्राप्त की थी। अन्य साधनों से यह भी पाया जाता है कि उन्होंने 'विचाररत्न संग्रह' नामक एक और ग्रंथ (संवत् १६५७ में) रचा था। उनके संग्रह की 'पंचलिंगी विवरण' नाम की पुस्तक पूने के डेकन कालेज के संग्रह में है, जिसके अंत में निम्नलिखित पंक्तियाँ हैं—

"संवत् १६६३ वर्षे श्रीखरतरगच्छे श्रीमद्युगप्रधान श्रीजिनचंद्र सूरिविजयराज्ये श्रीक्षेमशाखायां वाचनाचार्यश्रीप्रमोदमाणिक्यगणि शिष्यश्रीजयसोमोपाध्यायनां प्रतिरियं वाच्यमाना चिरंनंद्यात्"।

जयसोम के एक शिष्य का नाम गुणविनय था, जिसने कई संस्कृत ग्रंथों की टीकाएँ रचीं; और कर्मचंद्र के विषय में 'कर्मचंद्र वंशावली प्रबंध' नामक गुजराती भाषा का काव्य वि० सं० १६५५ में रचा, जिसमें उसने अपने गुरु के बनाए हुए संस्कृत ग्रंथ से बहुत कुछ अंश लिया है।

ग्रंथ का सार

देवलवाटक * नाम के नगर में देवड़ा (चौहानों की एक शाखा) वंशी "सागर" नाम का एक राना हुआ जिसके मानवती मुख्य और सात अन्य रानियाँ थीं। उसने अपने उत्कर्ष से मालवा के शाह के साथ स्पर्धा की और उसके देश को ऊजड़ किया।

सागर के बोहित्थ, गंगदास और जयसिंह नाम के तीन पुत्र हुए जिनमें सब से बड़ा बोहित्थ, जिसका विवाह बहुरंगदेवी से हुआ था, इतना लब्धप्रतिष्ठ हुआ कि उसके वंशज अब तक अपने आप को "बोहित्थराज" (बोहित्थड़े) कहकर अपने को गौरवान्वित समझते हैं। बोहित्थ ११०० उद्भट वीर पुरुषों को लेकर चित्रकूट (चित्तौड़) में

* देवलवाटक को इस समय देलवाड़ा कहते हैं। यह उदयपुर राज्य में प्रसिद्ध एक-लिंगजी के मंदिर से तीन मील है।

राजसिंह (रत्नसिंह)* के पक्ष में रण करते हुए विजय और स्वर्ग को प्राप्त हुआ। उसके आठ पुत्र और एक पुत्री थी।

मोहित्य के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र श्रीकर्ण राजकाज चलाने लगा। उसने बलपूर्वक मत्स्येन्द्र दुर्ग को छीना और "राणा" की उपाधि प्राप्त की। एक बार गोरी शाह † देवलवाटक ग्राम के निकट लूट लिया गया था। यद्यपि वह उस समय कुछ न कर सका, परंतु पीछे अनुकूल अवसर प्राप्त कर उसने वहाँ अपनी सेना भेजी जिसका सामना श्रीकर्ण ने ७०० कुटुंबियों के साथ किया। इन लोगों ने सोचा—

> कस्तैर्जातैर्जातैर्भवति गुणो नाम येषु जीवत्सु।
> चिरमुपभुक्ता वसुधोपभुज्यते वैरिभिर्विभयैः ॥३३॥
> स्वामिनि परलोकगते न दोषदोऽस्याः परोपभोगोपि ॥
> सूर्येऽस्तां द्रिमुपेयुषि तमोभिराक्रम्यते प्राची ॥३४॥

आशय—इन कुटुंबियों से क्या लाभ जिनके जीते जी उनके अधीन को धरणी को शत्रु निःशंक भोगने लग जायँ? हाँ धनी के निधन होने पर धरणी का दूसरों से भोगा जाना इतना निन्दनीय नहीं। उदाहरणार्थ सूर्य के अस्त होने पर पूर्व दिशा रूपी उसकी धरणी अंधकार से आक्रांत हो जाती है।

ये लोग बहुत साहस और वीरता के साथ लड़े, परंतु विजयश्री प्राप्त न कर सके। श्रीकर्ण वीरगति को प्राप्त हुआ। उसके चारों पुत्र, जो अपनी माता के साथ पहले ही अपनी ननसाल "खेडि" ग्राम में

---

* रत्नसिंह रावल समरसिंह का पुत्र था और वि० सं० १३६० में अलाउद्दीन खिलजी के साथ की चित्तौड़ की लड़ाई में मारा गया था।

† ग्रंथकर्ता ने 'गोरी शाह' किस सुलतान को माना है, यह स्पष्ट नहीं होता। तो भी अनुमान होता है कि यह मानने का पहला सुलतान दिलावरखाँ गोरी (अमी,शाह) होना चाहिए, जिसको चित्तौड़ के महाराणा खेतसिंह ने परास्त कर उसका माल असबाब लूटा था। श्रीकर्ण महाराणा का सामंत होने के कारण उनकी सेना में रहकर सुलतान से लड़ा होगा।

गए हुए थे, खरतरगच्छ के सूरि जिनेश्वर द्वारा जैनधर्मावलम्बी बन गए। इन्होंने शत्रुंजय और रैवत पर्वत के शिखर (गिरनार) की यात्रा की और मार्ग में सुपारियों के भरे थाल बाँटे, जिससे लोग इन्हें "फोफलिया" कहने लगे।

श्रीकर्ण के पौत्र तेजपाल ने गुर्जर देश के स्वामी को घोड़े आदि भेंट कर प्रसन्न किया और उससे कुछ देश मोल ले लिया। वह ३६ राजवंशीय जातियों का न्याय करनेवाला होने के कारण अणहिलपत्तन में रहने लगा। उसने संघ के साथ शत्रुंजय और रैवत तीर्थों की यात्रा की; पाँच पाँच सेर का एक एक लड्डू सुवर्ण मुद्रा के साथ प्रत्येक जैन भाई के घर बाँटा और राजेंद्रचंद्रसूरि द्वारा जिनकुशलगुरू की सूरि-पद-स्थापना करवाई। जब वह संमेत शिखर की यात्रा करने निकला, तब म्लेच्छों ने धन के लालच से उसका मार्ग रोका; परंतु उसके सुभटों सहित रणोद्यत होने पर वे भाग गए। उसने २० जैन तीर्थों की यात्रा की, अनाथों के लिये सत्र खोले और जिनसंघपूजा में अनुरक्त हो अनशनव्रत कर शरीर त्यागा।

तेजपाल के पुत्र का नाम वील्हा था। उसने भी संघ के साथ शत्रुंजय और उज्जयंत (गिरनार) तीर्थों की यात्रा की और एक पौषधशाला खोली, जिसमें श्रद्धालुओं के लिये विविध प्रकार के कच्चे पक्के अन्न पानादि द्वारा पारण का प्रबंध किया गया था।

वील्हा के पुत्र का नाम "कडुआ" था। वह पूर्वजों की भूमि का स्मरण करके पाटन से मेवाड़ आया और राणा जी से सन्मान प्राप्त कर चित्तौड़ में निवास करने लगा। राज्य से उसका संबंध क्रमशः बढ़ता गया। यहाँ तक कि एक अवसर पर मालवे के यवन राजा के आक्रमण की सूचना मिलने पर वह राणा के द्वारा "प्रधान" बनाया गया और उसने संधि कर शत्रु की सेना लौटा दी। इस बुद्धि-वैचित्र्य से प्रसन्न हो कर राणा ने उसे सब अंगों के आभूषण प्रदान किए और सन्मान-पूर्वक

सहर्ष सचिवाधीश बनाया। यहाँ से गौरवारूढ़ हो कर वह पाटण गया और वहाँ के राजा का भी सम्मान-भाजन बन पत्तनाधिपति बना। उसने बहुत धन व्यय करके विधिपूर्वक जिन-प्रतिमा स्थापित करवाई, मनुष्यों का कर छुड़वाया, नंदि महोत्सव कर लोकहिताचार्य द्वारा जिनराजगुरु को "सूरि" पद दिलवाया और उस उत्सव को देखने के लिये आए हुए लोगों को वस्त्रादि भेंट कर प्रसन्न किया। यों विपुल धर्म-धन एकत्र कर विषय-विमुख हो कर वह स्वर्ग को सिधारा।

कडुआ के पश्चात् क्रमशः मेरा, मांडण, ऊदा, नागदेव और जेसल के नाम वंशावली में आते हैं। ये सब जैन धर्म की सेवा करनेवाले हुए। मेरा मंत्रीश रहा; परंतु मांडण पूर्वजों की भूमि का स्मरण कर गुजरात को त्याग सपरिवार वीरमपुर में आकर रहने लगा।

वत्सराज जेसल का ज्येष्ठ पुत्र था। वह अपने बांधवों के साथ सुभटपुर (जोधपुर) में राजा रिणमल्ल के साथ रहता था। रिणमल्ल कपट-प्रबंध से चित्तौड़ में राणा कुंभा द्वारा मारा गया। इस दुर्घटना से संत्रस्त होकर उसका पुत्र जोधा अपने अवरोध (परिवार) तथा सेना को साथ लेकर जांगल देश में चला गया। जोधा बहुत साहसी था। वह शत्रु के छिद्र को सावधानी से देखता रहा और अवसर पाकर मेदपाट (मेवाड़) पर विजय पा नारक के राजा को मार पुनरपि जोधपुर में सपरिवार आ विराजा।

जोधा के दो रानियाँ थीं, एक नवरंगदे और दूसरी जसमादेवी। पहली रानी का ज्येष्ठ पुत्र विक्रम (बीका) राज्य का उत्तराधिकारी था। परंतु दूसरी रानी की माया से मोहित होकर राजा ने कुमार विक्रम से कहा—

पित्र्यं राज्यं सुतो भुंक्ते किं चित्रं तत्र नंदन।
नवं राज्यं य आदत्ते स धत्ते सुतधुर्यताम्॥ ११४॥

तेन देशोऽस्ति दुःसाधो जंगलो जगतीतले ।
त्वं साहसीति कृत्येऽस्मिन्नियुक्तोऽसिमयाधुना ॥ ११५ ॥

आशय—हे पुत्र ! पिता के राज्य को पुत्र भोगे, इसमें क्या बड़ाई है ? हाँ जो संतान नए राज्य को अपने अधीन करे, वह सम्मान की भाजन है । यही विचार कर और यह देखकर कि तुम साहसी तो हो ही, मैंने यह निश्चय किया है कि तुम जाओ दूसरे जांगल देश को, जो इस समय पृथ्वी पर दुर्जय गिना जाता है, और अपने पौरुष से विजय करो ।

राजकुमार ने भी यह सोचकर कि—

राज्यश्रीः पितृभुक्ता जननी पुत्रस्य तातसंजनिता ।
सा भगनीति विदित्वा पितुराज्ञांगीकृतानेन ॥ ११६ ॥

आशय—पिता की भोगी हुई राज्यलक्ष्मी पुत्र के लिये माता के समान है और पिता से उत्पन्न की हुई राज्यलक्ष्मी बहन के समान है, अपने पिता की आज्ञा सहर्ष स्वीकृत की ।

तदनंतर राजा ने मंत्री वत्सराज को, जिसने पहले जांगल देश में उसकी बहुत सेवा की थी, सत्कारपूर्वक अपने कुमार के साथ कर दिया । विक्रमी विक्रम ने "काहुनी" स्थान पर शनैः शनैः अधिकार कर लिया और क्रमशः उत्तरोत्तर राज्य बढ़ाता गया । उसने "कोडिम-देसर" नाम का एक नगर बसाया और राज्य-शासन का ऐसा सुप्रबंध किया कि अल्प काल में वह स्थान विद्या और व्यापार का केंद्र बन गया । वत्सराज इस नए राज्य का मंत्री नियुक्त हुआ और चूँकि यह नूतन विजय एवं राज्य-समृद्धि प्रायः उसी की बुद्धि, कौशल और पराक्रम का परिणाम थी, अतएव वह "परभूमि पंचानन" उपाधि से समलंकृत किया गया । वत्सराज की वीरता और कीर्ति देश-देशांतरों में फैल चुकी थी, जिसका एक प्रमाण यह है कि उसको मुलतान के राजा ने अच्छे अच्छे घोड़े और पंचाङ्ग उपहार कई बार भेंट किए

और एक धार छत्र भी भेंट किया, जिसे मंत्री ने अपने राजा को समर्पित कर दिया।

वत्सराज का ज्येष्ठ पुत्र कर्मसिंह था। उसने विक्रम (बीका) के बालक पुत्र लूणकर्ण का राज्यतिलक (जोधपुर के) राजा से करवाया और विक्रम संवत् १५४१ में विक्रम के नाम से अच्छे दुर्ग से युक्त विक्रमपुर, जिसे आजकल बीकानेर कहते हैं, बसाया। उसने वहाँ नमिनाथ का एक चैत्य (मंदिर) बनवाया जिसकी स्थापना वि० सं० १५५६ में हुई और जो १५७० में बनकर संपूर्ण हुआ। उसने श्रीशांतिसागर सूरि द्वारा जैन हंस को "सूरि" पद दिलवाया और रैवताचल, अर्बुद, द्वारका आदि तीर्थों में लंभनिका के साथ यात्रा की। इन तीनों कामों में से प्रत्येक में उसका एक एक लाख रुपया व्यय हुआ। उसने संवत् १५४२ में सत्रशाला (अन्नसत्र) खोली और चौदह वर्ष तक कल्प का स्वाध्याय किया। उसने यत्नपूर्वक लूणकर्ण का विवाह चित्तौड़ की राजकुमारी से कराया। फिर किसी समय वह मंत्री नंदिगोकुल में लूणकर्ण के साथ शत्रुओं का नाश करने को गया और वहीं संग्राम में वीरगति को प्राप्त हुआ।

कर्मसिंह का छोटा भाई वरसिंह लूणकर्ण के ज्येष्ठ पुत्र जैतसिंह का मंत्री बना। इसने चंपापुर में मदफ्फर (मुजफ्फर) शाह से शत्रुंजयादि पर्वत की यात्रा करने के लिये छः महीने तक का फर्मान प्राप्त किया और विमल अर्बुद और रैवत तीर्थों की संघ के साथ यात्रा की और तीर्थमार्गों को कर से मुक्त कराया। इसने अकाल के समय दीन अनाथों के लिये अन्नसत्र खोला। यह राजा जैतसिंह (जैतसी, बीकानेर का राजा) का बड़ा विश्वासपात्र बना और दुर्गों की कुंजी तथा प्रजा का न्याय इसके अधीन रहा। [इसकी मृत्यु जैतसिंह के जीवन-काल में ही हो गई प्रतीत होती है; क्योंकि इसके पुत्र नगराज को भी इसी राजा का मंत्री कहा है।]

एक बार जैतसिंह ने जोधपुर के राजा मालदेव के जांगल देश पर आक्रमण करने के समाचार सुने और उसका विरोध करने में अपने आपको असमर्थ जान पारस्परिक परामर्श से अपने मंत्री नगराज को शेर शाह से सहायता लेने के लिये भेजा। वह राजकुमार कल्याण तथा राजपरिवार को सारस्वत (सिरसा) नगर में छोड़ अपना इच्छित कार्य सिद्ध करने को चला। परंतु उसके लौटने के पहले ही मालदेव का आक्रमण हो गया और जैतसिंह मारा गया। पीछे से मंत्री सहायता लेकर लौटा और जैसे तैसे मालदेव से जांगल देश को छुड़ा लेने में समर्थ हुआ। नगराज ने राजकुमार कल्याणमल्ल को राज्याभिषिक्त कर विक्रमपुर भेजा और आप शेर शाह के साथ गया। कुछ समय बाद वहाँ से घर को लौटते हुए मार्ग में अजमेर नगर में ही वह मृत्यु को प्राप्त हुआ।

नगराज के तीन पुत्रों में से संग्राम को, जो सब से छोटा परंतु बहुत निपुण-मति था, शेर शाह ने अपना मंत्री बनाया। राजा कल्याणमल्ल भी गुण-ग्राहक था। उसके घराने से इसका पीढ़ियों का संबंध चला आ रहा था; अतएव उसने उसे अपने यहाँ बुलवाया। वह श्रीमाल राजा से वार्तालाप कर मध्य देश को उलाँघ बहुत प्रतिभा से बीकानेर आया। वह अपनी माता का बहुत भक्त था और उसकी पुण्य-वृद्धि के लिये उसने २४ बार बीकानेर में चाँदी के रुपयों से लंभनिका (लायण) की और एक पौषधशाला बनवाई। अपने राजा कल्याणमल्ल के विवाहोत्सव पर, जो चित्तौड़ में हुआ, उसके (अर्थात्पणात्) अपनी तरफ से दान सत्कार कर अन्य राजाओं से बढ़कर यज्ञ यात्रा की शोभा बढ़ाई। तीर्थ-यात्रा करते हुए एक बार जब वह चित्तौड़ आया, तब राणा उदयसिंह ने उसका विशेष मान किया और आग्रहपूर्वक ग्राम, हाथी, घोड़े आदि देने चाहे। परंतु उसने अपने स्वामी की इस विषय में पूर्व से अनुमति नहीं ली थी, जिससे उन्हें स्वीकृत नहीं किया। वह

विद्या-प्रेमी भी असामान्य था। उसने ज्ञान दान के लिये न्याय-शास्त्र-निष्णात विद्वानों से अनेक विद्याभिलाषी साधुओं को यथेच्छ धन देकर पढ़वाया और जिनचंद्रसूरि का क्रियोद्धार उत्सव किया। उसने अर्बुद, उज्जयंत और विमलाचल की यात्रा की, शत्रुंजय तीर्थ का कर छुड़वाया और अनेक स्थानों में विपुल दान दिए। दुर्भिक्ष में एक दान-शाला खोली। हाजीखाँ और हसनकुलीखाँ से संधि कर अपने राज्य में जैन मंदिर और सधर्मियों की रक्षा की।

संग्राम का ज्येष्ठ पुत्र कर्मचंद्र हुआ जो इस ग्रंथ का नायक है। जयसोम ने इसकी जन्म-तिथि लिखने की कृपा नहीं की, न उसके शैशव काल की कोई घटना वर्णन की है। उसके अभिनव काल का जो कुछ अभिधान है, वह यह है—"कर्मचंद्रः क्रमान्मंत्र कलासुकुशलोऽभवत्"। वह क्रम क्रम से मंत्र-कलाओं में कुशल हुआ। इससे इतना मानना तो समुचित ही है कि उसने उस दंडनीति (राजनीति विद्या) का, जो मंत्री के लिये अनिवार्य रूप से आवश्यक है, न केवल अध्ययन ही किया था अपितु प्रयोग में लाने की प्रवीणता भी प्राप्त कर ली थी। उसके पिता का जो वर्णन ऊपर दिया जा चुका है, इस बात का साक्षी है कि वह विद्या-प्रचार का कितना हठानुरागी था। ऐसी अवस्था में वह अपनी संतान को विद्वान् बनाने में कदापि किसी प्रयत्न की उपेक्षा नहीं कर सकता था। आगे चलकर जयसोम के निम्नलिखित दो श्लोक मिलते हैं जिनका आशय है कि कर्मचंद्र ने शास्त्रवेत्ता आचार्यों से सूत्र आदि ग्यारहों अंग शीघ्र सुने और श्रीसिद्धांत के लिखवाने में बहुत धन व्यय किया। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उपचित और कार्य-समाकुल अवस्था में भी उसका विद्याप्रेम अन्यून रहा।

अंगान्येकादशापि द्राक् श्रुतानि श्रुतधारिणां।
गुरूणां सन्निधावर्थं सूत्रादि क्रमतोऽमुना॥ २१५॥

श्रुतज्ञानस्य भक्त्यर्थं श्रीसिद्धांतस्य लेखने ।
घनं घनं पुनर्येन पुरा व्यापारितं विदा ॥ २१६ ॥

कर्मचंद्र के प्रशस्त लक्षण और मतिवैभव को देखकर राजा कल्याण-मल्ल ने उसको अपना अमात्य बनाया और वह उसका तथा उसके लोकप्रिय उत्साह-संपन्न युवराज रामसिंह का बहुत कृपापात्र बना। कल्याणमल्ल को यह विदित ही था कि किस कपट-प्रबंध द्वारा उसका प्रपितामह विक्रमी विक्रम जोधपुर से बहिष्कृत कर दिया गया था और किस प्रकार मालदेव ने अकारण आक्रमण कर उसके पिता से जांगल देश छीन लिया था। इसका उसके हृदय में दारुण दुःख था; अतः उसने कर्मचंद्र से कहा—

यद्येकामपि घटिकां गवाक्षमारुह्य सुभटपुरदुर्गे ।
तिष्ठामि रणेश्वर तदा करिष्ये कमल पूजां (?) ॥२७१॥

आशय—हो रणेश्वर! यदि एक घड़ी भी मैं जोधपुर के किले के झरोखे में बैठूँ, तो कमल पूजा करूँ। अर्थात् अपने पितरों को तृप्त करूँ। (कमल—जल, तर्पण)

इसलिये तुमको कुमार रामसिंह के साथ अकबर के यहाँ जाकर ऐसा उद्यम करना चाहिए, जिससे मेरे पूर्वजों की इच्छा पूर्ण हो जाय। स्वामी छंदानुवर्ती मंत्री ने नाना प्रकार से अकबर को संतुष्ट किया और उसके द्वारा जोधपुर की अधीशता प्राप्त कर राजा कल्याण-मल्ल को वहाँ के किले के झरोखे में बैठाकर उसकी इच्छा पूर्ण की। फलतः राजा ने कार्यक्षमी मंत्री को बुलाकर कहा कि तुम्हारे प्रयत्न से मैं तो सिद्ध-मनोरथ हुआ। अब तुमको जो वांछित हो सो कहो। मंत्री ने कहा कि नाथ! आपके प्रसाद से मैं तो तृप्त-काम हूँ। परंतु पुण्य-सेवार्थ यह चाहता हूँ कि वर्षा के चार मास में तेली, कुम्हार और हलवाई आपके देश में अपना धन्धा स्थगित रखा करें, नगर में वणियों से "माल" नामक राज कर न लिया जाय और भोज आदि के व्यापार में

भी चतुर्थांश राजभाग न लिया जाय। राजा ने ये बातें स्वीकृत कीं परंतु इनमें मंत्री का आत्मीय स्वार्थ न देख उसने सहर्ष उसे चार गाँव भेंट किए।

तदनंतर एक समय नागपुर (नागौर) के पास उसने इब्राहीम को, जो अकबर से बागी हो गया था, पराजित किया और रामसिंह की आज्ञा से अकबर के साथ गुजरात जाकर मिरजा मुहम्मद हुसेन को जीता। इसने संधि विग्रहादि नीति से सोमत, समियाना आदि देश वश में कर लिए और जावालपुर (जालोर) में जा वहाँ के राजा को अपने स्वामी के अधीन कर अर्बुद ले लिया।

विक्रम संवत् १६३५ में दुर्भिक्ष होने पर उसने १३ मास तक सत्र (अन्नक्षेत्र) जारी रखा। रोगियों के लिये भोजन और औषध का प्रबंध किया और अतिसार से ग्रस्त रोगियों को भात और दही के साथ सत्तू दिलवाया। इसका दान और दीन-वत्सलता इतनी विस्तृत थी की ऐसा कोई जाति, कोई कुटुम्ब या कोई गोत्र नहीं था जो इसके उपकार का ऋणी न हो। इसके औदार्य की सीमा यहीं तक ही समाप्त नहीं हुई। इसने एक और भी सुकृत किया; और वह यह कि सधर्मी वणिक् समुदाय को कुटुम्ब की संख्या के अनुसार वर्ष वर्ष भर का व्यय पेशगी दिया और १३ मास के पश्चात् परदेशियों को मार्ग व्यय देकर उनके घर पहुँचा दिया।

पहले ऊकेश (ओसवाल) वंश में सारंग के वंश की स्त्रियाँ ही पैरों में सोने के आभरण पहना करती थीं, परंतु अकबर ने नूपुर भेंट करके इसके महत्त्व को भी बढाया। इसने शत्रुंजय, मथुरा (मथुरा) आदि तीर्थों में जीर्णोद्धार कराया, शत्रुंजय और उज्जयंत पर्वतों पर जैन मंदिर बनवाने को बहुत सा धन भेजा और प्रत्येक देश में काबुल तक लमनिका बाँटी। इसने रामसिंह के राज्य में शिल्पकारों को चार पर्व में काम न करने की प्रणाली का पालन कराया, मरुभूमि में वृक्षों का

फाटना बंद करवाया, पुजारियों से सब चैलों में प्रति दिन स्नान का प्रबन्ध कराया, फलवद्धीपुरी (फलौदी) में जिनदत्त सूरि और कुशल सूरि के रूप बनवाए और सतलज, मेक, रावी और सिंधु नदियों में मछलियों का पकड़ना बंद करवाया। इसने राजा रामसिंह से निवेदन कर हडफा स्थान के बलोचों पर आक्रमण कर उन्हें परास्त किया; परंतु उनके बंदियों को अन्न वस्त्र दे अपने घर पहुँचा दिया।

कर्मचंद्र की दो स्त्रियों से दो पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके नाम स्वयं अकबर ने भाग्यचंद्र और लक्ष्मीचंद्र रक्खे।

कर्मचंद्र ने राजा रामसिंह के अनेक दुःसाध्य कार्य किए, उसके राज्य और मान की वृद्धि की और अनेक बार उसकी प्रसन्नता के परिचय भी लिए; परंतु आगे चलकर हम उसके संबंध में यह पढ़ते हैं—

दैवयोगान्निजेशस्य वैमनस्यमथान्मदा।
ज्ञात्वा मंत्री निजे चित्ते कलिकालविजृंभितं ॥२३५॥
आज्ञां राज्ञः समासाद्य समादाय निजं जनं।
मेदिनीतटमध्यास्त स्वामिधर्मधनाधिकः ॥२३६॥

आशय—किसी समय दैवयोग से अपने स्वामी के वैमनस्य को कलिकाल का प्रभाव समझ राजा को लेकर वह अपने कुटुम्ब के साथ मेड़ते में निवास करने लगा।

कर्मचंद्र की कीर्ति दूर दूर तक फैल चुकी थी। अतः उस को कई राजाओं के यहाँ से बुलावे आए, परंतु वह कहीं नहीं गया। अंत को अकबर के यहाँ से भी रामसिंह द्वारा बुलावा आया जिस को उसे स्वीकृत करना पड़ा। वह अजमेर होता हुआ लाहौर गया और अकबर से मिला, जिसने उसे एक घोड़ा और हाथी भेज दिया और अपना कोषाध्यक्ष बनाया और तासाम (पंजाब में) जिले का शासक बनाया।

एक बार सलीम के मूल नक्षत्र में एक कन्या उत्पन्न हुई। तब कर्मचंद्र ने अकबर के कहने पर विशेष विधि से सोने चाँदी के घड़ों से शांतिक स्नान करवाया।

अकबर को धर्म-चर्चा से बहुत अनुराग था। यह पता लगते ही कि जिनचंद्र जैन दर्शन के उच्च कोटि के विद्वान् हैं, उसने उन्हें कर्मचंद्र द्वारा गुजरात से बुलवाया। शाह का पत्र उन्हें स्तंभतीर्थ (खंभात) में मिला। वहाँ से वे राजधानीपुर (राधनपुर) को गए और गुजरात तथा शिवपुरी (सिरोही) होते हुए जावालपुर (जालौर) में आए। वहाँ पर उन्हें शाह का दूसरा पत्र मिला, जिसमें यह नम्र निवेदन था कि वे देह को कष्ट न दें, प्रसन्नतापूर्वक शनैः शनैः पधारें। वे बरसात के मौसिम में वहाँ ही रहे और मार्गशीर्ष में वहाँ से प्रस्थान कर पाली, मेड़ता, नागौर, बीकानेर, रिणी, सिरसा आदि शहरों में होते हुए लाहौर पधारे। शाह बहुत सन्मानपूर्वक उनसे मिला और सविनय निवेदन किया कि यदि आप हमारी धर्मगोष्ठी में रहने की कृपा करें, तो बहुत अच्छा हो। आपको यहाँ आते समय जो कष्ट हुआ है, उसको मैं जैन धर्म की वृद्धि करके हटाऊँगा और मेरी धर्म वृद्धि के लिये आप प्रति दिन एक बार दर्शन देने की कृपा करते रहें। शाह के आग्रह से पूज्य जिनचंद्र ने वहाँ एक वर्ष निवास किया। और उनके प्रभाव से उसने आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष में नवमी से लेकर सात दिन तक अहिंसा की आज्ञा दी। ग्यारहों सूबों में इसकी घोषणा करने के लिये फरमान लिखवाकर दिए। इस उदाहरण से अन्य देशाधीशों ने भी १५, २०, २५ दिन अथवा किसी ने महीने या दो महीने भर तक अहिंसा व्रत का प्रचार करा दिया। तदनंतर अकबर ने कश्मीर पर आक्रमण किया और कर्मचंद्र को अपने जनानों की रक्षा के लिये रोहितासपुर में छोड़ा। उस समय जैन मानसिंह बिना जूता पहने पर्वतों में शाह के साथ गया।

जिनविजय सूरि और अकबर।
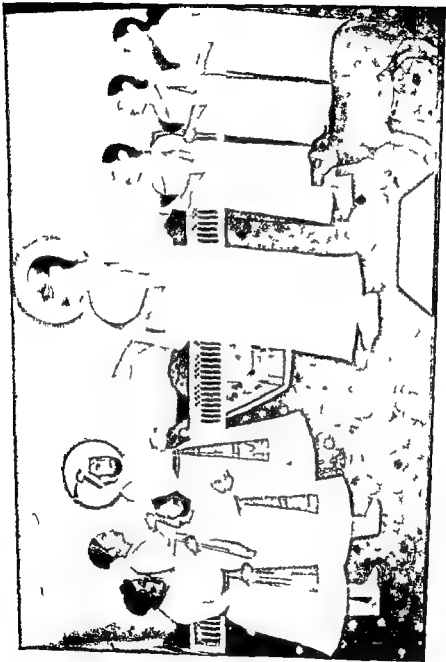
इस धर्म-दृढ़ता से प्रसन्न हो शाह ने मछलियों को अभय दान दिया और लाहौर आकर जिनचंद्र को "युग-प्रधान" की उपाधि दी और मानसिंह का जिनसिंह सूरि नामकरण कर आचार्य पदवी दी और उसके उपलक्ष में स्तम्भतीर्थ के मगरों और मछलियों की एक वर्ष के लिये हिंसा बंद करवाई और लाहौर में भी प्रति वर्ष एक दिन जीव-रक्षा का विधान किया।

कर्मचंद्र ने वहाँ से राजसिंह के यहाँ आकर एक बड़ा भारी नंदि-महोत्सव किया जिसमें दूर दूर के श्रावक और श्राविकाएँ सम्मिलित हुईं और फाल्गुन मास के शुक्ल पक्ष की जया (शुभ) तिथि द्वितीया को मध्याह्न के समय शुभ मुहूर्त में बड़े समारोह के साथ श्री जिनचंद्र सूरि के कर कमल से मानसिंह को आचार्य पदवी दिलाई; और जैसा कि अकबर ने पहले निर्देश किया था, उसका जिनसिंह सूरि नाम रखा। उस अवसर पर जिनचंद्र ने गणि जयसोम और रत्ननिधान पाठक को अनुपात और गुणविनय गणि को वाचनाचार्य की पदवी दी। कर्मचंद्र ने इस सुअवसर पर बहुत भारी दान दिए।

उपसंहार

जैसा कि पहले लिख आए हैं, यह ग्रन्थ कर्मचन्द्र के जीवनकाल ही में बन चुका था; अतः यह उनकी संपूर्ण जीवनी का विधायक तो नहीं है, परंतु जितना है, वह सामान्यतया जीवन के कर्मोद्युत काल का अवश्य परिघात कर लेता है। यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित एवं अज्ञात है। परन्तु केवल इसी बात ने हमको यह लेख लिखने के लिये प्रेरित नहीं किया है। हमारे पाठक हमसे सहमत होंगे कि कर्मचंद्र की जीवनी उन महत्वपूर्ण पुरुषों की जीवनियों में से है, जिन्होंने राज्य-सन्मान प्राप्त कर अपने धर्म के गौरव का विस्तार करने और अपने भाइयों को यथा संभव सुख पहुँचाने का यत्न करने में प्रसन्नता समझी।

इस वंश की वंशावली से, जो हमने इस ग्रंथ के आधार पर बनाई है, प्रतीत होगा कि सागर से भाग्यचंद्र तक १८ पुरुषों का इसमें समावेश है जिसका समय-विस्तार करीब ४०० वर्ष होता है। जयसोम मुख्य संतान की स्त्री का नाम भी लिख गया है। परंतु सिवाय इसके कि वह सुंदरी थी, जैनधर्म में अधिक रुचि रखती थी, अन्य कुछ भी उसके विषय में वर्णन नहीं किया है। न जाने कर्मचंद्र की स्त्री का नाम लिखना वह क्योंकर भूल गया।

अब अन्य ग्रंथादि से कर्मचंद्र की शेष जीवनी का जो पता लगता है, वह इस प्रकार है—

जनश्रुति में प्रसिद्ध है कि कर्मचंद्र की मित्रता अकबर से उत्तरोत्तर बढ़ती गई। यहाँ तक कि ऐसे ऐसे अवसर आए जब वे दोनों बैठे बैठे देर तक शतरंज खेलने में लगे रहे और राजा रामसिंह को प्रतीक्षा करते हुए समीप खड़ा रहना पड़ा। राजा को अपने सेवक का इतना गौरवारूढ़ हो जाना बुरा लगने लगा और यों पारस्परिक मनोमालिन्य के अंकुरों की वृद्धि देख दूरदर्शी कर्मचंद्र ने अपने परिवार को बीकानेर से दिल्ली बुलवा लिया और वहीं रहने लगा।

जब शाहजादा सलीम नूरुद्दीन जहाँगीर की उपाधि धारण कर सिंहासनासीन हुआ, उस अवसर पर राजा रामसिंह दिल्ली गया और वहाँ पर अपने पुराने दीवान कर्मचंद्र की अस्वस्थता के समाचार सुने। वह स्वयं कर्मचंद्र के पास आया और उसे मृत्युशय्या पर पड़ा देख बहुत सहानुभूति प्रदर्शित करने लगा। यहाँ तक कि उसके नेत्रों से नीर बहने लगा। जब राजा चला गया, तब कर्मचंद्र के पुत्रों ने अपने पिता से राजा के प्रेम की बहुत प्रशंसा की। परंतु पिता ने कहा—बेटा, तुम भूल कर रहे हो। ये आँसू प्रेम के नहीं थे। वे तो इस बात के थे कि मैं सुख और सुयश से स्वर्ग सिधार रहा हूँ और वह राजा जीते जी मुझसे बदला नहीं ले सका। तुम कभी भूलकर

भी उसके कपट-प्रबंध में मत फँसना। तदनंतर कर्मचंद्र की जीवन-ज्योति तो निर्वाण को प्राप्त हुई; परंतु प्रतिकार-परायण राजा के हृदय की ज्वाला फिर भी ज्यों की त्यों प्रज्वलित रही। राजा रामसिंह के चार पुत्र थे, जिनमें ज्येष्ठ पुत्र दलपतिसिंह था। परंतु उनका अतीव प्रेम-भाजन दूसरा पुत्र सूरसिंह था। जब राजा के देहावसान का अवसर आन उपस्थित हुआ, तब सूरसिंह ने अपने पिता की अंतिम इच्छा जाननी चाही। इसका उत्तर राजा ने यही दिया कि राज्य के विद्रोही मात्र का सर्वनाश करना तुम्हारा कर्त्तव्य है। इसी से मेरी आत्मा संतुष्ट होगी।

यद्यपि ज्येष्ठ होने के कारण दलपतिसिंह ही राज्य का उत्तराधिकारी था, परंतु अपने अनुज पर पिता का असीम स्नेह देख उसे अपने स्वत्व के सुरक्षित रहने में संदेह था। अतः वह कर्मचंद्र से अपना मेल-जोल बनाए रखता था और उसकी सहायता से राज्य पर प्रभाव डालने की चेष्टा करता रहता था। निदान रामसिंह के पश्चात् दलपति-सिंह ही राज्याभिषिक्त हुआ और बीकानेर में महोत्सव मना वह दिल्ली में जहाँगीर से मिलने गया। परंतु वहाँ थोड़े ही दिन ठहरकर शाह से लौटने की अनुमति लिए बिना ही वापस लौट आया। इस छोटी सी बात को आधार बना उसके विपक्षियों ने जहाँगीर की अ-प्रसन्नता उत्पन्न करा दी। इधर वापस लौट उसने अपने भाई सूरसिंह की जागीर पर भी अनुचित अधिकार कर लिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि दिल्ली से सूरसिंह को सहायता मिली और दोनों भाइयों में युद्ध उपस्थित हुआ, जिसमें बड़ा भाई बंदी हो गया और छोटा भाई विजय प्राप्त कर राज्यारूढ़ हुआ।

तदनंतर सूरसिंह स्वयं दिल्ली गया और कर्मचंद्र की हवेली पर जा उनके पुत्रों को अत्यंत विश्वास दिला बीकानेर ले आया और मंत्री पद पर नियुक्त किया। चार महीने तक तो सब काम प्रसन्नतापूर्वक

चलता रहा; परंतु पीछे एक दिन राजकीय सिपाहियों ने सहसा इनकी हवेली घेर ली। उस घड़ी उन्हें अपने पिता की चेतावनी याद आई। परंतु अब क्या हो सकता था? उन्होंने भी अपने आश्रित ५०० वीरों के साथ सपराक्रम सामना किया, परंतु राज्य की बड़ी शक्ति के सामने सफलतापूर्वक स्थिर नहीं रह सके। उनका एक एक आदमी मार डाला गया। बच्छावत वंश बीकानेर में निःशेष हो गया। केवल एक गर्भवती स्त्री, जो अपने पीहर में थी, इस वंश को संतान-तंतु को स्थिर रख सकी। उस अंकुर से जो संतान वृद्धि हुई, वह उदयपुर में आबाद है। उदयपुर में रहते समय भी कर्मचंद्र का वंश प्रसिद्ध ही हुआ। महता अगर जी ने महाराणा भीमसिंह जी की बड़ी सेवा की और मांडलगढ़ के किले तथा ज़िले को झाला जालिमसिंह के हाथ में जाने से बचाकर बड़ी नामवरी पाई। उसी वंश में महता पन्नालाल जी हुए जो महाराणा शंभुसिंह जी, सज्जनसिंह जी एवं वर्तमान महाराणा फतहसिंह जी के मुख्य मंत्री रहे और राजा एवं प्रजा के प्रीति-पात्र बने। उनकी कार्यदक्षता, सौजन्य आदि गुणों से प्रसन्न होकर अंगरेजी सरकार ने उनको राय बहादुर तथा सी० आई० ई० की उपाधियों से भूषित किया। अब भी उनके पौत्र तथा अन्य कुटुम्बी उक्त राज्य के ज़िलों के हाकिम आदि उच्च पदों पर नियुक्त हैं।

राणा सांगा।

(१९) महाराणा साँगा या संग्रामसिंह जी

[लेखक—श्रीयुत बाबू रामनारायण दूगड़, उदयपुर]

यदि हम भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की ओर दृष्टि दें, तो प्रत्यक्ष होता है कि मौर्य्य-वंशी महाराजाधिराज अशोक भारत का अंतिम चक्रवर्ती राजा हुआ था, जिसने अपने दादा चंद्रगुप्त मौर्य्य की प्राप्त की हुई राजलक्ष्मी में यहाँ तक वृद्धि की कि उत्तर में हिमालय पर्वतराज से लेकर दक्षिण में सिंहलद्वीप तक और पूर्व-पश्चिम महासागर के मध्य के बहुधा सारे प्रायःद्वीप को अपनी छत्र-छाया तले ले लिया। इतना ही नहीं, किंतु मिस्र, यूनान, बलख, बुखारा आदि के बड़े बड़े महाराज उसकी मैत्री के इच्छुक रहते और अपने एलची उसके दरबार में रखते थे। यद्यपि उस समय भी भारत में भिन्न भिन्न जातियों और व्यक्तियों के अनेक छोटे बड़े राज्य थे, परंतु ये सब किसी न किसी रूप में मौर्य्यवंशी महाराज की महत्ता को शिरोधार्य रखते थे, और उसके प्रखर प्रताप-रूपी मार्तंड के तप-तेज के आश्रय ही में अपनी सत्ता का भोग करते थे। एशियाई एक-राज-सत्ता पद्धति के लिये अशोक के विशाल महाराज्य का बृहत् कलेवर चिर काल तक स्थिर न रह सका। महाराज के मरते ही उसकी संतान में राज-प्रलोभना से परस्पर वैर तथा वैमनस्य फैल जाने के कारण उसकी सन्धियाँ ढीली होकर शीघ्र ही उसका अस्तित्व मिट गया। यद्यपि उस समय के पूर्व भी अन्य देशियों के आक्रमण अभागे भारत पर होने लग गए थे, परंतु प्रतापी मौर्य्य वंश ने विदेशी राजा महाराजाओं की कमर तोड़कर उनको यहाँ से उच्छिन्न-प्राय कर दिया और भारत के गुण-गौरव की यहाँ तक वृद्धि हुई कि पीछे भी कई शताब्दियों तक जो विदेशी जातियाँ यहाँ आईं, उन्होंने इस देश की रीति-भाँति, धर्म-कर्म

और ज्ञान-विज्ञान का अनुकरण कर भारत की सभ्यता के आगे सिर झुकाया।

मौर्य्यों का बल टूटने पर यह देश फिर कई स्वतंत्र विभागों में विभक्त हो गया, जिनमें परस्पर के लड़ाई-झगड़े निरन्तर चला करते थे। इससे शक कुशानादि जातियों ने आकर अपना अधिकार सुगमता के साथ जमा लिया। फिर यद्यपि गुप्त-वंशी महाराजाओं ने थोड़े समय तक अपना साम्राज्य स्थापन किया, परंतु तातारी हूणों ने आकर उनका राजतंत्र तोड़ डाला। इसके उपरान्त सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बैस-वंशी राजा हर्षवर्धन ने उत्तर हिन्दुस्तान में साम्राज्य का स्थापन किया। परंतु दक्षिण देश के राजा पुलकेशी से उसे हार खानी पड़ी; और यह उसी हानिकारक राज-व्यवस्था का प्रभाव था कि श्रीहर्ष का शरीरांत होते ही उसका महाराज्य भी छिन्न भिन्न हो गया। तत्पश्चात् पंजाब, सिन्धु, मालवा, गुजरात, मध्य हिन्दुस्तान आदि के जुदा जुदा स्वतंत्र राजा महाराज इस मानवगण रूपी महासागर में दीर्घकाय मच्छों की भाँति परस्पर मल्ल-युद्ध कर उसके जल को गँदला करते और छोटे राज्यों के भक्षण करने वा सताने ही में अपना अभिमान व अहंकार प्रकट करते रहे। सारांश यह कि ऐसे स्वेच्छाचारी राज्यों में सामन्तगण भी समय पाकर अपने स्वामियों के गले घोंट स्वयं उनके राज्य के अधिपति बन बैठते थे। निरंकुश राजसत्ता के लोभ से ऐसी आसुरी लीलाओं के अनेकानेक उदाहरण इतिहास में मौजूद हैं कि पिता ने पुत्रों की, पुत्रों ने पिता की, भाई ने भाई की, विशेष कहाँ तक कहें, अपनी माता व भगिनियों और दुधमुँहे नन्हे निरपराध बालकों और वृद्धों की हत्या करने में तनिक भी संकोच नहीं किया।

सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अरबिस्तान में एक व्यक्ति का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने अपने को ईश्वरी दूत बतलाकर अपने उपदेशों द्वारा कई अरब-निवासियों को एकेश्वर-वादी बनाकर अपने मत में

मिलाया और अहले इस्लाम के नाम से एक प्रबल दल संघटित कर लिया। उसने धर्म के साथ राजनीतिक क्रियाओं का भी मेल किया और विधर्मियों को काफिर कहकर या तो किसी प्रकार से उनको स्वमतानुयायी बनाने या नाश कर देने ही से ईश्वरी आज्ञा पालन होने का गूढ़ सिद्धान्त अपने अनुगामियों के हृदय-पटल पर दृढ़ता के साथ अंकित कर दिया और इसी को स्वर्ग की श्रेणी और मोक्ष का राजमार्ग बतलाया। हज़रत पैग़म्बर साहब के स्वर्गवास के उपरान्त उनकी सन्तान इस धर्म के सर्वोच्च पद पर नियुक्त होकर 'खलीफा' कहलाने लगी। एक जाति और एक धर्मवालों के कट्टर दल के स्वामी हो जाने से पहले तो इन खलीफाओं ने निकटवर्ती प्रदेशों को अधीन कर वहाँ की प्रजा को मुसलमान बनाया; और फिर शनैः शनैः अपने संघ को दूर दूर के देशों में भी फैलाया। जब उन्होंने देखा कि भिन्न भिन्न जातियों, धर्मों और एक दूसरे के विरोधी अनेकानेक राज्यों के कारण भारत की शक्तियों का ह्रास हो रहा है, फूट का वहाँ अटूट शासन है और हिन्दू जाति में भीम-दुःशासन सा मनोमालिन्य है, तो इस अवस्था में उस रत्नों की खान, निधि के स्थान और धनधान्य-पूर्ण कामधेनु को ले लेना कुछ कठिन न होगा। यह विचार उन्होंने अपनी बाग भारत की ओर उठाई। स्वयं कोई खलीफा तो अपनी गद्दी छोड़कर देशान्तर में नहीं गया, परंतु खलीफा वलीद के सेनापति मुहम्मद कासिम का अर्बों के दल सहित पहले पहल भारत में कदम पड़ा। सिंध देश के राजा दाहिर को जो ब्राह्मण वर्ण का था, आ दबाया। कितने ही अर्बों ने समय पाकर आठवीं शताब्दी में सौराष्ट्र के अंतर्गत वल्लभीपुर के महाराज्य को मलिया मेट किया और अन्यान्य विभागों में भी धूम मचाते हुए वे दूर दूर तक फैल गए।

जब सारा अफग़ानिस्तान मुहम्मद मतावलम्बी हो गया और मध्य एशिया की कई जातियों ने भी यह मत ग्रहण किया, उस

समय भारत में पंजाब के उत्तरी विभाग में दिल्ली के तँवर राजपूत राज्य था। अमीर सुबुक्तगीन ने लाहौर के राजा जयपाल को परास्त किया। तत्पश्चात् सुबुक्तगीन के पुत्र सुलतान महमूद ग़ज़नवी ने भारत पर आक्रमण करने का व्रत लिया। प्रथम मुठभेड़ राजा जयपाल के पुत्र अनंगपाल से हुई। यह पहला अवसर था कि भारतवर्ष के अन्यान्य प्रांतों के नृपतिगण अपनी सेना सहित अपने देश और धर्म की रक्षा के निमित्त अनंगपाल की सहायता को आए। तँवर-राज एक प्रबल दल लेकर महमूद के सम्मुख हुआ; परंतु एक आकस्मिक घटना के कारण क्षत्रिय सैन्य विजय-लाभ से विमुख रह गई। घटना यह थी कि दैवात् अनंगपाल की सवारी का हाथी भड़ककर भाग निकला। बस फिर क्या था। अपने सेनानायक को भागा जान सारी सेना ने रण क्षेत्र से मुँह मोड़ दिया और महमूद को सहज ही में विजय-लक्ष्मी ने वर-माला पहना दी। क्रूर अफ़गानों ने हजारों के खून से अपनी तलवारें रँगीं; और इस युद्ध ने उन विदेशियों और विधर्मियों की हिंदुओं के हृदय में धाक सी जम गई। सुलतान महमूद बारह चढ़ाइयाँ कर काशी और कन्नौज तक अपनी विजय का डंका बजाता और प्रताप की पताका फहराता चला गया। उसने भारत के द्रव्य से ग़ज़नी का भण्डार भर दिया, कई नामी नगरों को लूटा, अनेक देवमंदिर तोड़े, लाखों मनुष्यों के मस्तक छेदे और हजारों को पकड़कर लौंडी-गुलाम बना स्वदेश में ले गया। अस्तु।

माना कि सुलतान महमूद और उससे पूर्व होनेवाले मुसलमान सुलतान आदि ने इस आर्य्य भूमि में अनेक उत्पात मचाए, परन्तु उन्होंने अपना राज्य यहाँ स्थिरता के साथ जमाया नहीं। संभव है कि भारतीय क्षत्रिय राणा बार बार के ऐसे आक्रमणों से निरे निर्वीर्य न हो गए हों, बल्कि अवसर पर शत्रु को हाथ दिखाने और खदेड़ते रहने के अभ्यासी भी हो गए हों, और इसी से सुलतान महमूद और उसकी

आक्रमणकारी : संतान को यहाँ अपना राज्य स्थिर कर लेने की हिम्मत और हौसला न हुआ हो। वे आते और लूट मार करके लौट जाते थे। अलबत्ता पंजाब प्रांत के कुछ विभाग पर उनका अधिकार हो गया था। यहाँ तक तो सिंध, मुलतान, मालवा, राजस्थान, गुर्जर, सौराष्ट्र, मध्य हिंदुस्तान, काशी, कन्नौज, बंगाल आदि और दक्खिन के महाराष्ट्र पर राजपूत राजा ही शासन करते थे। इनके अतिरिक्त जाट, मेर, गूजर, भील आदि कई असभ्य जातियों की सत्ता भी मरुस्थल और पर्वती प्रदेशों में बनी थी। गज़नी के तख्त को उलटकर गोरी वंश ने अपनी राजधानी स्थापित की और उसी घराने के सुलतान शहाबुद्दीन गोरी ने भारत पर पूर्णाधिकार प्राप्त कर लेने की नीयत से चढ़ाइयाँ कीं। उस समय राजपूताने में और पंजाब के कई विभागों तक चहुवाण वंशी महाराज पृथ्वीराज की विजय-पताका फहरा रही थी; और दिल्ली का राज्य, जिसे पृथ्वीराज के प्रपितामह महाराज बीसलदेव या विग्रह-राज ने तँवरों से छीन लिया था, उनके राज्य का एक इलाक़ा था। इसी बीसलदेव ने तुर्क सेनाओं के साथ भी अनेक युद्ध किए थे; और अपने अन्तिम काल में अपने पुत्रों को भी उन्होंने यही आज्ञा देकर सं० १२२० वि० में शरीर त्यागा था कि "हिमालय से विंध्याचल तक का देश तो विजय कर मैंने आर्य्यावर्त्त के लगभग सभी म्लेच्छों का विच्छेद किया। शेष देश को जय करने का उद्योग तुम मत छोड़ना !"*

सुलतान शहाबुद्दीन कई बार चढ़ आया, परंतु पृथ्वीराज से बराबर पराजित होकर उसे लौटना पड़ा था। अंत में सं० १२४८ वि० में उसने असंख्य दल जोड़कर बहुत धूम-धाम के साथ चहुवाण-राज पर चढ़ाई की। सुलतान शहाबुद्दीन के साथ के पहले युद्ध में भी उसकी बहुत सी सेना और सामंतों की क्षति हो गई थी; इसलिये इस दूसरे युद्ध में

---

* दिल्ली की लाट पर का बीसलदेव चहुवाण का लेख सं० १२२० वैशाख सुदी १५ का।

सुलतान की जीत हुई। यह दूसरा अवसर था कि भारत के भिन्न भिन्न नरेश पृथ्वीराज के सहायतार्थ युद्ध में सम्मिलित हुए थे। यदि उस समय अन्यान्य अनेक नृपतियों की तरह जयचंद भी पृथ्वीराज का साथ देता और तटस्थ रहकर तमाशा न देखता, तो मुसलमानों का क़दम शायद भारत में न जमने पाता। परंतु "कर्म रेख नहिं मिटै करै कोई लाखों चतुराई"। अंत में शहाबुद्दीन ने जयचंद की भी वही गति बनाई जो पृथ्वीराज की हुई थी। यहाँ से भारत में मुसलमानों के राज्य का पैर जमा; और शनैः शनैः अन्यान्य क्षत्रिय नरेश भी उनके शिकार बने और उनके राज्य विधर्मी विदेशियों के हस्तगत होते गए।

अब मैं अपने चरित्र-नायक के वर्णन पर आता हूँ। परंतु इसके पूर्व गुहिल वंश के कुछ महाराणाओं का थोड़ा सा दिग्दर्शन मात्र पाठकों को करा देना अनुचित नहीं। विक्रम की सातवीं शताब्दी में मुसलमानों का इधर आगमन हुआ था। तब से क्या, उसके पूर्व भी लगभग १३०० वर्ष व्यतीत हुए कि जिसमें कई राज्य बने और बिगड़ गए। कई नवीन राजवंशों में स्थानादि त्यागने और स्थापन करने की अनेक घटनाएँ उपस्थित हुईं। परंतु पृथ्वी भर में जहाँ तक देखा जाय, उदयपुर के महाराणाओं का ही एक राजवंश है जो आज तक अपने प्राचीन प्रदेश पर लगभग १२५० वर्ष से निरंतर शासन कर रहा है। मुसलमान इतिहास-लेखक भी इसकी साक्षी देते हैं। फरिश्ता लिखता है कि राजा विक्रमादित्य के पीछे राजपूतों की उन्नति हुई है। मुसलमानों के हिंदुस्तान में आने से पहले कई स्वतंत्र राजपूत राज्य इस देश में थे। परंतु सुलतान महमूद गज़नवी और उसकी औलाद ने बहुतों को दबा दिया। शहाबुद्दीन गोरी ने अजमेर और देहली के राजाओं को जीता; और बाकी रहे सहे को अमीर तैमूर वनुस की औलाद ने ताबे कर अपना फर्माबर्दार बनाया। यहाँ तक कि जहाँगीर बादशाह के ज़माने तक विक्रम के समय का कोई पुराना राजवंश बाकी न रहा। लेकिन राणा

ही एक राजा हैं जो दीन इसलाम के जाहिर होने के पेश्तर भी मौजूद थे और आज तक हुक्मरानी करते हैं।" बाबर बादशाह ने राणा की बुजुर्गी को स्वीकारा और शाहंशाह जहाँगीर भी तुजुके जहाँगीरी में लिखता है—"राणा अमरसिंह हिन्दुस्तान के मौतबिर जमींदारों में से है। इसके व इसके बुजुर्गों के बड़प्पन और सर्दारी को वलायत हिन्द के तमाम राजा व राय क़बूल करते हैं। दीर्घ काल से उनके वंश में दौलत और रियासत चली आती है। १४७१ वर्ष गुजरते हैं, जिनमें से १००२ वर्ष में २६ रावल पदवी धारण करनेवाले और राणा अमरसिंह तक ४६९ वर्ष में २६ राणा हुए। इस मुद्दत में उन्होंने वलायत हिन्द के किसी बादशाह की इताअत में सिर न झुकाया और बराबर लड़ाई झगड़ा करते रहे; आदि।" इससे इतना तो स्पष्ट है कि राजपूताने में गुहिल वंश का राज्य स्थापित होने के आरंभ काल ही से उनकी नीति-रीति सदा से अपने सामन्त गण व प्रजा के लिये हितकारी बना रही। आर्य क्षत्रिय महाराजाओं के पथ में अटल रहकर उन्होंने अपने वास्तविक धर्म से पग पीछे न हटाया, जैसा कि उनके राज-चिह्न पर अङ्कित रहनेवाले सिद्धान्त से स्पष्ट है "जो दृढ़ रक्खे धर्म को तेहि रक्खे कर्त्तार"। यही कारण था कि गुहिल वंश की अपार शाखाओं ने राजस्थान के बड़े विभाग पर अधिकार जमाया और शुक्ल पक्ष की द्वितीया के चन्द्र-तुल्य उनका प्रताप प्रति दिन बढ़ता रहा। उनकी ऋद्धि-वृद्धि को देखकर दूसरे कई नरपतियों के आक्रमण भी उन पर हुए; परंतु अंत में विजय धर्म ही की रही। मौर्य्य उनसे पराजित हुए। अजमेर, नाडोल और जालोर के चहुवाणों को उन्होंने उनकी धृष्टता का स्वाद चखाया। गुजरात के सोलंकी और बाघेलों से चित्तौड़गढ़ उन्होंने छीना; और धार तथा आबू के परमार भी उनसे बाजी न ले जा सके। महारावल समरसिंह और उनके पूर्व के कई गुहिल राजाओं ने मुसलमानों की सेनाओं से भी अनेक युद्ध किए, जिसकी पुष्टि इस वंश के प्राचीन शिलालेखों से होती है।

महारावल समरसिंह के पुत्र महारावल रत्नसिंह के शासनकाल, सं० १३५० वि० में देहली के सुलतान अलाउद्दीन खिलजी खूनी बादशाह की चढ़ाई चित्तौड़ पर हुई जिसका कारण रानी पद्मिनी का सौन्दर्य बतलाया जाता है। परंतु वास्तव में यदि फरिश्ता के इस कथन की ओर ध्यान दें कि चित्तौड़गढ़ उस वक्त तक एक कुँवारी कन्या के समान था, जिस पर पहले किसी मुसलमान बादशाह का हाथ न पड़ा था, तो आश्चर्य नहीं कि सुलतान ने ऐसे गढ़ को विजय करने में नामवरी समझ उस पर हमला किया हो। महारावल रत्नसिंह ने भी अलाउद्दीन का सत्कार बड़ी वीरता के साथ किया। सीसोदे से राणा शाखा का लखमसी भी इस युद्ध में अपने स्वामी का हाथ बटाने के वास्ते अपने सात पुत्रों सहित आया और सब ने अपनी मातृ-भूमि की रक्षा के हेतु अपने प्यारे प्राण निछावर कर दिए। सहस्रों शत्रुओं को अपने कराल कृपाण से काटकर चित्तौड़ की अधिष्ठातृ देवी को तृप्त किया और आप भी वीर गति को प्राप्त हुए। हजारों सुकुमार राज-रमणियों ने अपने कोमल तनों को जौहर की धधकती हुई ज्वाला में भस्म कर अपने सतीत्व की रक्षा की। तारीख फीरोजशाही में लिखा है कि बरसात के मौसिम में युद्ध जारी रखने के कारण सुलतान अलाउद्दीन की सेना का बहुत नुकसान हुआ। महारावल रत्नसिंह के साथ महवी रावल शाखा की समाप्ति होने और सीसोदे की शाखावालों के चित्तौड़ के राज-सिंहासन पर बैठने से फिर वहाँ के नरेश रावल के बदले राणा उपाधि से विभूषित हुए। अपना वंश स्थिर रखने को राणा लखमसी ने अपने एक कुँवर अरिसिंह को गढ़ से बाहर भेज दिया था, जिसने एक राजपूत वीराङ्गना से विवाह कर पिता की आज्ञा का पालन और सफल मनोरथ होने पर वापस आकर राणा अरिसिंह भी शत्रु से युद्ध करता हुआ खेत हुआ। चित्तौड़ की हुकूमत सुलतान ने पहले तो अपने युवराज खिज्र खाँ को दी थी, परंतु जब देखा कि उससे राजपूतों का उपद्रव शान्त

नहीं हो सकता, तो जालोर के सोनगिरे चहुवाण राव कान्हड़देव के भाई रावन्तल देव को वहाँ का शासन-भार सौंपा।

जिस राजपूत कन्या के साथ राणा अरिसिंह ने विवाह किया था, उसके उदर से वीर हमीर ने जन्म लिया। सयाने होने पर जब हमीर को जान पड़ा कि मैं क्षत्रियकुल-चूड़ामणि चित्तौड़ के स्वामी का वंशधर हूँ और मेरी पैतृक भूमि पर तुर्कों का अधिकार है, तो बालक होते हुए भी सीसोदिया वंश का स्वाभाविक शौर्य्य-संपन्न रुधिर उसकी रगों में खौलने लगा। उसने राव मालदेव के शासन में उपद्रव मचाना आरंभ किया और अपने पिता के परम शत्रु मुञ्जा बालेचा को भी मारकर उसका सिर काट लाया। राव मालदेव ने लाचार अपनी कन्या का विवाह हमीर के साथ कर उसे शांत करने की युक्ति निकाली। उसी रानी ने अपने पति को चित्तौड़गढ़ पर पुनः अधिकार कर लेने के उपाय बतलाए। राव मालदेव का देहांत होने पर वीर हमीर ने अपने चुने हुए राजपूतों को साथ ले चित्तौड़गढ़ पर धावा कर दिया और विपक्षियों को काटकर अपना झंडा वहाँ उड़ाया। कर्नल टाड लिखता है कि राव मालदेव भागकर दिल्ली में मुहम्मद शाह तुग़लक़ के पास गया। बादशाह सेना सजाकर आया। उसका पुत्र सींगोल नामक स्थान में राणा हमीर से युद्ध में हारकर कैद हो गया और कई परगने तथा दूसरे दण्ड देकर छूटा। कुछ भी हो, परंतु हमीर के प्रताप का सूर्य्य चमका। आस पास के नरेशों को विजय कर उसने दूर दूर तक अपनी पताका जा उड़ाई।

सं० १४२१ वि० में वीर हमीर का स्वर्गवास होने पर उनके पुत्र राणा क्षेत्रसिंह ने राज-सिंहासन की शोभा बढ़ाई। दिल्ली में उस समय तुग़लक़ ख़ान्दान तख़्त पर था। मुहम्मद तुग़लक़ की शरह की अनीतियों और क्रूरतापूर्ण कार्यवाहियों से बादशाहत में कई उपद्रव उठ खड़े हुए थे। बड़े बड़े सूबे स्वतंत्र बन बैठे। जौनपुर, मालवा और गुजरात में

जुदा सलतनतें स्थापन हो गई; और इसी अर्से में अमीर तैमूर ने स्तान पर चढ़ाई कर महमूद शाह का मान मर्दन कर डाला। दिल्ली को लूटकर वहाँ कतले आम करके लाखों प्रजा के प्राण हरण और करोड़ों का माल ले गया। अवसर पाकर महाराणा चेत्रसिं भी अमी शाह (मालवे का सुलतान दिलावर खाँ गोरी) का मद किया और दिल्ली के कई नगर लूटकर अपने राज्य में वृद्धि की। शाह के युद्ध की साक्षी का एक प्राचीन कवित्त भी मिलता है—

> "जो दल पच जोजन्न, प्रमाण मेलाण पड़ंतो।"
> "जु दल नदी निज्झरण, पूर तण मोंह पियंतो॥"
> "जु दल राय मण्डण, गयो गाहंतो गिरवर।"
> "जु दल तणी रजखेह, रक्के छायो रव अम्बर॥"
> "एतलो कटक अमी शाह को, खेतल भंजे खाग बल।"
> "आई येग वलतो दीठ मैं, रह तरोवर एक तल॥"

भावार्थ—अमी शाह के असंख्य दल को चेत्रसिंह ने खड्ग बल से दलमलित किया, और वह इतना सा रह गया कि एक वृक्ष की छाया में ठहर सके।

महाराणा चेत्रसिंह के पुत्र महाराणा लखसिंह या लाखाजी ने भी मेदपाट के प्रताप-रूपी प्रभाकर को अधिकाधिक चमकाकर मुसलमान बादशाहों से कई युद्ध किए और अंत में गया तीर्थ को असुरों के अत्याचार से बचाने और हिंदुओं पर वहाँ लगने वाले कर को छुड़ाने के वास्ते तीर्थस्थान में अपने प्राणों की आहुति दी।

लाखाजी के पुत्र महाराणा मोकलजी भी पुरुषार्थ और पराक्रम में अपने पुरखाओं से न्यून न हुए। उनके सैन्य बल से गुजरात और मालवे के सुलतान सदा भयभीत रहते। उसने नागोर के फीरोज खाँ से युद्ध कर उसकी पीठ पर अपनी विजय मुद्रिका अङ्कित की और अपने १६ वर्ष के राज-समय में सीसोद वंश की निर्मल कीर्ति दूर दूर तक फैला दी। अंत में कर में कृपाण धारण किए रणक्षेत्र रूपी ताल में स्नान कर

सूर्य्यमण्डल को वेध महाराणा मोक्ल ने कैलास वास किया। फीरोज खाँ आदि से युद्ध की साक्षी का एक प्राचीन छप्पय यों है:—

"श्री मोकल महाराण हुए ईसर अवतारी॥"
"जेण तणै सर गङ्ग, आप सुरसरी पधारी।"
सबल साह पीरोज, माण गाल्यो घर मच्छर॥"
"मरु मालव मेवात, अवर लींची घर गुज्जर।"
"खगपत राण खेताहरे, श्रीलखपत नरपत्त सुअ॥"
"नवखरड माँह, दीठौन को, मोकल सम वड अवर भुअ।"

महाराणा मोकलजी के पुत्र वीर-शिरोमणि महाराणा कुम्भा जी ने तो मेदपाट के महाराज्य को उन्नति के शिखर तक पहुँचाया, और अपने ३५ वर्ष के राज-समय में धर्म तथा देश की रक्षा के निमित्त देहली, मालवा और गुजरात के मुसलमानों से बराबर लड़ाइयाँ करते और बल कल द्वारा अरि दल का विध्वंस कर अपने प्रताप को बढ़ाते रहे। राजपूताने में तो क्या, वरन् सारे उत्तरी हिंदुस्तान में उस वक्त कोई क्षत्रिय राजा ऐसा नहीं था जो मेवाड़ की बढ़ी चढ़ी शक्ति के आगे मान-पूर्वक नत-मस्तक न होता हो। उपर्युक्त मुसलमान सुलतान उनका लोहा मान गए थे। उनकी वीरतापूर्ण कार्यवाहियों के सविस्तर वर्णन से हिंदी और फारसी के इतिहास रँगे पड़े हैं। यहाँ तो केवल इतना ही प्रकट कर देना यथेष्ट है कि सैकड़ों वर्षों तक निरन्तर पठान बादशाहों और तातारियों से देश व धर्म की रक्षा के हेतु युद्ध कर रणांगण में प्रायः शत्रुओं का विध्वंस करने या अपने प्राण निछावर कर देने में अन्य कोई क्षत्रिय राजवंश सीसोदियों की समानता नहीं कर सकता। महाराणा कुम्भा जी शिल्प, साहित्य और संगीतशास्त्र के ज्ञाता और पूर्ण आश्रय-दाता थे। उनके निर्माण कराए हुए अनेक दुर्ग, देवालय और चित्रकूट पर एक गगन-चुम्बित कीर्तिस्तम्भ, और संस्कृत भाषा में रचे हुए ग्रंथ उनके उज्वल यश के अपूर्व स्मारक आज तक विद्यमान हैं। शोक कि

ऐसे शूरवीर, पुरुषार्थी और विद्यानुरागी पिता के प्राण उनके ज्येष्ठ पुत्र उदयकर्ण ने राज्य के लोभ से लेकर अपने मस्तक पर अमिट कलंक का टीका लगाया। परंतु वह भी सुख से पाँच वर्ष भी राज्य न करने पाया कि सामन्त गणों ने उसके भाई रायमल्ल को गद्दी पर ला बैठाया। *

महाराणा रायमल ने भी दिल्ली की बादशाहत के कई नगर लूटे, बादशाही पूतना को पराजित कर भगाया और सिंध देश को मन्दराचल की नाईं मथा। उदयकर्ण के पुत्र सूरजमल व सहसमल की सहायता से मालवे का सुलतान गयासुद्दीन खिलजी चित्तौड़ पर चढ़ आया था; परंतु रायमलजी के सम्मुख उसे पीठ दिखानी पड़ी। अपने पराजय से लज्जित गयास ने बड़ी बड़ी तैयारियों के साथ नामी सेनानायक जफर खाँ की अध्यक्षता में फिर मेवाड़ पर दल बादल चढ़ाए। बेगूँ के राव बहादा चाचक देव ने जफर की अनीतियों के समाचार महाराणा तक पहुँचाए कि उसने कोटा, भैंसरोड़ और शिवपुर के पर्गनों पर अधिकार कर लिया है। यह संवाद सुनते ही कई नरपतियों को साथ ले कुपित केसरी की भाँति महाराणा जफर पर चढ़ आए, उसके नामी नामी शूर सामंतों के मस्तक काट धूल में मिलाए और पद-दलित हो जफर माँडू की तरफ भागा। खैराबाद (माँडू के पास) तक महाराणा उसका पीछा करते चले गए। अंत में निराश होकर सुलतान ने नजर नजराना देकर संधि कर ली। इस युद्ध की साक्षी का एक प्राचीन गीत यह है:—

---

* कर्नल टॉड तो लिखता है कि ऊदा जब चित्तौड़ से निकाला गया तो मालवे के सुलतान के पास सहायता को गया। परंतु दर्गाह में से निकलते ही उस पर वज्रपात हुआ और वह वहीं मर गया। मोहणोत नेणसी कहता है कि जब रायमल ने ऊदा को चित्तौड़ से निकाला, तो वह कुछ काल तक सोजत में ठहरकर बीकानेर की तरफ चला गया और वहीं मरा।

"रायाँगुर रायमल्ल खान जाफर निरमूलण ।"
"रायाँगुर रायमल्ल सबल रायाँ उर सूलण ॥"
"रायाँगुर रायमल्ल गाम सोमी जुध कीधा ।"
"रायाँगुर रायमल्ल शत्रु मारे जस लीधा ॥"
"रायमल्ल राणरायाँ तिलक, त्रिहुँ जग में कीरत फिरै ।"
अणभाँत सुकव कीरत कहै, रायमल्ल रायाँ सिरै ॥" *

महाराणा रायमलजी ने ११ विवाह किए थे जिनसे १४ पुत्र और दो कन्याएँ उत्पन्न हुईं । पुत्रों के नाम–पृथ्वीराज, जयमल, संग्रामसिंह या साँगा जी, कल्याणमल, पत्ता जी, रायसिंह, भवानीदास, किशुनदास, नारायणदास, शङ्करदास, देवीदास, सुंदरदास, ईसरदास और बेणीदास थे और कन्याएँ दामोदर कुँवर तथा आनंद कुँवर† थीं । पृथ्वीराज और साँगा जी की माता झाली राणी रत्न कुँवर झाला राजधर की पुत्री थी । पाटवी कुँवर पृथ्वीराज प्रकृति का वीर, स्वभाव का तेज, युद्ध-प्रिय, निर्भय और पुरुषार्थी था । कोई काम उसके लिये दुष्कर नहीं था । प्राणों की परवाह न करके उसने ऐसे ऐसे शौर्य्य के काम इतनी शीघ्रता के साथ कर दिखाए कि जिनसे राजपूताने भर में वह "उड़णा पृथ्वीराज" प्रसिद्ध हो गया । अतएव यहाँ उसकी कुछ कार्यवाहियों का वर्णन करना अनुचित न होगा ।

महाराणा रायमल के पीछे पृथ्वीराज के अतिरिक्त जयमल और साँगा को भी चित्तौड़ के राजसिंहासन की अभिलाषा थी । एक दिन तीनों भाई अपने काका सूरजमल सहित वन-विहार करते हुए नाहर मगरे में एक देवी के मंदिर के पास जा निकले । राजपूत प्रायः शकुन और

---

* इस युद्ध का वर्णन एकलिङ्ग जी के मंदिर की महाराणा रायमल जी की प्रशस्ति में भी है । (भावनगर इंस्क्रिपशन्स, पृष्ठ १२१)

† हरविलास जी शारदा ने अपनी अँग्रेजी पुस्तक "महाराना साँगा" में आनंद कुँवर की जगह हर कुँवर नाम दिया है ।

ऐसे शूरवीर, पुरुषार्थी और विद्यानुरागी पिता के प्राण उनके ज्येष्ठ पुत्र उदयकर्ण ने राज्य के लोभ से लेकर अपने मस्तक पर अमिट कलंक का टीका लगाया। परंतु वह भी सुख से पाँच वर्ष भी राज्य न करने पाया कि सामन्त गणों ने उसके भाई रायमल्ल को गद्दी पर ला बैठाया। *

महाराणा रायमल ने भी दिल्ली की बादशाहत के कई नगर लूटे, बादशाही पृतना को पराजित कर भगाया और सिंध देश को मन्दराचल की नाईं मथा। उदयकर्ण के पुत्र सूरजमल व सहसमल की सहायता से मालवे का सुलतान गयासुद्दीन खिलजी चित्तौड़ पर चढ़ आया था; परंतु रायमलजी के सम्मुख उसे पीठ दिखानी पड़ी। अपने पराजय से लज्जित गयास ने बड़ी बड़ी तैयारियों के साथ नामी सेनानायक ज़फर खाँ की अध्यक्षता में फिर मेवाड़ पर दल बादल चलाए। बेगूँ के राव महादा चाचक देव ने ज़फर की अनीतियों के समाचार महाराणा तक पहुँचाए कि उसने कोटा, भैंसरोड़ और शिवपुर के परगनों पर अधिकार कर लिया है। यह संवाद सुनते ही कई नरपतियों को साथ ले कुपित केसरी की भाँति महाराणा ज़फर पर चढ़ आए, उसके नामी नामी शूर सामंतों के मस्तक काट धूल में मिलाए और पद-दलित हो ज़फर माँडू की तरफ भागा। खैराबाद (माँडू के पास) तक महाराणा उसका पीछा करते चले गए। अंत में निराश होकर सुलतान ने नजर नज़राना देकर संधि कर ली। इस युद्ध की साक्षी का एक प्राचीन गीत यह है:—

* कर्नल टाड तो लिखता है कि ऊदा जब चित्तौड़ से निकाला गया तो मालवे के सुलतान के पास सहायता को गया। परंतु दर्गाह में से निकलते ही उस पर वज्रपात हुआ और वह वहीं मर गया। मोहणोत नैणसी कहता है कि जब रायमल ने ऊदा को चित्तौड़ से निकाला, तो वह कुछ काल तक सोजत में ठहरकर बीकानेर की तरफ चला गया और वहीं मरा।

"रायाँगुर रायमल्ल खान जाफर निरमूलण ।"
"रायाँगुर रायमल्ल सबल रायाँ उर सूलण ॥"
"रायाँगुर रायमल्ल गाम सोमी जुध कीधा ।"
"रायाँगुर रायमल्ल शत्रु मारे जस लीधा ॥"
"रायमल्ल राणरायाँ तिलक, त्रिहुँ जग में कीरत फिरै ।"
अणभाँत सुकव कीरत कहै, रायमल्ल रायाँ सिरै ॥" *

महाराणा रायमलजी ने ११ विवाह किए थे जिनसे १४ पुत्र और दो कन्याएँ उत्पन्न हुईं। पुत्रों के नाम—पृथ्वीराज, जयमल, संग्रामसिंह या साँगा जी, कल्याणमल, पत्ता जी, रायसिंह, भवानीदास, किशुनदास, नारायणदास, शङ्करदास, देवीदास, सुंदरदास, ईसरदास और बेणीदास और कन्याएँ दामोदर कुँवर तथा आनंद कुँवर† थीं। पृथ्वीराज और साँगा जी की माता झाली राणी रत्न कुँवर झाला राजधर की पुत्री थी। कुँवर पृथ्वीराज प्रकृति का वीर, स्वभाव का तेज, युद्ध-प्रिय, निर्भय और पुरुषार्थी था। कोई काम उसके लिये दुष्कर नहीं था। प्राणों की परवाह न करके उसने ऐसे ऐसे शौर्य्य के काम इतनी शीघ्रता के साथ कर दिखाए कि जिनसे राजपूताने भर में वह "उड़णा पृथ्वीराज" प्रसिद्ध हो गया। अतएव यहाँ उसकी कुछ कार्यवाहियों का वर्णन करना अनुचित न होगा।

महाराणा रायमल के पीछे पृथ्वीराज के अतिरिक्त जयमल और साँगा को भी चित्तौड़ के राजसिंहासन की अभिलाषा थी। एक दिन तीनों भाई अपने काका सूरजमल सहित वन-विहार करते हुए नाहर मगरे में एक देवी के मंदिर के पास जा निकले। राजपूत प्रायः शकुन और

---

* इस युद्ध का वर्णन एक लिङ्ग जी के मंदिर की महाराणा रायमल जी की प्रशस्ति में भी है। (भावनगर इंस्क्रिपशन्स, पृष्ठ १२१)

† हरविलास जी शारदा ने अपनी अंग्रेजी पुस्तक "महाराना साँगा" में आनंद कुँवर की जगह हर कुँवर नाम दिया है।

जादू टोने पर विश्वास रखते हैं। तदनुसार पृथ्वीराज बोला कि चलो, हम लोग देवी के सन्मुख चलकर चिट्ठियों द्वारा निश्चय करें कि राज्य किसके भाग्य में लिखा है। चारों के नाम की चिट्ठियाँ डालीं तो राजा की चिट्ठी साँगा के नाम के साथ आई। बस फिर क्या था। गद्दी के हक और प्रभुता के प्रलोभन से भ्रातृ-स्नेह हवा हो गया। तत्काल खड्ग खींचकर पृथ्वीराज साँगा पर टूट पड़ा। यद्यपि साँगा भी वीरता में उससे न्यून न था, तो भी ज्येष्ठ भ्राता के मान और अपनी स्वाभाविक सहन-शीलता ने उसको भाई के संमुख न होने दिया। यह घटना देख सूरजमल तुरंत बीच में आ पड़ा और साँगा को वहाँ से हटाकर पृथ्वीराज के प्रहार अपने तन पर झेलने लगा। इस आक्रमण में साँगा को पाँच घाव लगे और उसकी एक आँख भी जाती रही। सूरजमल और पृथ्वीराज दोनों जब तक घावों से पूर्ण होकर शिथिल न हुए, तब तक लड़ते रहे। अवसर पा साँगा ने चारभुजा का मार्ग पकड़ा; परंतु दूसरा भाई जयमल उसके पीछे लगा चला गया। राठौड़ बीदा जैत मालोत रूपनारायण के दर्शनार्थ आया था और लौटने के लिये वह सेवंतरी गाँव में सजा सजाया तैयार खड़ा था और उसका घोड़ा भी कसा हुआ था, कि उसने घायल साँगा को आते हुए देखा, जिसका घोड़ा मारे थकावट के कठिनता से चल सकता था। बीदा ने सच्चे क्षत्रिय धर्म का पालन कर साँगा को घोड़े से उतारा और उसका सत्कार शुश्रूषा करने के लिये अपने डेरे में ले ही गया था कि जयमल अपने राजपूतों सहित आ पहुँचा और साँगा को माँगने लगा। बीदा की रजपूती ने अतिथि को शत्रु के हाथ में सौंप देने की अपेक्षा अपने प्राण देकर उसे बचा लेना उत्तम समझ साँगा को तो अपने घोड़े पर चढ़ा आगे को रवाना किया और स्वयं जयमल के सन्मुख आकर कहने लगा—"साँगा मेरे पेट में है। यदि हिम्मत हो तो निकाल लो।" जयमल और बीदा में चोटें चलने लगीं, और बीदा अपने दो पुत्रों

सहित वीरगति को प्राप्त होकर क्षत्रिय धर्म का एक उत्कृष्ट उदाहरण संसार और अपनी संतान के वास्ते छोड़ गया ।

इधर जब महाराणा रायमल जी ने अपने कुमारों के झगड़े और साँगा के घायल होकर चले जाने का वृत्तान्त सुना, तो बहुत खेदित होकर उन्होंने पृथ्वीराज का दर्बार बंद किया, और उसे चित्तौड़ से दूर चले जाने की आज्ञा दी। जस्सा, सिंघल, संगम, अभ्मा, अन्ना आदि राजपूतों सहित पृथ्वीराज गोडवाड़ को चला गया। यद्यपि वह प्रांत पहले ही से मेदपाट के महिपालों के अधिकार में था, तथापि उदयकर्ण के अल्प-कालिक राज्य की अवस्था में वहाँ के मीणे सिर उठाकर स्वतंत्र से बन बैठे थे। और यों तो कई छोटी छोटी ठकुराइयाँ वहाँ हो गई थीं, परंतु उनका मुखिया नाडलाई में दर्बार रखता था। पृथ्वीराज ने ओझा नाम के एक ओसवाल व्यापारी के पास अपनी हीरे की अँगूठी गिरवी रखकर कुछ रुपए लिए थे। वही अँगूठी उस सेठ ने चित्तौड़ में पृथ्वीराज के हाथ बेची थी, जिससे उसने जान लिया कि यह महाराणा का टिकैत कुँवर है। और साथ ही मीणों का उपद्रव शमन करने की उसकी इच्छा जान तन मन धन से कँवर की सहायता करने लगा। पृथ्वीराज ने अपनी वीरता और क्रिया-कुशलता से मीणों को मार भगाया और थोड़े ही समय पीछे शांति स्थापित कर दी और ओझा को अपना मंत्री बनाकर आप शासन करने लगा। *

उस वक्त देसूरी पर मादरेचे चहुवाणों का अधिकार था। सिरोही के राव लाखा ने 'लाख' के एक स्वतंत्र सोलंकी ठाकुर भोजराज से उसका ठिकाना छीनना चाहा। पाँच बार देवड़ा राव ने भोज पर आक्रमण किया। परन्तु सफलता न हुई, पराजित होकर राव को पीठ दिखानी पड़ी। अंत में ईडर के राव भाण की सहायता से भोज को मारकर

* नाडलाई के आदिनाथ के मंदिर की प्रशस्ति से जाना जाता है कि राणा श्री रायमल के राज्य में गोड़वाड़ पर महाकुँवर पृथ्वीराज अनुशासन करता था।

राव लाखा ने 'लास' अपने राज्य में मिला लिया। तब भोज का पुत्र रायमल अपने बेटे शंकर, सामंत, सखरा और दूसरे कुटुंब को लिए हुए कुंभलमेरु में महाराणा की शरण में आया था। कुँवर पृथ्वीराज ने देसूरी का पट्टा उसको देकर कहा कि मादरेचों से उसे छीन लो। रायमल देसूरी के ठाकुर की कन्या से ब्याहा था, इसलिये पहले तो वह छल-बल द्वारा अपने श्वसुर की भूमि हरण करने में हिचकिचाया। परंतु जब देखा कि इसके अतिरिक्त और कुछ आशा यहाँ नहीं, तो लाचार उसने देसूरी जाकर कपट-क्रिया से श्वसुर व अन्य मादरेचों को मारकर देसूरी पर अधिकार कर लिया। उसी भोजराज के वंशज अब जीलवाड़े और रूपनगर के ठाकुर मेवाड़ के जागीरदार हैं।

सांगा के चले जाने और पृथ्वीराज को देश-निकाला होने से अब जयमल मेदपाट का युवराज रह गया था। उसने टोंक टोडा के सोलंकी राव सुरताण की स्वरूपवती कन्या तारादेवी से विवाह करना चाहा। राव सुरताण के पुरुषाओं से सुलतान अलाउद्दीन की बादशाहत में पठानों ने टोडा छीन लिया था और अब वहाँ लल्लाखाँ नामी एक पठान शासन करता था। सोलंकी राव राणा लाखा जी की शरण आया और उन्होंने बदनोर का पर्गना उसे जागीर में देकर अपनी चाकरी में रख लिया था। राव सुरताण की यह प्रतिज्ञा थी कि जो क्षत्रिय कुमार पठानों से मुझे अपने बाप दादों की भूमि वापस दिलावेगा, उसी के साथ मैं अपनी रूप-गुण-सम्पन्न तारा का विवाह करूँगा। अपनी मनोकामना पूर्ण होने की आशा कम देखकर जयमल राव सुरताण का परम विरोधी, बन गया और खुल्लमखुल्ला कह दिया कि यदि तेरे कुटुंब को अपने रथ के घोड़ों की पूँछ से बँधवाकर न खिंचवाऊँ, तो मेरा नाम जयमल नहीं। जयमल बदनोर पर चढ़ चला। राव अपने कुटुंब सहित वहाँ से भाग निकला। पहर रात गए कुँवर बदनोर पहुँचा होगा कि उसे राव के भागने की सूचना मिली। साथ के सरदारों

ने कहा कि अब रात्रि में पीछा करना ठीक नहीं। अभी तो यहाँ आराम कीजिए; प्रभात ही जा लेंगे। हठीले राजकुमार ने उस शुभ सम्मति को न माना। आज्ञा दी कि मशालें जलाकर हाथियों पर धर लो और उनके उजाले में रातों रात चलो। आधी रात बीती होगी कि राव सुरताण के साथियों ने जयमल को आते देखा। तब तो राव की स्त्री ने हताश होकर घबराहट के साथ अपने भाई साँखला रतना से कहा—"भाई, अब हमारी लाज लुट जाने का अवसर आ पहुँचा है।" रतना ने कुछ भी उत्तर न दिया। अपने घोड़े को रोककर वह पीछे आनेवाले जयमल के साथ में मिल गया। ये लोग सब थकान और नींद के मारे हुए चल रहे थे। किसी का ध्यान उधर न गया। रतना ने अपना बरछा सँभाला और घोड़े को एड़ लगाकर जयमल की बग्घी के बराबर ले गया। कुँवर के नेत्र भी नींद के मारे अर्ध उन्मीलित से हो रहे थे और वह तकिए के सहारे झुका हुआ था। रतना बोला—"कुँवर साहब! रतना साँखला जुहार करता है।" और साथ ही अपना बरछा उसकी छाती के पार कर दिया। घाव भारी था; जयमल का प्राणपक्षी तत्काल वहीं उड़ गया। साथवालों ने मिलकर रतना को मार लिया और गाँव आकड़सादे में आकर जयमल के शव का अग्नि-संस्कार किया।

जब गोड़वाड़ में पृथ्वीराज ने अपने भाई की मृत्यु का समाचार सुना तो विचारा कि राव सुरताण की प्रतिज्ञा पूर्ण कर मैं उस वीरांगना का पाणिग्रहण करूँ। उधर पृथ्वीराज के साहस-पूर्ण आश्चर्यजनक वीर कर्मों के सुनने से तारा देवी का हृदय भी उसके प्रेम में प्लावित हो गया और उसने अपने पिता की आज्ञा पा पृथ्वीराज को अपना पति बनाया। कुँवर के दिल में लगी थी कि श्वसुर की प्रतिज्ञा पूर्ण करे। ताजियों के अवसर पर वह चुने हुए ५०० सवार साथ ले टोड़े की ओर चला। जैसे रामचंद्र के वनवास के समय सती सीता ने राजसी सुखों को त्याग केवल पति-सेवा के हेतु वन वन फिरना निश्चय कर

लिया था, वैसे ही तारा देवी भी शस्त्र सजकर पृथ्वीराज के साथ हो ली। कुमार का परम भक्त एक सेंगर सरदार सेवक भी साथ था। ज्यों ही ताजिया टोड़े के चौक में पहुँचा कि ये तीनों भी भीड़ में जा मिले। पठान सरदार पोशाक पहन अपने आवास से उतरता था कि उसकी दृष्टि इन तीनों "अजनबियों पर पड़ी। पूछा कि ये लोग कौन हैं ? उत्तर सुनने न पाया था कि पृथ्वीराज का बरछा और तारा के हाथ से छूटा हुआ तीर दोनों एक साथ उसके तन में घुसे और वह वहीं धराशायी हो गया। दूसरे पठानों के सँभलने के पूर्व ही ये नगर की पौली पर जा पहुँचे जहाँ एक मस्त हाथी इनका मार्ग रोके खड़ा था। चण्डी तारा देवी ने वहाँ अपनी तेज तलवार का चमत्कार दिखलाया और एक ही हाथ में गजराज के सुण्डा दण्ड के दो टुकड़े कर दिए। हाथी भागा और ये अपनी सेना में जा मिले और तत्काल हल्ला बोल दिया। राजपूतों की तीक्ष्ण-धार तलवार के आगे पठान न ठहर सके और पीठ दिखाई। टोडा पृथ्वीराज के हाथ आया और उसने राव सुरताण को फिर वहाँ स्थापित कर दिया। इसकी साखी का एक पुराना पद भी प्रसिद्ध है—"भाग लला पृथ्वीराज आयो। सिंह के साँतरै स्याल ब्यायो।" कहते हैं कि उसी दिन राजा ने टोडे से एक सौ कोस की दूरी पर जालौर के गढ़ पर जा धावा किया। तभी से उसको लोग उड़णा पृथ्वीराज कहने लगे। अजमेर में नवाब मल्लू खाँ बादशाही सूबेदार था। जब उसने लल्लाखाँ की मृत्यु और टोडा छिन जाने का समाचार सुना, तो पृथ्वीराज से बदला लेना विचारा। परंतु इसके पूर्व कि मल्लू अपने विचार को कार्य में परिणत करे, अजमेर पहुँचकर कुमार ने उस पर धावा कर दिया और हार खाकर वह गढ़ बिठली (तारागढ़) में जा घुसा।

महाराणा कुम्भा जी की पुत्री रमाबाई का विवाह गढ़ गिरनार के यादव वंशी राजा मण्डलीक पंचम के साथ हुआ था। राव ने उस

रानी का कुछ अपमान किया जिसकी सूचना पृथ्वीराज को होते ही वह अचानक गढ़ गिरनार में जा पहुँचा और राव को वध करना चाहा। उसने अति दीन होकर प्राणों की भिक्षा माँगी। तब उसके कान का थोड़ा सा भाग काटकर छोड़ दिया और रमाबाई को चित्तौड़ ले आया। महाराणा रायमल ने मँगरे परगने में का जावर गाँव बहन को दिया, जहाँ सं० १५५४ वि० में उसका बनवाया हुआ रमा श्याम का मंदिर और रमा कुण्ड का रमणीय जलाशय अद्यावधि विद्यमान है।*

महाराणा ने भैंसरोड़ का पर्गना रावत सूरज मल को बख्शा था। जब पृथ्वीराज ने यह सुना तो निवेदन कराया कि इस प्रकार पृथ्वी न बख्शी जाय। उत्तर पाया कि हमने तो दे दिया। अब यदि तुम से हो सके तो वापस ले लो। इतनी आज्ञा पहुँचने की देर थी कि पृथ्वीराज चुने हुए दो हज़ार सवार साथ लेकर भैंसरोड़ आया। सूरजमल और महाराणा लाखा के पौत्र सारंगदेव को, जो उसके यहाँ बंदी था, वहाँ से निकाल दिया। वे दोनों मालवे के सुलतान नासिरुद्दीन के पास सहायतार्थ गए। सुलतान ने भी अपने बाप दादों की हार का बदला मेवाड़ से चुका लेने का यह अच्छा अवसर जान अपनी बहुत सी सेना सूरजमल के साथ कर दी। इन्होंने भी कई पर्गनों पर अपना अधिकार जमा चित्तौड़ जा लेने को मन चलाया। महाराणा मुक़ाबले पर आए और गम्भीरी नदी के तट पर घमासान युद्ध हुआ। बर्छे और तीर तलवार के २२ घाव महाराणा के लग चुके थे और युद्ध का परिणाम शत्रु पक्ष के अनुकूल होनेवाला ही था कि अचानक एक सहस्र अश्वारोहियों सहित पृथ्वीराज ऐन मौक़े पर आ धमका; और इस फुर्ती के साथ जी छोड़कर धावा किया कि शत्रु के छक्के छूट गए। मालवी भागे और सूरजमल ने सादड़ी में और सारंगदेव ने बाठरड़े के जंगलों में जाकर

* इसी राव मण्डलीक को गुजरात के सुलतान महमूद बेगड़ा ने विजय कर गिरनार लिया और राव मुसल्मान हो गया था।

दम लिया। पृथ्वीराज उनका पीछा कब छोड़नेवाला था। निरंतर उनको खदेड़ता रहा। अंत में सारङ्गदेव को तो एक देवी के देवालय में बलिदान चढ़ाते वक्त मारा और सूरजमल का काम तमाम करने को सादड़ी पहुँचा। वीर राजपूत प्रायः अपने संबंधी शत्रु को पुकारकर उससे द्वंद्व युद्ध करते थे। परंतु उभय योद्धाओं के आंतरिक भावों में अन्य किसी प्रकार का विकार न रहने से रणांगण से छुट्टी पाने पर उनमें परस्पर खान पान का व्यवहार भी बिना शंका संकोच के हुआ करता था। तदनुसार पृथ्वीराज सूरजमल के साथ भोजन पर बैठा। सूरजमल की स्त्री ने अपने पति से गुप्त रखकर भोजन में विष मिलाया था। परंतु ज्यों ही विष-मिश्रित पदार्थ पर उसके पति का हाथ पड़ा कि तुरंत उसने थाली उनके सामने से खींच ली। अपनी काकी की इस क्रिया का रहस्य पृथ्वीराज जान गया, और साथ ही अर्द्धांगिनी की इस अधर्म-युक्त क्रिया से सूरजमल के चेहरे पर कोप और लज्जा दोनों प्रकट हो आए। पृथ्वीराज ने उसे निर्दोष समझ सप्रेम अंक में भर लिया और बोला—"काका जी! अब यह मेवाड़ का राज्य आपको मुबारक हो"। सूरजमल बोला—"बेटा, गद्दी लेना तो दूर रहा, अब तो मैं मेवाड़ में खड़ा रहकर जल भी न पीऊँगा।"*

पृथ्वीराज को सींगा का पता लग चुका था। वह अपने मार्ग में से उस कण्टक को दूर करने के साथ ही उसके आश्रयदाता करमचंद परमार का दर्प भी चूर्ण कर देना चाहता था। परंतु परमात्मा की गति विचित्र है। भाग्य में तो कुछ और ही बदा था। वह श्रीनगर की ओर पयान करने ही को था कि अनायास उसकी बहन आनंदा कुमारी का पत्र सिरोही से पहुँचा, जिसमें उसने अपने पति के अनुचित व्यवहार और अत्यचार का दुखड़ा रोया था। पत्र पढ़ते ही पृथ्वीराज के तन

* यही सूरजमल कांठल प्रांत में जाकर देवलिये प्रतापगढ़ के राज्य की नींव डालने-वाला हुआ।

मन में ज्वाला सी जल उठी। तत्काल सिरोही को चल पड़ा। आधी रात को वहाँ पहुँचकर महल पर चढ़ गया, और निद्रा-निमग्न राव की छाती पर चढ़कर अपनी कटार उसके कलेजे पर धर दी। आनंदा ने इस दृश्य को देखकर भयभीत मृगी की भाँति भाई से पति के प्राणों की भिक्षा माँगी। भगिनी की विनती से कुँवर ने राव जगमाल को इस शर्त के साथ मुक्त किया कि वह अपनी पत्नी की पगरखी सिर पर धरकर उसके चरण स्पर्श करता हुआ अपने अपराध को क्षमा माँगे। कालानुकूल राव ने सब कुछ स्वीकार किया और काल रूपी व्याल से बचा। फिर तो साले बहनोई परस्पर मित्र से बन गए। तथापि अपना महान् अपमान राव के हृदय में शूल सा खटकता था। दूसरे दिन उसने पृथ्वीराज को गोठ दी और पयान करते वक्त तीन गोलियाँ भेंट कर कहा कि ये अनंगोद्दीपक गुटिका रति-रंग में आनंद देनेवाली हैं। कुंभलगढ़ के पास पहुँचने पर भोले पृथ्वीराज ने वे गोलियाँ खा लीं। थोड़ी ही दूर गया था कि हलाहल ने अपना प्रभाव दिखलाया। मामा-देव के मंदिर तक पहुँचने भी न पाया था कि इतने में गिर पड़ा और पंचत्व को प्राप्त हो गया। तारादेवी अपने पति के साथ सती हुई।

इस प्रकार साँगा जी के सिवा मेवाड़ की गद्दी के दोनों अधिकारियों की समाप्ति का संक्षिप्त वर्णन कर अब फिर साँगा जी के वार्त्ता-सूत्र का ग्रहण करते हैं। बीदा राठौड़ से बिदा हो साँगा जी मारवाड़ की ओर गए। कहते हैं कि असह्य परिश्रम और थकान से घोड़ा तो मार्ग ही में मर गया। तब पैदल किसी चरवाहे की कुटी में जाकर ठहरे, और वहाँ उसके पशुओं को चराकर आपत्काल बिताने लगे। एक बार उस चरवाहे की स्त्री ने किसी भूल के कारण साँगा को बहुत कुछ बुरा भला कहा। इसी प्रकार इंगलिस्तान का राजा ऐलफ्रेड महान् डच लोगों से युद्ध में हारकर अपनी राजधानी से भागा और एक गड़रिए के घर जाकर टिका था। गड़रिए की स्त्री चूल्हे के पास पड़ी हुई रोटियाँ

का ध्यान रखने की आज्ञा देकर बाहर जल भरने को गई थी। ऐलफ्रेड अपनी प्यारी प्रजा और देश के विचार और अपने धनुष बाण के सुधार में इतना तल्लीन हो गया कि उसे रोटियों का स्मरण तक न हुआ और वे जल गईं। गडरिए की भार्या ने आकर देखा कि रोटियाँ जलकर राख हो गई हैं। तब उसने ऐलफ्रेड को बहुत कुछ घुड़का और अपने घर से निकाल दिया। वैसी ही अवस्था साँगा जी की भी हुई। वे चलकर अजमेर में श्रीनगर के परमार राजा करमचंद के यहाँ आ नौकर हुए। करमचंद प्रायः अपने सवारों को लिए आस पास के प्रदेशों में उत्पात मचाया करता था। एक बार साँगा जब दौड़ करके लौटा था, तो ग्रीष्म काल के प्रचण्ड मार्तण्ड की ताप से व्याकुल हो मार्ग में एक वट वृक्ष की छाया में विश्राम करने लगा। थका हुआ तो था ही, निद्रा देवी ने आकर उस पर अपना प्रभाव जमा लिया और वह अपना खड्ग सिरहाने रख सो गया। वृक्ष के पत्तों में से होकर सूर्य्य की किरणें उसके मुखमण्डल पर पड़ने से धूप की झलक आ गई थी। तब एक नागराज ने अपना फन फैलाकर उस धूप को रोक लिया। जयसिंह बालेचा और जग्गा सिंघल नामक दो राजपूत उधर से आ रहे थे। वे यह दृश्य देखकर चकित हो गए और परमार राजा को यह कथा जा सुनाई। साँगा के सेवक द्वारा करमचंद ने जाना कि मेरा अतिथि चित्रकूटाधिपति का पुत्र और मेदपाट मण्डल का भावी भूपाल है। तब तो तुरन्त उसने नम्रतापूर्वक साँगा से अपने अपराध की क्षमा माँगी और अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया। पृथ्वीराज की मृत्यु तक साँगा जी गुप्त रूप से वहीं रहे।

पृथ्वीराज जैसे सुप्रसिद्ध शूरवीर पुत्र की अकाल मृत्यु से महाराणा रायमल शोक सागर में डूब गए और उनकी शारीरिक स्थिति प्रति दिन निर्बल होने लगी। श्रीनगर से साँगा जी को बुलाकर युवराज पद दिया और कर्मचंद को भी उसकी चाकरी के बदले अच्छी जागीर

प्रदान की। मेवाड़ में वम्बोरी का ठिकाना अब तक कर्मचंद की संतान के अधिकार में है। सं० १५६६ वि० में राणा रायमल जी का परलोक-वास हुआ और उसी साल २७ वर्ष की अवस्था में ज्येष्ठ सुदी ५ को साँगा जी राजसिंहासन पर सुशोभित हुए। पहले तो उन्होंने अपने उपकार-कर्त्ता कर्मचंद परमार को अजमेर का राजा बनाकर उच्चतम श्रेणी के सामंतों में स्थान दिया। तदनंतर क्रमशः अपने राज्य के सब आंतरिक विघ्नों का विध्वंस कर जो प्रदेश दूसरों के हस्तगत हो गए थे, उन पर फिर आधिपत्य जमाया। वे भली भाँति जानते थे कि ऐसे अव्यवस्थित काल में सैनिक और सामुदायिक बल बढ़ाने ही से अर्थ-सिद्धि हो सकती है। अतएव अपनी चतुरंगिणी चमू को शक्तिशाली बनाना और सरस राजनीतिक व्यवहार, प्रेम, दान-मानादि उत्तम व्यवहारों से जहाँ तक सम्भव था, राजपुत्रों का मन मोहकर उन्हें अपने पक्ष में लेना ही उनका मुख्य उद्देश्य था। साँगा जी की वीरता और सद्गुणों ने उनके लिये हिंदूपति की पदवी प्राप्त की और केवल क्षत्रिय जाति ही नहीं किंतु सर्व हिंदू समाज उनको परम प्रतिष्ठित समझकर प्रेम और पूज्य भाव से सहर्ष उनका अनुवर्ती रहने में अपना सौभाग्य समझता था। यही कारण था कि उनकी पताका के तले राजस्थान के प्रायः सभी राजा महाराजों ने एकत्र होकर विधर्मी और विदेशियों का राजशासन देश से हटा पुनः स्वतंत्र हिंदू राज्य स्थापित कर देने की अंतिम चेष्टा की थी। दिल्ली, मालवा और गुजरात के मुसलमान बादशाहों के महाराज्यों से मेवाड़ घिरा हुआ था और उनकी सदा यही वासना रहती थी कि किसी प्रकार प्रयत्न करके राणारूपी कण्टक को—जो चिर काल से हमारा मान मर्दन करते आए हैं—अपने पथ में से दूर कर दें। परंतु वीर साँगा ने सब के घमण्ड तोड़ दिए; यहाँ तक कि रणांगण में उनको पराजित कर उनका बहुत सा इलाका छीन लिया; सुलतानों को बँधुआ बनाकर चित्तौड़ गढ़ में रखा,

और उन्हें अपनी धृष्टता का दण्ड देकर पीछे से मुक्त भी कर दिया। नीचे लिखे गीत से इस बात की पुष्टि होती है—

> "इबराहिम पूरब ना पलटै, पछम मुदाफर न दै पयाण।"
> "दखणी महमद साह न दौड़े, साँगो दामण त्रहुँ सुरताण॥"
> "धाह येक दस येक न सामै, विदसन सामै हेक वण।"
> "सुजसै राण रायमल संभ्रम, त्रेस लिया पतसाह त्रण॥"
> "साँई सूरो गमण न सामै लीहनु को लोपवै लग।"
> "बापा हरै बलाक्रम बाँध्या, पतसाहाँ त्रहुँ तणा पग॥"

भावार्थ—राणा रायमल के पुत्र साँगा ने इब्राहीम (दिल्लीपति), मुजफ्फर शाह (गुजराती) और महमूद (मालवी) तीनों बादशाहों के पग बंधन में कर दिए हैं, जिसके कारण ये अपनी अपनी हद से बाहर नहीं निकल सकते। उत्तरी भारत में उस वक्त कोई क्षत्रिय राज्य इतना प्रबल न था जो मेवाड़ की बराबरी कर सकता। आँबेर के कछवाहे मेवाड़ के मातहत थे और मारवाड़ के राठौड़ कुछ शक्ति-संपन्न हो गए थे। परन्तु वीर साँगाजी की कार्यवाहियों ने हिंदू मात्र के हृदय में एक प्रकार के बल और उत्साह का संचार करके सब को आशा बँधा दी कि अब दिल्ली के तख्त का बादशाही झण्डा चित्तौड़गढ़ की सफीलों पर फहरानेवाला है।

दिल्ली के साम्राज्य पर लोदी पठानों का आधिपत्य था और मालवे (गुजरात) में खिलजी और टाँक सुलतान शासन करते थे। सिकंदर लोदी ने दिल्ली से राजधानी आगरे में बदल दी थी। उसके अन्याय व इबराहीम शाह की क्रूरता व अत्याचार के कारण प्रजा परेशान थी। पठानों की शक्ति का प्रति दिन ह्रास होता जाता था। सूबे स्वतंत्र बनने लग गए थे और चारों ओर से उपद्रवियों ने सिर उठा रक्खा था। ऐसे अवसर पर साँगा जी जैसे वीर और पुरुषार्थी

महाराजाधिराज के मन में दिल्ली का तख्त लेने की इच्छा उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था।

सं० १५१७ ई० में जब इबराहीम शाह लोदी तख्त पर बैठकर अपने उमरा का उपद्रव शमन करने में तत्पर हो रहा था, उसने सुना कि महाराणा साँगा ने कई इलाके दबा लिए हैं। वह सेना सजकर मेवाड़ पर चढ़ आया। हाडोता में खातोली के पास महाराणा से युद्ध हुआ। दोपहर तक लोहा बजता रहा। अंत में पठान सेना ने पीठ दिखाई। एक लोदी शाहजादा बंदी हुआ जिसे महाराणा ने दण्ड लेकर मुक्त कर दिया। इस युद्ध में साँगा जी के बाएँ हाथ पर तलवार का और एक पाँव में तीर का घाव लगा था। फिर सं० १५१८ ई० में इबराहीम शाह ने इसलाम खाँ के उपद्रव का शमन करके अपनी हार का बदला लेने को मियाँ हुसैन जरबख्श खानखानाँ फर्मूली व मियाँ मारूफ को मियाँ माखन की अध्यक्षता में सबल सैन्य देकर मेवाड़ पर भेजा था। कारणवशात् मियाँ हुसैन महाराणा का शरणागत हुआ और मियाँ माखन बुरी तरह हारकर भागा। तारीख सलातीन अफगाना में मियाँ हुसैन के विश्वासघात से पहले बादशाही फौज का हारना और फिर अचानक धावा करके राजपूतों पर विजय पाना लिखा है जो विश्वसनीय नहीं; क्योंकि उसी समय की लिखी हुई तारीखे दाऊदी और वाकेआत मुश्ताकी में विजय का कुछ भी वर्णन नहीं है। हुसैन के लिये केवल इतना ही लेख है कि सुलतान के हुक्म से वह चँदेरी में धोखे से मारा गया और घातक को बादशाह ने ७०० अशरफी का इनाम और दस गाँव जागीर में दिए। यदि विजय हुई होती तो बयाने के आगे पीलेखाल (आगरे के पास) तक साँगाजी के राज्य की सीमा कैसे रह सकती थी। फारसी तवारीखों में प्रायः ऐसा देखा गया है कि जहाँ कहीं इसलाम की सेना को हार हुई, तो प्रथम तो मुवर्रिख ने अपनी तारीख में उस घटना को जगह ही नहीं दी; और जो कहीं

दी भी तो ऐसे शब्दों में—"बरसात का मौसम आ जाने से सुलतान ने फौज हटा ली, या किसी बगावत का हाल सुनकर मुड़ गया, गढ़ की मजबूती देखकर उसे दूसरे साल फतह करने के लिये छोड़ दिया, या नजर नजराना लेकर लौट गया, इत्यादि इत्यादि।" *

मालवे के सुलतान महमूद खिलजी के सामन्त उससे बिगड़े हुए थे और सुलतान को अपनी सत्ता ही का नहीं किंतु प्राणों का भी भय हो जाने से वह माँडूगढ़ में जा बैठा। उमरा ने मुहाफिज खाँ की सरदारी में खुल्लमखुल्ला बगावत का झण्डा खड़ा कर महमूद के भाई साहब खाँ को तख्त पर बैठा दिया। तब सिकंदर शाह लोदी ने महमूद को सहायता दी थी। परंतु मालवे का जो विभाग उसने साहबखाँ से छुड़ाया, उसको दिल्ली की बादशाहत के शामिल कर लिया था। इबराहीम शाह पर फतह पाने से वह सारा प्रांत महाराणा साँगाजी के अधिकार में आ गया। भिलसा रायसेन और चँदेरी के दो बड़े राज्य उस विभाग में थे जो महाराणा ने वहाँ के राजा सलहदी तँवर † और मेदनी राय को बहाल रख उनको अपने सामन्तों की श्रेणी में दाखिल किया। बगावत के वक्त मेदनी राय ने सुलतान महमूद को बड़ी सहायता दी थी। उसी के कारण सुलतान के प्राणों की रक्षा हुई। अर्थात् महमूद जब माँडू को जाता था तो मार्ग में बागी उमरा ने उसे घेर लिया। परंतु मेदनी राय और उसके राजपूतों ने जान पर खेलकर सुलतान पर आँच न आने दी और अरिदल का संहार कर सुलतान को सही सलामत माँडू पहुँचा दिया। जब मेदनी मालवे का कर्ताधर्ता हो गया, तब उसने ४० सहस्र राजपूतों का दल जोड़ लिया और उनके द्वारा बागी साहब खाँ

---

* कर्नल टाड ने यह युद्ध बाकरोल के मुकाम में होना लिखा है और बाकरोल को हमीरगढ़ का पुराना नाम बतलाया है।

† कर्नल टाड लिखता है कि चन्देरी राणा साँगा ने बाँधोगढ़ के मुकुंद बघेले से ली थी और मोहणोत नैणसी की ख्यात से भी इसकी पुष्टि होती है।

(उपनाम मुहम्मद शाह) की ही कमर न तोड़ी, किंतु सुलतान महमूद की सत्ता भी पुनः पूर्ण रूप से स्थापित कर दी थी।

एशियाई राज्यों में स्वार्थी लोग एक दूसरे की घात में लगे रहकर राजा महाराजों के कान भरते रहते और टंटे खड़े किया करते हैं। राजदरबारों की इस खटपट और राजा लोगों के कच्चे कानों के कारण प्रायः स्वार्थियों के तीर लक्ष पर जा लगते हैं। तदनुसार दूसरे उमरा ने मेदनी राय के विरुद्ध सुलतान को भड़काना आरंभ किया कि उसने तो आपको नजरबंद सा बना रक्खा है; अवसर पाकर बादशाहत छीन लेगा। अपनी मानसिक निर्बलता और अदूरदर्शिता से महमूद भी उनके फेर में पड़ गया और वह कृतघ्न मेदनी के उपकारों को भूलकर उसे मार डालने में उसके शत्रुओं से सहमत हुआ। तलवार चलाई, परंतु वार खाली गया और चरका खाकर मेदनी अपनी राजधानी में जा बैठा। उसके राजपूतों ने अनुरोध किया कि ऐसे दुर्बल राजा को तो राज्यच्युत कर देना ही उचित है; परंतु वह वीर क्षत्री फिर भी अपने धर्म में अटल बना रहा। पापी पुरुष का मन भय और लज्जा से सदा काँपता रहता है। इस न्याय से सुलतान महमूद को विश्वास हो गया कि मेदनी अवश्य मुझसे बदला लेगा। अतएव भयभीत होकर वह गुजरात की ओर भागा। दोहद के हाकिम ने शिष्टाचारपूर्वक उसका यथेष्ट आदर सत्कार किया और अपने स्वामी सुलतान मुजफ्फर शाह गुजराती के पास उसके आगमन की सूचना भेजी। मुजफ्फर ने श्वेत छत्र और लाल डेरे, और बहुत सी सेना भी महमूद के पास भेज दी। थोड़े ही समय पीछे आप भी वहाँ पहुँच गया और उसे साथ लेकर मालवे की ओर प्रयाण किया। पर मेदनी राय ने महमूद के विरुद्ध बुरा विचार तक न बाँधा था, इसलिये इस प्रकार मालवा देश के राजसिंहासन की अपकीर्ति होने से उसे बड़ा खेद हुआ। सुलतान की अनुपस्थिति में उसने हरमसरा की बेगमों के साथ भी,

जिनको महमूद माँडूगढ़ में छोड़ गया था, अच्छा बर्ताव किया था
राजकाज भी बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ चलाया था। भरे दरबार में वह पु
पुकारकर कहा करता कि सुलतान को लिख दिया जाय कि वह अ
अपना राज सँभाले और दूसरा प्रधान नियत कर ले। इतने पर
जब उसने सुलतान को अपने प्रतिकूल ही पाया तो लाचार माँडू में
सेना छोड़कर आप महाराणा साँगा की शरण गया। महाराणा उस
साथ लिए हुए अपनी सीमा तक आए भी, परंतु जब सुना कि सु
तान महमूद माँडू में दाखिल हो गया है तो लौट गए, और मेद
राय को जागीर में गागरून प्रदान किया। सुलतान मुजफ्फर भी
सफ़ों की अध्यक्षता में अपनी थोड़ी सेना महमूद के सहायतार्थ छो
आप गुजरात की ओर कूच कर गया।*

---

* यह कथन बेली साहब की तारीखे गुजरात और फरिश्ता का है जो हरबिलास
सारडा ने अपनी अँगरेजी पुस्तक राणा साँगा के पृष्ठ ६३-६४ में लिखा है। परंतु मिराते सिकंदर
और तारीख बहादुरशाही का बयान भिन्न प्रकार से है—मालवे के सुलतान महमू
खिलजी (दूसरे) के शासन काल में राजपूतों ने मालवे में बहुत ज़ोर पकड़ लिया था
चंदेरी का राजा मेदनी राय, जो सुलतान का प्रधान था, सुलतान को अपने काबू में कर मा
मुल्क का मालिक बन बैठा। मौका पाकर सुलतान उसकी कैद से निकल भागा और मुज
फ्फर शाह गुजराती के पास पहुँचकर उसे अपनी मदद के वास्ते मालवे लाया। फरिश्ता के
बयान के अनुसार महमूद ने भागकर माहेश्वर में पनाह ली थी। मुजफ्फर शाह ने महमूद
के वास्ते श्वेत छत्र और लाल डेरे भेजे और सेना को भी सहायतार्थ रवाना कर पीछे से आप
भी आ पहुँचा। दोनों ने मिलकर कई लड़ाइयों में राजपूतों को शिकस्त दी। मेदनी राय
माँडूगढ़ में चला गया था। फिर वहाँ अपने बेटे भीमराय (मिराते सिकंदरी में नाथू लिखा है)
को छोड़कर आप महाराणा साँगा के पास मदद को गया। इस बीच में भीमराय सुलतान
से किला खाली कर देने के बहाने दिन बिताता रहा। क्योंकि महमूद की हरमसरा की बहुत
सी बेगमें और दूसरी औरतें माँडू के गढ़ में थीं, इसलिये उनके बचाव के वास्ते भीमराय की
बात मानकर सुलतान मुजफ्फरशाह से थोड़ी दूर अपना लश्कर हटा ले गया। परंतु जब उसे
खबर मिली कि राणा निकट आ पहुँचा है तो बुर्हानपुर के हाकिम आदिल खाँ और किवा
मुल् मुल्क को तो राणा की राह रोकने को रवाना किया और आप वापस माँडू गया। चार
दिन रात बराबर हमले करता रहा। पाँचवें दिन गढ़ फतह हुआ। राजपूत अपनी औरतों
व बाल बच्चों को आग में जलाकर मैदान जंग में कूद पड़े और बड़ी बहादुरी के साथ लड़

मेदनी राय का इस तरह अछूता निकल जाना और साँगा जी का उसकी सहायता पर आना सुलतान महमूद को न भाया। उसने असफ खाँ की कुमकी सेना को साथ ले गागरून पर चढ़ाई कर दी जो उस वक्त मेवाड़ के अधिकार में था। अपने परिजन और प्रजा की रक्षा करने और महमूद को अपनी धृष्टता का मजा चखाने के वास्ते महाराणा अपनी सेना इकट्ठी कर चित्तौड़ से रवाना हुए। मेड़ते का राव वीरम देव राठौड़ भी सेना सहित साथ में था। दोनों दलों के योद्धा युद्ध के लिये उत्सुक हो रहे थे। गुजराती अफसर असफ खाँ और दूसरे मालवी सरदारों ने भी सुलतान महमूद से कहा कि इस अवसर पर लड़ाई करना अच्छा नहीं है; परंतु उसने न माना। थोड़ी ही देर में राजपूतों के चंद्रहास ने सुलतान की सेना के कई योद्धाओं को धराशायी कर दिया। यद्यपि पठान बड़ी वीरता के साथ लड़े, परंतु राजपूतों के प्रहार और मार के आगे उनके पैर उखड़ गए और उन्होंने पीठ दिखाई। असफ खाँ का एक बेटा मारा गया और स्वयं उसने बड़ी कठिनता से भागकर अपने प्राण बचाए। केवल दस सवारों से सुलतान रणक्षेत्र में डटा हुआ वीरता के साथ शत्रु से लड़ता रहा। तीर तलवार बर्छे के ५० घाव उसके शरीर पर लगे। अंत में वह अचेत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा और कैद हो गया। जब महाराणा ने सुना कि सुलतान मुर्दों के ढेर में घायल पड़ा हुआ है, उस वक्त यदि वे वैसा बर्ताव करते जैसा

कर काम आए। फरिश्ता और मिराते सिकंदरी के मुवर्रिख इस लड़ाई में १९ हजार राजपूतों का कत्ल होना लिखते हैं और तारीख बहादुरशाही में चालीस हजार की संख्या [illegible] है। (ये संख्या अत्युक्ति से खाली नजर नहीं आती) माँडू फतह होने की खबर सुन महाराणा पीछे फिर गए। यह समाचार राणा को एक घायल राजपूत ने पहुँचाए जो माँडू से आया था। लड़ाई का हाल बयान करते [illegible] उसे इतना जोश आया कि उसके घाव फट पड़े और उनमें से रुधिर बहने लगा जिससे वह उसी जगह राणा के रूबरू मर गया। मेदनीराय निराशा के समुद्र में डूबकर आत्मघात करने पर उतारू हुआ। परंतु महाराणा उसे समझा बुझाकर अपने साथ चित्तौड़ ले आए। माँडूगढ़ में मुजफ्फर शाह के साथ मेदनी राय के राजपूतों का युद्ध होना और उन्हें परास्त कर सुलतान का माँडूगढ़ को लेना विश्वसनीय है।'

कि विजयी मुसलमान सरदार अपने विधर्मी बंधुओं के साथ किया करते थे, तो अवश्य अपने एक परम शत्रु को अपने पथ में से दूर कर सदा का उपद्रव मिटा देते और उसके राज्य पर अपना अधिकार कर लेते, जो राजनीतिक रीति से भी अनुचित नहीं था। परंतु साँगा जी की वीरता, उदारता और धर्म ने इस मंतव्य को न माना। वे सुलतान को उठवाकर अपने शिविर में लाए, और आराम के साथ उसे चित्तौड़ ले जाकर घावों की मरहम पट्टी कराई। तीन मास तक चित्तौड़ में कैद रखकर सुलतान होशंग का जड़ाऊ ताज और कमरबन्द दंड में ले मॉंडू का राज्य उसी को वापस दे दिया और अपने राजपूत साथ देकर उसे अपनी राजधानी में पहुँचाया। *

---

* महाराणा साँगाजी की इस अनुपम उदारता व असीम दया की बड़े बड़े नामी और कुराण मुसलमान इतिहास-वेत्ताओं ने भी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। शाहंशाह अकबर के वज़ीर लोकप्रसिद्ध विद्वान अब्दुलफज़ल ने राणा की दरिया दिली और दिलेरी के लिये बहुत कुछ लिखा है। "तबकाते अकबरी" के रचयिता निज़ामुद्दीन अहमद ने भी राणा की ऐसी उदारता को अपूर्व और अलौकिक बतलाया है। परंतु अभी मौलवी नजमुलगनी रामपुरी ने एक किताब "कारनामें राजपूतान" के नाम से उर्दू में छपाई है। उसमें आप लिखते हैं—"महमूद को यह शिकस्त एक गलती के कारण मिला, और साँगा ने इस दहशत से महमूद को छोड़ दिया कि जो मैं उसे कैद रखूँगा तो दूसरे मुसलमान सुल्तान छेड़ छाड़ करेंगे।" भला पाठक आप ही विचारिए कि जिस साँगा ने दिल्ली, गुजरात और मालवे के सुलतानों को अनेक बार शिकस्त दी थी, उसे उनका क्या भय था। परंतु पक्षपाती और दुराग्रही गुण ग्रहण नहीं करते। कारनामे के लेखक को यदि राजपूतों के इतिहास का सामान्य ज्ञान भी होता तो वह ऐसा फैसला नहीं देता। वीर चार प्रकार के होते हैं—युद्ध वीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर। मेरे नज़दीक तो चारों प्रकार की वीरता साँगाजी में मौजूद थी। उनका युद्धवीर होना तो प्रसिद्ध ही है। दान में वे इतने बढ़े हुए थे कि एक बार उन्होंने अपना सारा राज्य अपने बारहट हरीदास को बख्श दिया, जिसकी साक्षी का गीत हरिदास का कहा हुआ यों है—

"धन साँगा बाल हमीर कलोधर, गौरी वै मोखण ग्रहण।"
"गढ़ आपियाल बढ़े गढ़ पतियाँ, तो ज्यूँही रायमलतण।"
"दे गज गाय कोड़ हैवर द्रव्य अथपत दलचकवै ऊनमान।"
"सिंहासण छत्र,चमर सहेतो, दूजै किणी न दीधो दान।"

दिल्ली और मालवावालों के साथ हिंदूपति साँगाजी की कार्यवाहियों का ऊपर थोड़ा सा वर्णन किया गया है। अब गुजरात की कथा सुनिए। ईडर का राज्य गुजरात की सीमा पर है। वहाँ का राव भाण अपने

"रजवट रीझ खोज धन राणा, लड़ महमुर सुरताण लिया।"
"खित चित्रकोट कन्या खूमाँणा, दिग विजयी तैं रीझ दिया।"
"सबलाँ सोड़ निबल साधारण, अवजे तू साँगा वर वीर।"
"किवं राणा कीधा कैचपुरा, हिंदवाणा खिवियां हमीर।"

विजय की हुई धरती के बड़े बड़े राज्यों को अपने राज्य में मिला लेने का लोभ न करके उनके अधिकारियों ही को प्रदान कर देना साँगाजी की शक्ति-सम्पन्नता का प्रत्यक्ष उदाहरण है। विशेष क्या कहें, उनके दान और दया का क्या यह एक उत्कृष्ट निदर्शन नहीं है कि माँडू का महाराज्य विजय करके उन्होंने सुलतान महमूद को वापस दे दिया? इस विषय की एक वार्ता प्राचीन ख्यात में है कि एक बार सुलतान महमूद सहित महाराणा अपने दरबार में (चित्तौड़गढ़ में, जहाँ सुलतान कैद था) बैठे हुए थे। महाराणा के हाथ में एक पुष्प-गुच्छक था। वह उन्होंने सुलतान को देना चाहा। शिष्टता और सभ्यता के साथ सुलतान ने निवेदन किया कि देना दो प्रकार से होता है। एक तो दाता अपने हाथ को ऊपर रखकर दे; और दूसरे, हाथ नीचे रखकर भेंट करे। यदि आप प्रथम रीति से यह उपहार मुझको दान करते हैं, तब तो मेरा पद और प्रतिष्ठा उसे ग्रहण करना गवारा नहीं करती और दूसरी रीति से लेना मेरी शक्ति के बाहर है। सुलतान की इस उक्ति से महाराणा बहुत प्रसन्न हुए और यह कहकर वह गुच्छक सुलतान को दिया कि इसके साथ हम माँडू का राज्य भी आप को वापस देते हैं। तब तो सुलतान ने सहर्ष नम्र-मस्तक होकर वह गुच्छक ले लिया। दयावीर होना इससे स्पष्ट है कि चंगुल में फँसे हुए शत्रुओं को अभय प्रदान कर देते थे। वास्तव में दुश्मन पर दया दिखलाना राजनीतिक सिद्धांत के विरुद्ध है। मुसलमानों ने जब जब और जहाँ जहाँ अपने शत्रुओं पर विजय पाई, प्राय उनके प्राण ही लिए। जैसे कि वीर पृथ्वीराज चहुवाण ने सुलतान शहाबुद्दीन गोरी को परास्त कर बन्दी बनाया और मुक्त कर दिया। परंतु ज्यों ही पृथ्वीराज गोरी शाह के हाथ आया कि उसकी गर्दन पर छुरा चला दिया गया। दाँव पर चढ़े हुए सुलतान अलाउद्दीन खिलजी को राणा अजयसिंह ने छोड़ दिया। परंतु राणा के साथ विश्वासघात करने में अलाउद्दीन न चूका। क्षत्रिय वीरों की उदारता के ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि महमूद को मुक्त करके साँगाजी ने अपनी जाति और अपने देश को बड़ी हानि पहुँचाई। परंतु सच्चा वीर धर्मी नैतिक छल प्रपंचों द्वारा अर्थ-सिद्धि करने की अपेक्षा अपनी उज्ज्वल कीर्ति को चिर-स्थायी करने की विशेष इच्छा रखते हैं। उनको युद्ध जीतने की उतनी अभिलाषा नहीं रहती जितनी कि युद्ध में वीरगति प्राप्त करने की रहती है।

सूरजमल और भीम नामक दो पुत्र छोड़कर काल-प्राप्त हुआ। सूरजमल केवल १८ मास ही राज करने पाया था कि मृत्यु का दूत आ पहुँचा। उसका बेटा रायमल महाराणा साँगा का जमाई था। जब सूरजमल मरा तो उसका भाई भीम गद्दी पर बैठ गया; और भीम के पीछे उसके पुत्र भारमल को गद्दी मिली। रायमल अपना हक़ पाने के अभिप्राय से साँगाजी की शरण गया। उन्होंने भारमल को निकालकर रायमल को राज्य दिला दिया। भारमल अपनी पुकार गुजरात के सुलतान मुजफ्फर शाह के पास ले गया। सुलतान ने अहमदनगर के हाकिम निज़ामुल् मुल्क को आज्ञा भेजी कि रायमल को निकालकर भारमल को ईडर दिला दो। निज़ामुल् मुल्क सेना लेकर आया। रायमल ने लड़ाई की; परंतु हारकर पहाड़ों में भागा। वहाँ भी निज़ाम ने उसका पीछा किया। रायमल ने अचानक छापा मारा, जिसमें शाही सेना के कई नामी नामी आदमी मारे गए और निज़ाम ने पराजित होकर पीठ दिखाई। रायमल को ईडर से निकाल देने से निज़ामुलमुल्क को बड़ा अभिमान हो गया था। एक दिन किसी भाट ने उसके सामने महाराणा साँगा की प्रशंसा की थी जिससे चिढ़कर निज़ाम ने भाट को बहुत कुछ बुरा भला कहा और महाराणा की शान में भी कई अपशब्दों का उच्चारण किया। जब यह वृत्तांत महाराणा के कान तक पहुँचा तो उन्होंने गुजरात पर चढ़ाई कर निज़ाम का मद-मोचन करना ठान लिया। वे चालीस सहस्र सवारों की सेना ले ईडर पर जा चढ़े। रावल उदयसिंह वागड़ी, राव गाँगा और वीरमदेव मेड़तिया भी साथ थे। जब निज़ाम ने सुना कि साँगा आता है, तो भय खाकर ईडर छोड़ अहमदनगर को भाग गया। ईडर फिर रायमल को दिलाकर निज़ाम का पीछा करते हुए महाराणा भी अहमदनगर पहुँचे। जिस भाट ने निज़ाम या नसरतुलमुल्क के सामने साँगाजी का यश गाया था, उसने अहमदनगर पहुँचकर उससे कहा कि देखी तुमने साँगा की तलवार, जिसके

भय से अब भागे भागे फिरते हो ? अब भी यदि गढ़ खाली करके अहमदाबाद चले जाओ तो राणा जी अपने घोड़े को गढ़ के नीचे पानी पिलाकर लौट जायँगे। निजाम ने फिर आवेश में आकर लड़ाई पर कमर बाँधी। इस बार भी उसके कई योद्धा खेत हुए। फिर तो उसने अहमदाबाद में जाकर ही दम लिया। मुहणोत नैणसी लिखता है कि इस युद्ध में महाराणा के सामंतों में से डूँगरसिंह चहुवाण बड़ी वीरता के साथ लड़ा और घावों से भर जाने तक अपने कराल करवाल से शत्रुओं को काटता रहा। डूँगर के पुत्र कान्हसिंह ने भी वैसा ही अद्वितीय शौर्य्य प्रकट किया जैसा कि बल्लू शक्तावत ने राणा अमरसिंह (प्रथम) के समय में ऊंटाले के रणक्षेत्र में दिखलाया था। अर्थात् गढ़ के द्वार पर लगे हुए लोहे की तीक्ष्ण कीलों पर अपनी पीठ टेककर हाथी से मोहरा करवाया, जिससे दरवाजा टूटा और महाराणा की सेना गढ़ में घुस गई। महाराणा ने बदनोर का परगना डूँगरसिंह को जागीर में दे रखा था। इसी युद्ध के वर्णन में मिस्टर फार्बस ने अपनी पुस्तक रासमाला में लिखा है—"राजपूतों की वीरतापूर्ण हाँक से इसलाम सेना की सफें टूट गईं; सुलतान के कई नामी नामी अफसर मारे गए; मुबारजुलमुल्क भी घायल हुआ, और उसके हाथी छिन गए; और सारी सेना अस्तव्यस्त होकर अहमदाबाद की ओर भागी। राणा साँगा ने आस पास के प्रदेश सुखपूर्वक लूटे।" अहमदनगर लूटता हुआ राणा बड़नगर पहुँचा। वहाँ के निवासियों ने दीनतापूर्वक प्रार्थना की कि हम तो ब्राह्मण हैं; हम पर दया कीजिए। दयावीर साँगाजी ने उनको किसी प्रकार का कष्ट न दिया और वीसलनगर आए। वहाँ का हाकिम हातिमखाँ लड़ाई में मारा गया। गुजरात को तहस नहस करते हुए राणाजी चित्तौड़ पहुँचे। सुलतान मुजफ्फ़र शाह बन्दी की भाँति मुहम्मदाबाद में पड़ा रहा। उसे हिम्मत न हुई कि राणा के सन्मुख होकर अपने देश और प्रजा की रक्षा करे।

जब महाराणा अपनी मान-हानि का मनमाना बदला लेकर मेवाड़ में दाखिल हो गए, तब अपने देश और दल बल की दुर्गति से लज्जित सुलतान मुजफ्फर अपने रक्षित स्थान से निकला और बदला लेने की दृढ़ प्रतिज्ञा करके सन् ९२७ हि० सं० १५७७ वि० में उसने बड़ी तय्यारी करके एक लाख सवार और एक सौ जंगी हाथियों का जर्रार लश्कर जबर्दस्त तोपखाने सहित मलिक अय्याज की मातहती में चित्तौड़ पर भेजा। इसके अतिरिक्त बीस सहस्र सवार किवामुलमुल्क को कुमकी सेना की भाँति देकर अय्याज के साथ किया; और विशेष सैन्य एकत्र करने और परिणाम की प्रतीक्षा करने के निमित्त आप अहमदनगर में ठहरा रहा। तबक़ाते अकबरी का रचयिता लिखता है कि वहाँ से फिर बहुत सा लश्कर निज़ामुलमुल्क और वेख़ख़ाँ की सरदारी में सुलतान ने मलिक अय्याज़ के पास भेजा था। डूँगरपुर बाँसवाड़े को फूँकते हुए मलिक ने महाराणा के राज्य में प्रवेश किया। हिरोल के अफ़सर शुजाउलमुल्क और सफ़दरख़ाँ के साथ डूँगरपुर के रावल उदयसिंह ने युद्ध किया; परंतु परास्त हुआ। मलिक अय्याज ने मंदसोर पर घेरा डाला; और वहीं मालवे का सुलतान महमूदशाह भी दल बल सहित उससे आ मिला। अशोक मल्ल, जो राणा की तरफ से मंदसोर में किलेदार था, शत्रु के सम्मुख होकर काम आया; परंतु गढ़ गुजरातियों के हाथ न लगा। सलहदी पुरबिया सुलतान महमूद के साथ था। संधि की बात चीत चली; परंतु उभय पक्षवालों ने अपनी अपनी टेक न छोड़ी। किवामुलमुल्क हमला करने पर तुला हुआ था। मिराते सिकंदरी में लिखा है कि मुसलमान उमरा मलिक अय्याज का श्रेय नहीं चाहते थे; इसलिये गढ़ लेने में सफलता न हुई। यहाँ भी फारसी तवारीख़ वैसी ही अविश्वसनीय बात लिखकर वास्तविक घटना का गोपन करते हैं। यह कथन कि सुलतान महमूद खिलजी ने मलिक अय्याज के विरुद्ध कार्यवाही करने से किवामुलमुल्क को रोका

और राणा ने अधीनता स्वीकृत कर ली, इसलिये अय्याज संधि करके खिलजीपुर को लौट गया, कहाँ तक सही समझा जा सकता है ? भला जो अय्याज अपने स्वामी के सन्मुख ऐसी शेखी बघारकर आया था कि "मैं राणा को जीता पकड़कर हाजिर कर दूँगा", यदि उसे विजय की कुछ भी आशा होती, तो कब सम्भव था कि लाखों लश्कर साथ होते हुए वह इस तरह बिना युद्ध किए लौट जाता ? उसे निश्चय हो गया कि साँगा के संमुख मेरी दाल नहीं गलेगी और लड़ाई का परिणाम अच्छा नहीं होगा। तब दुर्दशा-ग्रस्त होकर लौटने की अपेक्षा संधि कर लेने में ही कुशल है। इसके अतिरिक्त यदि राणा ने दबकर संधि की होती तो अवश्य कुछ नगद नज़राना आदि दिया जाता। परंतु मिराते सिकंदरी में केवल इतना ही लिखा मिलता है कि सलहदी अपने दस सहस्र सवारों को लेकर राणा से मिल गया; इसलिये गढ़ फतह नहीं हो सका और राणा ने असदुलमुल्क से छीने हुए हाथी और अहमद-नगर की लूट का माल वापस भेज दिया।

सुलतान महमूद भी अपने अपमान का बदला लेने की आशा से आया था; परंतु वह तो पहले से साँगाजी के हाथ देखे हुए था। इसलिये अपने बेटे को, जो राणाजी के पास ओल में था, मुक्त करा कर जैसा आया था, वैसा ही वापस चला गया। रासमाला का रचयिता फार्बस साहब सत्य लिखता है कि चाहे मुसलमान मुवर्रिख कितनी ही डींगें मारें कि हिंदू राजा कुचल दिए गए, और चाहे मुसलमान बादशाहों ने हिंदुओं पर घोर अत्याचार करके उनका रक्तपात करने में कमी न की हो, तथापि यह तो निस्सन्देह और प्रत्यक्ष है कि उन्हीं राजा महाराजों की सन्तानें अनेक आपत्तियाँ उठाने पर भी आज तक उसी भूमि पर आधिपत्य रखती हैं जहाँ से उनके शत्रुओं ने उनको उच्छिन्न कर देना चाहा था।

मुजफ्फर शाह ने अपने ज्येष्ठ पुत्र सिकंदर को अपना उत्तराधिकारी

बना दिया था। परंतु दूसरे बेटे बहादुरखाँ को भी बादशाह बनने की उत्कण्ठा लगी हुई थी। किसी ढब से यह भेद सिकंदर पर खुल गया। तब तो प्राणों के भय से बहादुर भागकर महाराणा साँगाजी की शरण में आया। महाराणा ने भी अपनी स्वाभाविक उदारता और शरणागत की रक्षा के अपने वंश-परंम्परा के धर्म के कारण बहादुर को यथोचित आदर सत्कार से अपने पास रक्खा, और राजनीतिक व्यवहार पर कुछ ध्यान नहीं दिया। महाराणा की माता का बहादुर पर बड़ा प्रेम हो गया था और वे उसे अपने पुत्रवत् ही समझती थीं। एक बार महाराणा के एक भतीजे ने बहादुर को भोज दिया। नाच रंग की महफिल हुई। उस वक्त वेश्याओं में से एक के रूप रंग पर बहादुर ऐसा लुब्ध हो गया कि उसके अति समीप जाकर उसे घूरने लगा। मेजबान ने पूछा—"आप इसको पहचानते हैं" ? उत्तर दिया—" नहीं। कहिए, यह कौन है ?" कहा कि यह अहमदनगर के काजी की बेटी है। जब वह नगर विजय हुआ, तब काजी तो मारा गया और उसकी बहू बेटियों को राजपूत कैद कर लाए थे। यह सुनते ही बहादुर के कोप का पार न रहा। तुरंत तलवार खींचकर महाराणा के भतीजे का मस्तक उड़ा दिया। राजपूतों ने तत्काल उसे घेर लिया; और यदि महाराणा की माता ने न बचाया होता, तो वहीं उसकी बोटी बोटी बिखर जाती। महाराणा ने भी बहादुर का अपराध क्षमा किया और फिर वह मेवात की तरफ चला गया। यह वही बहादुर था जो फिर बहादुर शाह बनकर गुजरात के तख्त पर बैठा था, और जिसने हिंदूपति के उस अनन्य उपकार का बदला परम कृतघ्नता के साथ दिया। सच है, कृतघ्नों पर दया करने का परिणाम विषैले नाग को पालकर दुग्ध पान कराने के तुल्य है। मुजफ्फर शाह के तीसरे और चौथे पुत्र लतीफ और चाँदखाँ के साथ भी सिकंदर वैसा ही द्वेष रखता था

जैसा कि बहादुर के साथ; इसलिये उसके बादशाह बनते ही उन दोनों का भी जीना दूभर हो गया। महाराणा साँगाजी के सिवा उस वक्त और कोई ऐसा शक्तिशाली नहीं था जो उनकी रक्षा कर सकता; इसलिये वे दोनों भी उन्हीं के पास आकर शरणागत हुए। सिकंदर शाह ने मलिक लतीफ (शरजखाँ) नामी अपने सेनापति को सेना सहित उनकी गिरिफतारी के लिये भेजा। परंतु सबल का शरणागत सहज में कब हाथ आता है। किसी कवि ने कहा है—" केहर केस भुयंग मिण शरणागत सबलेस"। "सती दान अरु कृपणधन पड़सी हाथ मुवाँह।" महाराणा ने अपने एक सामंत को मलिक लतीफ के मुकाबले पर भेजा। युद्ध में अपने १७०० योद्धाओं सहित लतीफ खेत पड़ा, और शेष सेना कठिनता के साथ गिरती पड़ती गुजरात पहुँची।

पहले लिख आए हैं कि इबराहीम शाह लोदी के शासन काल में कई पठान सामन्तों के स्वतंत्र बन बैठने से परस्पर के वैर-वैमनस्य, लड़ाई-झगड़े और अशान्ति की आग खूब भड़क रही थी। उस वक्त लाहौर के सूबेदार दौलतखाँ लोदी ने मुगल वंश के जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर बादशाह को काबुल से हिंदुस्तान में बुलाया। इसके पहले भी वह पंजाब तक आया था; परंतु समय अनुकूल न होने से लौट गया था। वह अपनी दिनचर्य्या में लिखता है—"महाराणा साँगा ने भी मेरे पास सँदेसा भेजा था कि यदि आप हिंदुस्तान में आकर दिल्ली का राज्य लें, तो मैं इबराहीम शाह से आगरा ले सकता हूँ; और यही हम दोनों के राज्य की सीमा रहे।" इसके अतिरिक्त इबराहीम शाह के काका अलमखाँ या अलाउद्दीन ने भी काबुल जाकर उसका ध्यान इस बात पर आकर्षित किया था कि वह दिल्ली का तख्त अलम को दिलवाने में सहायक हो, जिसके बदले में पंजाब का सारा प्रदेश उसको दिया जायगा। बाबर ने अलमखाँ

को भी अपने सेनापति द्वारा सहायता पहुँचाई; परंतु अलम युद्ध में इबराहीम शाह से हार गया। अंत में बाबर ने देखा कि भारत में फूट का प्रबल राज्य हो रहा है, और यह समय उधर जाने के लिये अति ही अनुकूल है। वह केवल १२००० सवारों को साथ ले सिंधु नद उतरा। दिल्ली तक पहुँचते पहुँचते उसकी सैन्य-संख्या सत्तर सहस्र तक पहुँच गई। पानीपत के प्रसिद्ध युद्धक्षेत्र में ता० २९ अप्रेल सन् १५२६ को इबराहीम शाह लोदी के साथ युद्ध हुआ। इबराहीम शाह मारा गया, उसकी फौज परजित होकर भागी और बाबर दिल्ली में तख्त पर बैठा।

यहाँ थोड़ा सा वर्णन बाबर के पूर्व जीवन चरित्र का इसलिये करना उचित समझता हूँ कि उसके पढ़ने से पाठकों को निश्चय हो जाय कि दृढ़ता के साथ आपत्तियों का मुकाबला करनेवाले शूरवीर और साहसी पुरुषों को परमात्मा पर भरोसा रखकर पूर्ण पुरुषार्थ के साथ काम करने से परिणाम में सफलता होकर उनका अभ्युदय होता ही है। बाबर भी कर्मवीर और आपत्तियों की शाला में सबक लेकर धीर, गम्भीर और पक्का अनुभवी हो गया था। नेपोलियन बोनापार्ट की नाईं उसके कार्य्य-कोष में भी "असम्भव" शब्द का प्रयोग नहीं पाया जाता। मातृपक्ष में बाबर का सम्बन्ध प्रसिद्ध और प्रचण्ड तातारी सरदार चंगेज खाँ से था; और पितृपक्ष में वह उमर शेख मिर्जा का पुत्र और अमीर तैमूर के प्रपौत्र का बेटा था। ग्यारह वर्ष की बाल्यावस्था में वह फर्गाने के राज-सिंहासन पर बैठा। उसकी राजधानी जैहून नदी के तट पर अंदजान थी। बालक के राज्य से लाभ उठाकर समरकंद के अमीर अहमद मिर्जा ने अपने साले से मिलकर अपने भतीजे बाबर का राज्य छीन लेने के प्रयत्न किए, परंतु उसके स्वामि-भक्त सामन्तों ने उसे बचा लिया। पंद्रह वर्ष की अवस्था में बाबर ने समरकंद विजय किया, जो तैमूर

लंग की प्राचीन राजधानी था। तब फर्गाना के अमीरों ने चाहा कि वहाँ का राज्य बाबर अपने छोटे भाई जहाँगीर मिर्जा को दे दे; परंतु उसने यह बात नहीं मानी। जहाँगीर मिर्जा ने अंदजान का घेरा। बाबर उसके बचाव के वास्ते समरकंद से चढ़ा; परंतु वह तो उसके पहुँचने के पहले ही फतह हो चुका था और इधर अवसर पाकर समरकंद भी शत्रुओं ने ले लिया। इस तरह उसके हाथ से दोनों राज्य निकल गए। फिर उसने अनेक बार उन्हें विजय किया और अनेक बार समरकंद फिर छिन गया। एक दिन तो बाबर बादशाह बनकर तख्त पर बैठ जाता और दूसरे दिन राज पाट छिन जाने से उसे जंगल-पहाड़ों में हैरान और परेशान छिपे फिरना पड़ता था। वह उन्नीस वर्ष का था, जब अपने चाचा सुलतान अहमद मिर्जा की शरण गया। उसने देह्मत के परगने में उसको टिकाया। वह एक गाँव के मुखिया के घर में रहता था। दरिद्रता ने उस पर अपना अधिकार यहाँ तक जमा लिया था कि उसे प्रायः पैदल नंगे पाँव चलना पड़ता था। उस मुखिया की बूढ़ी माता का कोई सम्बन्धी अमीर तैमूर के साथ हिन्दुस्तान में गया था। उसकी जबानी सुनी हुई इस देश की विचित्र कथाएँ वह बुढ़िया बाबर से कहा करती थी। नाना प्रकार के कष्टों का सामना करते करते जब वह उकता गया तब उसने विचार किया कि ऐसे दुःखदायी जीवन से तो एकान्त-सेवी होकर रहना ही अच्छा है। परन्तु उसका पराक्रम और पुरुषार्थ उसे सदा यही शिक्षा देता कि "बाबर, घबरा मत! धैर्य्य धारण कर। परिश्रम-पूर्वक उद्योग किए जा। उसका फल अच्छा ही मिलेगा।" निराश होकर आलसी जीवन बिताना तो उसे एक आँख भी नहीं भाता था। जब वह अपने चाचा के साथ तम्बल नामक सरदार पर चढ़कर गया, तब अन्दजान फिर उसके हाथ आ गया था। परन्तु तम्बल ने तुरन्त ही

आ दबाया। युद्ध में एक तीर उसकी जाँघ में लगा और शत्रु की तलवार का एक हाथ इस जोर से उसके मस्तक पर गिरा कि यदि लोहे के टोप से बचाव न हुआ होता तो वह यमलोक में पहुँच जाता। तिस पर भी उस प्रहार ने उसको मूर्च्छित कर दिया। किसी प्रकार वहाँ से प्राण बचाकर भागा। यार-दोस्तों और सेवकों ने साथ छोड़ दिया और वह अकेला रह गया। दुश्मन पीछे पड़े हुए थे। धूंद देख करके उनसे बचता, डाकू की तरह वनों और पर्वतों में खाक छानता फिर फरगाने की तरफ मुड़ा। एक वर्ष इसी तरह भटकते और आपत्तियों पर आपत्तियाँ उठाते बीता। तब निपट निराश होकर उसने स्वदेश को तिलांजलि दी और थोड़े से साथियों सहित काबुल का मार्ग पकड़ा। मार्ग में कई काफिले उसके साथ हो लिए और सन् १५०४ ई० में काबुल विजय कर वहाँ का बादशाह बन गया।

बाबर के परम शत्रु शैबानी ने जब बलख़ जा घेरा, तब वहाँ के शासक सुलतान हुसैन मिर्ज़ा ने बाबर को अपनी सहायता के निमित्त बुलाया था। वह भी सेना सजकर चला। परन्तु मार्ग में खबर मिली कि बलख़ तो शैबानी ने ले लिया है। तब हिरात होता हुआ काबुल को लौटा। इधर उसके जाते ही उपद्रव उठ खड़ा हुआ था। कन्धार विजय कर उसने अपने भाई उमर मिर्ज़ा को दिया। परन्तु जब शैबानी ने सुना कि शत्रु काबुल को गया है, तो उसने कन्धार आन घेरा। इससे बाबर को इतना भय हुआ कि अब उसने वहाँ भी अपना टिकाव होना दुष्कर जान सिन्धु नद की ओर प्रयाण किया। मार्ग में असभ्य अफ़गानों ने उसको बहुत सताया। परन्तु उनसे लड़ता भिड़ता वह जलालाबाद पहुँचा। वहाँ यह सुना कि शैबानी फिर तुर्किस्तान को लौट गया है। तब वहीं से मुड़कर मुग़लों की सहायता से उसने काबुल फिर ले लिया। ईरान के शाह

इस्माईल सफवी ने मर्व के मुकाम पर शैबानी से युद्ध कर उसे पराजित किया और शत्रुओं के भय से वह एक मकान से नीचे कूदने में मर गया। जब खान मिर्जा ने बाबर को इसकी सूचना दी, तब तत्काल चढ़ाई कर उसने समरकंद, बुखारा, फर्गाना आदि खोए हुए स्थानों पर फिर अधिकार कर लिया। परन्तु फिर भी वह बहुत दिनों तक वहाँ ठहर न सका। ईरान के शाह को प्रसन्न करने के निमित्त वह ईरानी पोशाक पहनने लग गया था और अपनी सेना को भी वैसे ही वस्त्र और ईरानी टोपी पहनने की आज्ञा दी थी। सैनिक सब सुन्नी मुसलमान थे। उनको यह बहुत ही बुरा लगा। उज्बकों के दल ने बुखारा घेर लिया और बाबर को समरकंद छोड़कर भागना पड़ा। हिसार पहुँचकर उसने ईरान के शाह से सहायता माँगी और ईरानी सेना आई भी; परन्तु गजूदेवन के युद्ध में ईरानियों की हार हुई और बहुत से मारे गए। तब लाचार समरकंद को त्याग कर बाबर फिर काबुल में आया और कुछ समय तक सुखपूर्वक रह कर राजप्रबंध में सुधार करने लगा। दो एक बार पंजाब तक आकर वापस फिर गया था। अन्त में सन् १५२२ ई. में कन्धार विजय कर सन् १५२६ ई. में दिल्ली आया और इब्राहीम शाह लोदी को युद्ध में मारकर उसका तख्त-ताज छीन लिया।

पानीपत के तुमुल संग्राम में विजय लाभ कर दिल्ली और आगरा हाथ आ जाने पर भी बाबर को यह भली भाँति विदित हो गया कि एक लोदी शाह को जीत लेने ही से मैं भारत का सम्राट् नहीं बन सकता; क्योंकि राणा साँगा जैसा प्रबल शत्रु मेरे पड़ोस में मौजूद है। अतएव किसी प्रकार बयाने के गढ़ पर अधिकार कर लेना चाहिए। आगरा तो उस वक्त बयाने का परगना मात्र था। बयाने में महाराणा की तरफ से निजामखाँ शासन करता था। साँगाजी ने वह गढ़ इब्राहीम शाह से छीना था। महाराणा का चाकर होते हुए

भी निज़ाम का आन्तरिक भाव द्वेष या और किसी कारण से शुद्ध नहीं था; इसलिये वह बाबर और साँगाजी दोनों के साथ कपट क्रिया करने लगा। बाबर को वो कहता कि मैं साँगा का सामन्त हूँ; और महाराणा को बतलाता कि आपका आज्ञा-पालन करने में बाबर बाधा डालता है। अन्त में जब उसने देखा कि साँगाजी के सन्मुख होकर बयाना रख लेने की सामर्थ्य मुझ में नहीं है, तब वह गढ़ बाबर को सौंप दिया और बदले में दुआब में जागीर पाई। तब तो निज़ाम को दण्ड देकर गढ़ को बचाना और तातारियों और पठानों को हिन्द से बाहर करना ठान साँगा जी बयाने की ओर बढ़े। इस गड़बड़ी के समय में पूर्वी अफ़ग़ानों ने बाबरख़ाँ लोहानी को सुलतान महमूद शाह के लक़ब से बादशाह बना बिहार में तख़्त पर बैठा दिया था; और पश्चिम में अलवर के नव्वाब हसनख़ाँ मेवाती ने इब्राहीम शाह लोदी के भाई महमूद लोदी का पक्ष लेकर महाराणा साँगा की सर-परस्ती में मुग़ल से लड़ना निश्चय किया था। बाबर ने शाहज़ादा हुमायूँ को पूर्वी पठानों का बल तोड़ने के वास्ते भेजा था। परन्तु जब उसने सुना कि राणा साँगा बयाना लेने को बढ़ा आता है, तो हुमायूँ को वापस बुला लिया। वह जौनपुर जीत कर आगरे में पिता से आ मिला। हसनख़ाँ को अपनाने के वास्ते बाबर ने यह उपाय किया कि उसके बेटे नाहरख़ाँ को, जो पानीपत के युद्ध में बन्दी हो गया था, मुक्त कर अपने पिता के पास भेज दिया और उसके साथ एक भारी खिलअत हसनख़ाँ के वास्ते भेजकर कहलाया कि यदि तुम हमारे पक्ष में आ जाओ तो तुम्हारे साथ बड़ा सलूक किया जायगा। परन्तु वह वीर अपनी प्रतिज्ञा में अटल बना रहा।

मुहम्मद जैतून और तातारख़ाँ सरङ्गख़ानी को प्रलोभन देकर बाबर ने उनसे धौलपुर और ग्वालियर के गढ़ ले लिए थे; और उन्होंने

युद्ध के समय उसका साथ दिया था। ता० ११ फर्वरी सन १५२७ ई० को आगरे से प्रयाण कर मेधकपुर में मुक़ाम करता हुआ बाबर फतहपुर सीकरी में आकर ठहरा और वहाँ मोर्चे बाँधकर उनकी मजबूती करने लगा।

महाराणा साँगाजी की सेना में करीब दो लाख सवार और ५०० जङ्गी हाथी थे*। मारवाड़, आमेर, ग्वालियर, अजमेर, रायसेन, कालपी, चँदेरी, रामपुरा, आबू आदि स्थानों के राव और राजा या उनके प्रतिनिधि साँगा जी के निशान तले इकट्ठे होकर बाबर के मुक़ाबले को गए थे। महाराज की निज की सेना के अतिरिक्त भिलसा रायसेन का राजा सलहदी तँवर तीस सहस्र सवार से, महमूद शाह लोदी, जो साँगा जी की शरण आया था, दस हजार सवार से, रावल उदयसिंह बागड़ी डूँगरपुर का दस हजार सवार से, बूँदी के राव नारायणदास का आईनचंद हाडा चार हजार सवार से, चँदेरी का राजा मेदनीराय दस हजार सवार से, राव भारमल ईडरी चार हजार सवार से, हसनखाँ मेवाती दस हजार सवार से, गागरून का खीची राव शत्रुसाल छः हजार सवार से, मारवाड़ के राव रायमल राठोड़ का प्रतिनिधि राव वीरमदेव मेड़तिया और उसका भाई रतनसिंह (प्रसिद्ध मीराबाई का पिता। मीराबाई का विवाह साँगाजी के बड़े पुत्र भोजराज के साथ हुआ था जो अपने पिता की विद्यमानता ही में काल-कवलित हो गया था।) कुँवर कल्याणमल बीकानेरी, राव बाघसिंह देवलिये का, नरसिंह देव, रावल देव, राव चन्द्रभाण, माणकचन्द्र चौहाण और राय दिलीप आदि दूसरे भी कई राव तथा राजा अपनी अपनी सेना समेत इस युद्ध में शामिल थे।

---

* अबुलफजल अपना पुस्तक अकबरनामे में राणा की सैन्य संख्या दो लाख दस हजार सवार बतलाता है; तबक़ाते अकबरी का रचयिता एक लाख बीस हजार कहता है; तुजुकेजहाँगीर में बादशाह जहाँगीर एक लाख अस्सी हजार गिनाता है और मआसिरउलउमरा का कर्ता एक लाख लिखता है।

• इस युद्ध का सविस्तर वर्णन बाबर ने अपने रोज़नामचे "वक़ाये बाबरी" में लिखा है। उसको संक्षेप में मैंने यहाँ उद्धृत किया है—"जब मैंने सुना कि बयाने का गढ़ राना ने ले लिया, तो मीर अखोर को कई बेलदार साथ देकर आगे रवाना किया कि पड़ाव की जगह कई कूएँ खुदवाए। हिरोल का सरदार अबदुल अज़ीज़ बिना विचारे खानवे तक बढ़ गया जो सीकरी से पाँच कोस है। राना पहले ही कूच कर चुका था। जब सुना कि मुसलमान आगे बढ़ आए हैं तो चार पाँच हज़ार राजपूत उन पर टूट पड़े। अबदुल अज़ीज़ और मुल्ला बयाक के पास केवल हज़ार पंद्रह सौ आदमी थे। शत्रु-दल के बल का अन्दाज़ न करके उन्होंने लड़ाई छेड़ दी। जब यह ख़बर मुझे मिली तो मैंने ख़लीफ़ा मुहब्बत अली और मुल्ला हुसैन को सहायतार्थ भेजा। परन्तु इनके पहुँचने के पहले ही शत्रुओं ने अब्दुल अज़ीज़, मुल्ला निआमत दाऊद और उसके छोटे भाई और बयाक आदि को उनके साथियों समेत मार डाला था।" उनकी कुमक पर जो सेना गई, उसकी भी यही गत हुई। थोड़े से बचे बचाए सवार सिपाहियों ने भागकर इस घटना का समाचार बाबर के कटक में पहुँचाया। मिस्टर एर्सकिन् अपने भारत के इतिहास में लिखता है—"राजपूतों के साथ होनेवाली मुग़लों की दो एक चटापटी की लड़ाइयों में मुग़लों पर बेतरह मार पड़ने से वे अपने नवीन शत्रु को आदर मान की दृष्टि से देखने लग गए थे। हिरोल की टुकड़ी में से प्राण बचाकर भागे हुए आदमियों ने मुक्त कण्ठ से शत्रु की शक्ति और वीरता का राग अलापना आरम्भ कर दिया था। वास्तव में तातारियों को यह निश्चय हो गया कि इस बार हमें ऐसे शत्रु के सन्मुख होना है जो पठानों या भारत की किसी दूसरी जाति की अपेक्षा—जिन पर हमने आज तक विजय पाई—विशेष भयङ्कर है। राजपूत अपने पुरुषार्थ, शौर्य्य, युद्ध-प्रियता और रक्त-पात के सूत्र में रँगे हुए, अपनी अचल

जातीय प्रकृति से उत्साहित और एक वीर शिरोमणि की अध्यक्षता में युद्ध करने से कट्टर से कट्टर शत्रु के सन्मुख होकर प्राण निछावर कर देने को तैयार थे।"

बाबर लिखता है—"पानी की बहुतायत देखकर मैंने पड़ाव डाला, और मोर्चेबंदी कर अपनी तोपों को जकड़कर बँधवा दिया। तोपखाने के अफसर मुस्तफा रूमी (कहीं उस्ताद कुलीराँ भी नाम दिया है) ने रूम की लड़ाई के ढंग पर तोपखाना जमाया; और जहाँ तोप न पहुँच सकी, वहाँ गहरी खाइयाँ खुदवा दीं। शुरू ही में शिकस्त मल जाने से मेरी सेना बे-दिल सी हो गई थी। छोटे और बड़े सब के हृदय में भय छा गया था। एक भी ऐसा पुरुष नहीं था जो दिलेरी के शब्द तक जबान से निकाले, या किसी प्रकार की हिम्मत बँधावे। मेरे वजीर, जिनका कर्तव्य था कि भली सम्मति देते, चुपसाध बैठे थे; और अमीर, जो राज्य की संपत्ति का भोग करके चैन उड़ाते थे, वीरता की बात तक न करते थे और न कोई ऐसी सलाह देते या मुद्रा धारण करते थे जो शूर-वीरों के योग्य हो। कई उमरा तो कहने लगे कि इस अवसर पर फिर पंजाब में चले जाना उचित है। फिर किसी मौके पर देखा जायगा। इसी बीच में काबुल से क़रीब ५०० आदमी आए जो ऊँटों पर बहुत सी शराब लादकर लाए थे। उनके साथ मुहम्मद शरीफ नामक एक अभागा ज्योतिषी भी था जिसने यह प्रसिद्ध कर दिया कि अभी मंगल पश्चिम में है; उस तरफ लड़नेवाले की अवश्य हार होगी। इससे मेरी सेना की रही सही हिम्मत और भी टूट गई"।

जब बाबर ने इस तरह अपने दल को हतोत्साह देखा, तब उसको बहुत चिन्ता हुई। मंगल के अमंगल की ओर तो उसने कुछ भी ध्यान न दिया, परंतु सैनिकों की निराशा और क्षत्रिय दल की प्रबलता ने उसको महान् चिन्ता-सागर में डुबा दिया। एक मास

के लगभग वह सेना सहित मोर्चों में बंद हुआ बैठा रहा। वह एक महान् अनुभवी और उद्योगी पुरुष था। वह जानता था कि राणा साँगा ने भी मेरे ही समान मुसीबत के मदरसे में सबक़ सीखा है। उस पर विजय पाना कुछ हँसी ठट्ठा नहीं है। इस पर भी फ़ौज की उत्साह-हीनता ने उसकी सारी उम्मीदों पर पानी फेर दिया। वह खूब जानता था कि यदि इस वक्त मैं लड़ाई से किनारा कर गया, तो फिर दुश्मन की ताक़त दुगुनी हो जायगी; और जितनी मेहनत या मुसीबत मैंने उठाई या जितना समय मैंने इस मुल्क के फतह करने में लगाया है, वह सब निरर्थक जायगा। अतएव युद्ध करने में थोड़ी ढील डालकर वांछित सफलता प्राप्त करने का उचित उद्योग करना चाहिए। अपने इस अभिप्राय को पूरा करने के वास्ते उसने मुख्य दो उपाय सोचे—एक तो शत्रु से सन्धि की बात चीत चलाकर उसके तात्कालिक आवेश और अनन्य उत्साह को थोड़ा शिथिल कर देना; और दूसरे अपने योद्धाओं में धार्मिक जोश पैदा करना। अपने प्रथम प्रयत्न को पूरा करने के वास्ते उसने भिलसा रायसेन के राजा सलहदी तँवर को, जो महाराणा के मुख्य सामंतों में से था, चुना और उसी के द्वारा अपनी कपट-क्रिया चलाई। सन्धि की शर्तों में कर्नल टाड के लेखानुसार उसका प्रस्ताव यह था कि बयाना के पास पीलेखाल तक महाराणा के राज्य की सीमा रहे। यदि वे दिल्ली के राज्य में किसी प्रकार का उपद्रव न करें तो उसके बदले में क्षति-पूर्त्ति के तौर पर वार्षिक कुछ धन दिया जायगा। परंतु अपने अन्य सामंतों की सलाह से, जिन में कई सलहदी के विरोधी भी थे, महाराणा ने इन शर्तों को न माना। कर्नल टाड कहता है कि अपने इसी अपमान के लिये सलहदी ऐन लड़ाई के मौक़े पर अपनी तीस सहस्र सेना सहित बाबर से जा मिला था।

अपने दूसरे उपाय को सिद्ध करने के वास्ते उसने सोचा कि जब तक मैं आप अपने किसी कुचरित्र के सुधार को आदर्श रूप से सज्जनों के

सन्मुख न धरूँ, तब तक उनके हृदय में धर्म-पथ पर अटल और दृढ़ बने रहने की छाप जमा देना दुष्कर है। इसलिये उसने अपने उमरा और अफसरों को एकत्र कर कहा—"हमें अपने पापों को त्याग कर पश्चात्ताप करना चाहिए। जब हम पवित्र हो जायँगे तब अवश्य हमारी जीत होगी"। यह कहकर शराब पीने का प्याला, जो हर वक्त उसके मुख से लगा रहता था, फेंक दिया और सब के सामने शपथ ली कि अब मैं शराब कभी न पाऊँगा। मद्यपान-संबंधी जितना सोने-चाँदी का सामान था, सब तुड़वाकर गरीबों को बाँट दिया और जो शराब साथ में थी, उसमें नमक मिलाकर सिरका बना डाला या उसे पृथ्वी पर उँडेल दिया और तत्काल इस आशय का आज्ञापत्र निकाला—"इंद्रियों के वशीभूत होकर मैंने जवानी के दिनों में कई काम शरह के खिलाफ किए, जैसा कि राजा बादशाह प्रायः किया करते हैं। परंतु जब होश आया तो तोबा कर उनसे किनारा कर लिया। यह शराब जो इस वक्त तक मुझसे नहीं छुटी थी, आज इस मुबारक मौक़े पर छोड़ता हूँ जब कि मैं एक काफिर का मुकाबला करने को हूँ। मैंने अपने तमाम मुल्क में मुनादी करा दी है कि आइन्दा कोई शराब न पीए, न उसे बनावे, न बेचे, न खरीदे, न अपने पास रक्खे, न कहीं से लावे।" * शराब के साथ ही बाबर ने डाढ़ी कटाने की भी क़सम खाई। जहाँ शराब उँडेली गई थी, उस स्थान पर यादगार के वास्ते एक कूआँ खुदवाकर धर्मशाला बनवाई। बादशाह के साथ छः सौ सरदार सिपाहियों ने शराब छोड़ी। उसी वक़ उसने अपनी सेना को यह वक्तृता कह सुनाई:—"ऐ मेरे सरदारो और सिपाहियो!

* जब सोमराज शाल्व श्रीकृष्ण की अनुपस्थिति में द्वारका पर चढ़ आया था, तब यदुवंशियों ने भी मद्यपान का परित्याग कर उसके साथ युद्ध किया था। यदि यदुवंशी अपनी इस प्रतिज्ञा पर अटल बने रहते तो प्रभास क्षेत्र के विपद से बच जाते। कितनी उत्तम बात हो कि भारतीय क्षत्रिय गण बाबर की इस कार्रवाई से शिक्षा ग्रहण कर; मदिरा राक्षसी को मुख से निकालने का प्रयत्न करें।

जो आदमी इस दुनिया में आया है, वह जरूर एक दिन जायगा। अमर एक परमात्मा की जात है। जो जीवन के दस्तरख़ान पर बैठता है, भोजन से तृप्ति होने के पूर्व ही मौत का प्याला उसे पीना पड़ता है। इस हालत में बदनामी के साथ जीने से इज्जत के साथ मरना अच्छा है। उस पाक परवर्दिगार की कृपा से आज यह दिन हम को नसीब हुआ है। यदि मैदान जङ्ग में जान गई तो शहीद कहलावेंगे; और जो जीते रहे तो अपने पाक दीन के वास्ते जाँ-निसार होने की पदवी पावेंगे। इसलिये सब एक दिल होकर कलाम पाक की कसम खा लें कि हममें से कोई लड़ाई से मुँह मोड़ने का ख़याल तक दिल में न लावेगा"। बाबर की यह हिकमत कारगर हो गई। तीर निशाने पर जा लगा। सब ने मिलकर शपथ ली और कुरान उठाया कि मर जायँगे, परंतु पीठ कभी न दिखलावेंगे। बस उसी वक्त वह बड़ी प्रसन्नता के साथ शत्रु पर धावा करने को मोर्चों से बाहर निकल आया।

मिस्टर अर्स्किन लिखता है—"बाबर के मोर्चों में बंद हो जाने से चारों ओर बग़ावत का ढोल बज गया। जिन देशों और दुर्गों को उसने बड़े परिश्रम के साथ विजय किया था, वे उसके अधिकार में से जाने लग गए, और आगरे के आस पास के प्रदेशों को अफ़ग़ानों ने फिर ले लिया। उसकी सेना को कन्नौज छोड़ना पड़ा, और ग्वालियर को भी राजपूतों ने घेर लिया। कई हिंदू राजाओं ने उसका पक्ष त्याग दिया और हिंदू जाति को आशा बँध गई कि अब दिल्ली का तख्त उलटनेवाला है।"

ता० १३ जमादिउल आख़िर सन् ९३३ हि० (ता० १२ मार्च सन् १५२७ ई० या चैत्र सं० १५८४ वि०) * को बाबर ने अपने पड़ाव से

---

* मिस्टर बिग ने फरिश्ता के अंगरेजी तर्जुमे में ता० २१ मार्च सन् १५२६ ई० को, और कर्नल टाड ने सं० १५८४ वि० कार्तिक शुक्ल पंचमी को यह युद्ध होना लिखा है। मोहणोत नैणसी की ख्यात भी इसी की पुष्टि करती है।

दो मील आगे बढ़कर अपनी फौज का परा जमाया। वह आप बीच में रहा; दाहिनी तरफ शाहजादा हुमायूँ और बाईं ओर सैय्यद महदी ख्वाजा बाबर का जमाई था। एक बड़ी टुकड़ी को कुमक के लिये जुदा रक्खा, दाहिने बाएँ मुगल सवारों की दो टुकड़ियाँ जमाईं, आगे तोपख़ाना, पीछे बन्दूकची और उनके पीछे सवार थे। महाराणा भी सज सजाकर रण क्षेत्र में आ उपस्थित हुए। इनके कटक में राजा राव कमान पर थे।

बाबर ने अपनी सेना में सख्त हुक्म जारी कर दिया था कि जब तक मैं न कहूँ, कोई सिपाही अपनी जगह से न हिले; क्योंकि एक दम से आगे बढ़ जाने में बड़ा भय था। प्रभात के साढ़े नौ बजे से युद्ध का आरम्भ हुआ। राजपूतों ने तुर्कों के दाहिने पार्श्व पर हमला किया। मुस्तफा रूमी उन पर गोले बरसाने लगा जिससे उनको बहुत नुकसान पहुँचा। बाईं ओर भी वे धावा करके टूट पड़े। इस प्रकार कई घण्टों तक तीर-तलवार और छुरी-कटार का बाजार खूब गर्म रहा। महाराणा सेना के मध्य में अपने राजचिह्न छत्र छुंगी आदि धारण किए गजारूढ़ अपने योद्धाओं को उत्साहित करते और उनकी वीरता का निरीक्षण करते थे। बाबर ने पार्श्व की फौज व सवारों को हुक्म दिया कि घूमकर हमला करें, और साथ ही तोप-ख़ाने और बन्दूकचियों को भी बढ़ाया, यहाँ तक कि ये राजपूत दल में दूर तक जा घुसे। चारों ओर से अरि को उमड़ आते देखकर राजपूत योद्धा विचलित हो गए और उनकी सेना का मध्य भाग हिल गया। पार्श्व पर हमला होने से पीछे हटने के कारण बीच में भीड़ हुई और सारी रचना बिखर गई। महाराणा के ललाट में अचानक एक तीर के आ लगने से उनको किंचित् मूर्छा सी आ गई; अतएव स्वामि-भक्त सामन्तों ने एक पालकी में उनको लिटाकर रणक्षेत्र से हटा मेवाड़ की ओर भिजवा दिया, और सलूंबर के राव

रत्नसिंह को उनका स्थान लेने को कहा। रावत ने उत्तर दिया कि मेरे पुरखा ने अपना स्वत्व होते हुए भी राज-पद का त्याग कर दिया। अतएव अब मैं उसे ग्रहण नहीं कर सकता। परंतु जो कोई महाराणा के गज पर सवार होकर राजचिह्न धारण करेगा, उसकी आज्ञा का पालन करना मैं अपना कर्तव्य समझूँगा; और जब तक मेरे तन में रक्त की एक बूँद भी रहेगी, शत्रु को कभी अपनी सफ में न घुसने दूँगा। तब सन् १५२० ई० में काठियावाड़ के हलवद प्रान्त से महाराणा साँगा जी की सेवा में आए हुए बड़ी सादड़ी के राजराणा अज्जा को छत्र चंगी सहित महाराणा के स्थान पर नियत किया गया। तभी से यह जनश्रुति प्रसिद्ध हुई—"सादड़ी सुलतान झालो दूसरो दीवाण"। राजपूत बराबर लड़ते रहे, परंतु थोड़ी ही देर में यह प्रवाद विद्युत् की भाँति सारी सेना में फैल गया कि महाराणा घायल हो जाने के कारण युद्ध-क्षेत्र से दूर भिजवा दिए गए हैं। यह निश्चय होते ही क्षत्रिय राजाओं की एकता का वह सूत्र ढीला पड़ गया; और कइयों ने तो यह विचार कर कि अब दीवाण युद्ध में नहीं है, रणक्षेत्र से मुख मोड़ लिया। संध्या समय तक युद्ध चलता रहा। अंत में अपने शूर वीर सेना-नायकों और सरदारों के खेत पड़ने से राजपूतों के पग पीछे हट गए। बाबर ने डेरों तक उनका पीछा किया और अपने सवारों को पुकार पुकारकर कहने लगा कि काटो! काटो! ये फिर इकट्ठे होकर धावा न करने पावें। युद्ध स्थल में कोसों तक मुर्दों के ढेर पड़े थे, घायल कराह रहे थे और लोथों पर लोथें गिरी हुई थीं। हसनखाँ मेवाती गोली लगने से मरा; राव चन्द्रभाण और माणकचन्द चौहाण, रावल उदयसिंह बागड़ी, सलूँवर का राव रत्नसिंह, मारवाड़ के राव का पुत्र रायमल राठोड़, रत्नसिंह मेड़तिया, सोनगिरा राव रामदास, झाला अज्जा, गोकुलदास पँवार और दूसरे अनेक वीरों ने अप्सराओं को वरण किया। बाबर ने अफसोस के

साथ कहा कि यदि मैं स्वयं महाराणा का पीछा करता और यह काम दूसरों के भरोसे न छोड़ता, तो राणा का बचकर जाना कठिन था। एक टीले पर उसने मुर्दों के मस्तकों का बुर्ज बनवाया, और इस फतह के पीछे वह अपने नाम के साथ "गाजी" शब्द लिखने लगा। जिस ज्योतिषी ने बाबर की हार होना प्रकट किया था, जब वह विजय की मुबारकबादी देने को उसके सामने आया, तो पहले तो उसे बहुत फटकारा; परंतु फिर एक लाख टंका (लगभग ९ हजार रुपए) पारितोषिक में देकर अपने राज्य में से बाहर करवा दिया और आप मेवात फतह करता हुआ आगरे पहुँचा।

पाठकगण! यह बीसवीं शताब्दी का साइन्स (विद्या या विज्ञान-बल) का युद्ध नहीं था कि वर्षों तक छल बल द्वारा चलता रहता। वहाँ तो रणचण्डी ने तीन ही प्रहर में हजारों रुण्ड मुण्ड रहित कर दिए। आनन फानन् निपटारा होकर हिंदुओं की सम्पूर्ण आशाओं पर पानी फिर गया।

साँगा जी के पराजय का कारण कर्नल टाड ने ख्यातों अथवा प्रसिद्ध जन-श्रुति के अनुसार सलहदी तँवर का विश्वासघात कर शत्रु से मिल जाना बतलाया है। यद्यपि बाबर ने अपने रोजनामचे में ऐसी घटना होने का उल्लेख नहीं किया, जिससे कई आदमी इसमें सन्देह करते हैं, तथापि समय टालने को सलहदी के द्वारा बाबर का सन्धि-विषयक प्रस्ताव कराना सम्भव है। और आश्चर्य नहीं कि उस ने महाराणा का साथ छोड़ने के निमित्त सलहदी,को अन्यान्य प्रलोभन भी दिए हों। ऐसे गुप्त राजनीतिक रहस्य वह अपनी पुस्तक में कब प्रकट कर सकता था! इतना तो निश्चय है कि सलहदी पहले अपनी बीस सहस्र सेना सहित महाराणा के साथ था। परन्तु उसका परिणाम क्या हुआ, यह कहीं पता नहीं चलता; और न युद्ध में पतन हुए सरदारों की जो नामावली बाबर ने दी है, उसमें सलहदी मेदनीराय आदि

सलहदी के अलग हो जाने से तो साँगा जी को इतनी हानि पहुँची, परंतु उनकी हार का मुख्य कारण अपनी कपट क्रिया से अवसर चुकाकर बाबर का इतना फुर्सत पा लेना था जिसमें वह अपनी सेना को पुनः उत्तेजित कर सका। कर्नल टाड भी यही कहता है कि यदि संधि के प्रपंच में न पड़कर शत्रु के हरावल की टुकड़ी को काटने के साथ ही साँगा जी ने तुरंत तुर्कों के सैन्य समुदाय पर हमला कर दिया होता, तो मैदान मार लेते, और विजय-लक्ष्मी उन्हीं के कंठ में वरमाला पहनाती, क्योंकि उस वक्त शत्रु दल मारे त्रास के व्याकुल हो रहा था। परंतु सलहदी की बातों से शुद्ध-हृदय महाराणा बाबर के फेर में पड़कर यह चाल चूक गए। ऐसी कपट क्रिया के द्वारा ही सुलतान शहाबुद्दीन गोरी ने महाराज पृथ्वीराज चहुआण पर विजय प्राप्त की थी। इसके अतिरिक्त बाबर की विजय के कारणों में एक बड़ा कारण उसका तोपखाना भी था जिसकी मार से राजपूतों को बहुत हानि पहुँची।

महाराणा साँगा जी को इस युद्ध में हार जाने से इतनी ग्लानि हुई कि उन्होंने रणथम्भोर आकर एक महल में एकांत वास करना आरम्भ किया। न किसी से मिलते और न बातचीत ही करते थे। यह प्रतिज्ञा कर ली थी कि जब तक शत्रु पर विजय न पा लूँ, तब तक चित्तौड़गढ़ में पग न धरूँगा। इसी अर्से में टोडरमल आंढ़त्या नामक चारण महाराणा के दर्शनों की इच्छा से वहाँ आया। कामदारों ने सारा वृत्तांत उसे सुनाकर बिदा देनी चाही; परंतु चारण बोला कि बिना दर्शन किए न मैं जाऊँगा और न कुछ लूँगा। यदि मैं एक बार दीवाण के सन्मुख पहुँच जाऊँ तो उनको महल के बाहर भी ले आऊँगा। सरदारों ने अर्ज की कि बिना दर्शन किए चारण बिदा नहीं लेता और चारण का रूठकर जाना अच्छा नहीं। आज्ञा दी कि चिक के बाहर बैठा दो। वहाँ पहुँचते ही टोडरमल ने यह गीत पढ़कर सुनाया:—

मालवे प्रान्त के हिंदू राजाओं या रावों के नाम हैं। इस अवस्था में यह अनुमान हो सकता है कि उन लोगों ने युद्ध में यथोचित भाग न लेकर अपना कर्तव्य पालन नहीं किया। सम्भव है कि जब महाराणा घायल होकर युद्ध क्षेत्र से गए, उस वक्त सलहदी भी अपनी सेना के साथ अपने स्थान को चला गया हो। क्या यह विश्वासघात नहीं? यदि हम सलहदी और उसके वंश की समाप्ति की ओर टुक ध्यान दें तो ईश्वरी न्याय की कल्पना के आधार पर कहा जा सकता है कि सलहदी ने अपने कृत्य का उचित दण्ड पाया। उसकी पिछली कार्यवाहियों से भी सिद्ध हो सकता है कि यह स्वामिभक्त या देशभक्त राजपुत्र नहीं था; क्योंकि अपने पुराने आका सुलतान महमूद मालवी के साथ भी उसने ऐसी ही चाल चली थी; अर्थात् स्वार्थसाधन के वास्ते सुलतान बहादुर शाह गुजराती से मिलकर उसे मालवा फतह करा दिया और उज्जैन तथा सारंगपुर के परगने पुरस्कार में पाए। स्वामिद्रोही का विश्वास दूसरों को कब हो सकता है, इस न्याय से अपना मतलब निकालकर उसी बहादुर शाह ने पहले तो उसको धोखा देकर क़ैद किया; फिर मुसलमान बनाया और रायसेन गढ़ के घेरे के वक्त उसे अपने भाई और बेटों को समझाने के वास्ते भेजा कि गढ़ खाली कर दें। वहाँ उसकी रानी दुर्गावती ने उसको बहुत धिक्कारा और कहा कि ऐसी निर्लज्जता के साथ जीने से तो मरना ही अच्छा है। मैं तो अपने प्राण तजती हूँ; परंतु तुम में यदि रजपूती का कुछ भी अंश हो, तो हमारा वैर लेना। यह कहकर वह वीराङ्गना ७०० स्त्रियों सहित धधकती हुई अग्नि में कूदकर भस्मीभूत हो गई। अपनी पटराणी के वचन रूपी बाणों से सलहदी का हृदय बिंध गया और वह वहीं मुसलमानों से लड़कर काम आया। उसका सारा राजपाट शत्रुओं ने छीन लिया, उसके पुत्र भूपत और पूरणमल को शेरशाह सूर ने मारा और पौत्रों को हिंजड़ा करवा दिया।

कि युद्ध से भागे हुए महाराणा के सेवकों में से किसी ने उनकी युद्ध करने की फिर तीव्र इच्छा देखकर उन्हें विष दिया जिसके प्रभाव से मृत्यु हुई।*

परम प्रतापी महाराणा की मनोकामना पूर्ण न होने पाई। शत्रुओं की बन आई। भारत का भाग्य ऐसा ही था कि इस तीसरे अंतिम संघटन में भी भारत भूमि पर क्षत्रियों का स्वतंत्र राज्य स्थापित हो सका। परन्तु इतना तो प्रत्यक्ष है कि महाराणा संग्रामसिंह जी का प्रताप और पुरुषार्थ पहले दो महाराजाओं से बढ़कर प्रशंसनीय था; क्योंकि महाराज अनंगपाल तँवर और पृथ्वीराज चहुवाण ने तो केवल अपने राज्य पर चढ़कर आए हुए शत्रु का प्रतिकार कर अपने और अपने राज्य के बचाव के वास्ते युद्ध किया था; परंतु साँगा जी तो विदेशी शत्रुओं को देश से दूर कर पुनः हिन्दू राज्य स्थापित करने के उत्कट और उन्नत अभिप्राय से चलकर शत्रु के संमुख हुए थे, न कि उसके हमले को रोकने मात्र के निमित्त। साँगा जी की मृत्यु पर किसी कवि का कहा हुआ एक प्राचीन शोकसूचक गीत है—

"ऊगाँ विण सूर पेहवो अम्बर, दीपक पाखै जिस्यो दुवार।"
"पावस बिना जेहवी प्रथमी, साँगा विण जेह को संसार॥"
"थिण दिव वोम कसण जोतो बिण, धराहार विण जिसी घर।"
"जैसो हुआ जिसो ऊगोवो, तो बिण प्रथमी कल्पतर॥"

---

* बाबर अपनी और अपने धर्म की महत्ता प्रकट करने के वास्ते "तुजुके बाबरी" में लिखता है—'जब राणा ने इरीच नगर का घेरा (जिसे बाबर ने छीन लिया था) तो एक रात कोई फकीर या पीर बड़े विकराल रूप से स्वप्न में राणा को दिखलाई दिया। उसकी भयङ्कर मूर्ति देखते ही राणा चौंक उठा और उसी वक्त उसे ज्वर हो आया। दूसरे [illegible] दिन घेरा उठाकर सेना सहित चल दिया। परन्तु थोड़े ही दिन पीछे मार्ग ही में काल कवलित हुआ।" "चतुर्भुज चरित्र" में महाराणा साँगा जी का स्वर्गवास माघ शुक्ला ६ सं० १५८४ वि० में होना लिखा है।

सत वार जुरासिंघ आगल श्रीवर, बेमुहाटी कमदी घवग ।
मेलि घात मारे मघुसूदन, असुर घाव नोंखी अलग ॥
एको भीम कुमेरों आगल, वाँह वजेगो जूम्ह वल ।
पामी पेलों पछे पंडसुव, खेव पछाड़े सोइ जखल ॥
हे कर सों अर्जुन हथणापुर, हठियो त्रिया पड़ंता हाथ ।
देख जिका कीधी दुरजोधन, पछै तिका कीधी सजपाय ॥
राम तणी त्रया यक रावण, कंध घरेगो दस कमल ।
टीकम सो हिज पथर तारिया, जगनायक ऊँपरों जल ॥
इेक राड़ भव माँह अवरथी, अमर सआणे किसूँ भर ।
मालतणों केवा ऋणआँगण, साँगण कमो सेलगुर ॥

भावार्थ—श्रीकृष्ण जरासंघ से कई वार हारकर भागे, अंत में उन्होंने उसे मार लिया। कौरवों से भीम कई बार पीछे हटा; परंतु फिर उनको पछाड़ दिया। ऐसे ही द्रौपदी का चीर खींचते वक्त अर्जुन कुछ न कर सका; परंतु फिर दुर्योधन के प्राण लिए। रामचंद्रजी की स्त्री को भी रावण हर ले गया, परंतु फिर उन्होंने समुद्र में पुल बाँध उसे मारा। हे साँगा ! यदि एक लड़ाई तू हार गया है, तो इतना खेद क्यों करता है ! तू तो शत्रुओं के हृदय का सेल है। यह गीत सुनते ही महाराणा बाहर निकल आए और प्रसन्न होकर चारण को उकाए गाँव वख्शा जो आज तक उसकी संतान के अधिकार में है।

उत्तेजित हुए साँगा जी फिर बाबर के साथ युद्ध करने की तय्यारी करने लगे; और जब उसने सन् १५२७ ई० में चंदेरी के राजा मेदनी राय पर चढ़ाई की, तो साँगा जी भी उधर चले और ईरिच नगर में पहुँचे। वहाँ अनायास मृत्यु के दूत ने उनको आ लिया और वैशाख सुदी (?) सं० १५८४ वि० को २। वर्ष ५ मास और ९ दिन राज्य करके मक्कम-मसुदा में उन वीर-शिरोमणि ने स्वर्गारोहण किया। कहते हैं

(२०) चतुर्विंशति प्रबंध

[लेखक—पंडित शिवदत्त शर्म्मा, अजमेर।]

जैन विद्वानों ने प्रसिद्ध प्रसिद्ध पुरुषों की जीवनियों को प्रबंधों द्वारा सुरक्षित करने का जो श्रम किया है, वह धन्यवादार्ह है। श्री ऋषभदेव से लेकर वर्धमान पर्यन्त जिनों की, चक्री आदि राजाओं की, एवं आर्यरक्षित आदि ऋषियों की जीवनियों के ग्रंथ "चरित" कहलाते हैं और उनसे पश्चात्कालीन पुरुषों के वृत्तान्त-वाले ग्रंथ "प्रबंध" कहलाते हैं। ऐसे प्रबंधों में से एक "चतुर्विंशति प्रबन्ध" है, जिसकी रचना श्रीतिलकसूरि के शिष्य श्रीराजशेखर ने दिल्ली में जेठ सुदी पंचमी वि० सं० १४०५ को की थी। ग्रंथकर्ता श्रीप्रश्नवाहन कुल "कोटिक" गण, "मध्यम" शाखा और "हर्षपुरी" गच्छ में "मलधारी" विरुद से प्रसिद्ध श्रीअभयसूरि की संतति (शिष्य वर्ग) में था और उसने महणसिंह विजयी की प्रेरणा से इस ग्रंथ की, जिसका दूसरा नाम "प्रबन्ध कोश" भी है, रचना की थी। महणसिंह के विषय में राजशेखर ने लिखा है कि वह षड्-दर्शन का पोषक था और उसका पिता सकल सामंत-तिलक जगत्-सिंह था, जिसने दुर्भिक्ष में दीनों को बहुत सहायता दी और मुहम्मद शाह से सन्मान प्राप्त किया था। जगतसिंह के पिता का नाम "राढक" और दादा का नाम "नूनक" था। नूनक का पिता "गण-देव" सपाद लक्ष में उत्पन्न हुआ था और उसके पिता "वप्पक" ने कच्छूलीपुर में जिनपति-सदन बनवाकर बहुत यश प्राप्त किया था।

जैसा कि इस ग्रंथ के नाम से प्रतीत होता है, इसमें २४

"जब हर गयो दुनी जीवाड़ए, फते नहीं दीपक फरक ।"
"साहाँ प्रद्दश मोखणो साँगो, आथमियो मोटो अरक ॥"

महाराणा संग्रामसिंह जी की रानियाँ—परमारण राजा कर्मचं. परमार की कन्या और हाडी करमेती बूँदी के राव नारायणदास हाडा की पुत्री थीं। कुँवर भोजराज पिता की मौजूदगी में मरा था। अन्य कुमा. कर्णसिंह, रत्नसिंह, विक्रमादित्य और उदयसिंह थे।

भंगुर और चित्त को स्थिर कर आत्म तत्त्व के चिंतन को बहुत महत्त्व का सिद्ध किया। भद्रबाहु और वराह भी उस उपदेश को सुन रहे थे और इन दोनों भाइयों* पर उसका ऐसा प्रबल प्रभाव पड़ा कि इन्होंने त्याग स्वीकार कर लिया। भद्रबाहु चतुर्दशपूर्वी और छत्तीस गुण-संपूर्ण सूरि हुआ। उसने दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, व्यवहार, आवश्यक, सूर्यप्रज्ञप्ति, सूत्रकृत, आचारांग और ऋषिभाषित ये दस ग्रंथ एवं भाद्रबाहवी नाम की संहिता की रचना की। उस समय आर्यसंभूत विजय भी चतुर्दशपूर्वी हो गए थे। उनकी और भद्रबाहु की यशोभद्र सूरि के स्वर्गवास हो जाने के कारण सब से अधिक मैत्री हो गई थी। वराह भी कुछ कम विद्वान् नहीं था। वह भी "सूरि" पद की आकांक्षा करने लगा। परंतु भद्रबाहु ने कहा कि वत्स! तुम विद्वान् हो, क्रियावान् हो; परंतु तुम में गर्व की मात्रा बहुत है। घमंडी को सूरि पद नहीं दिया जा सकता। भाई की यह उक्ति, जो किसी अंश में सच्ची भी थी, इसके मन को नहीं भाई और इसने जैन व्रत त्याग अपना पूर्व का विप्र-वेश ग्रहण कर लिया। विद्या तो यह पढ़ ही चुका था। अब इसने वाराह संहितादि नवीन शास्त्रों की साभिमान रचना की और लोगों से कहने लगा कि मैंने बचपन में ही लग्न साधने का अभ्यास कर लिया था। एक बार प्रतिष्ठानपुर के बाहर शिला पर मैंने लग्न लिखा और उसे बिना मिटाए ही अपने

* भद्रबाहु और वराह (वराह मिहिर) न तो दोनों भाई थे और न समकालीन थे। भद्रबाहु और संभूतिविजय सूरि दोनों यशोभद्र स्वामी के शिष्य थे, ऐसा जैन ग्रंथों से पाया जाता है। जैन ग्रंथकार संभूतिविजय सूरि का स्वर्गवास वीर संवत् १५६ (वि. सं. से पूर्व ३१४) में होना मानते हैं। वराहमिहिर ने अपनी 'पंचसिद्धांतिका' में गणित का आरंभ शक संवत् ४२७ (वि. सं. ५६२) से किया है जिससे स्पष्ट है कि वराहमिहिर ने उक्त ग्रंथ की रचना उक्त वर्ष में की। वराहमिहिर दक्षिण के प्रतिष्ठानपुर (पैठण) के निवासी भी नहीं थे। वे अपने 'बृहज्जातक' में अपने को 'आवंतिक' अर्थात् अवंती (मालवे) का रहनेवाला बतलाते हैं। सारा 'भद्रबाहु वराह प्रबंध' कपोल-कल्पित प्रतीत होता है। सम्पादक।

प्रबंध हैं * और दो चार को छोड़ सब के सब जैन-धर्मावलम्बी पुरुषों के विषय में लिखे गए हैं। इनमें सब से बड़ा तथा अधिक महत्त्व का प्रबन्ध "वस्तुपाल" के विषय में है। इसकी चर्चा "सोमेश्वरदेव और कीर्तिकौमुदी" लेख में पहले की जा चुकी है। विक्रमादित्य के विषय में भी एक प्रबन्ध है; परंतु उससे चमत्कृत कहानियों के अतिरिक्त कोई गौरव-पूर्ण बात नहीं ज्ञात होती। ऐसा ही वत्सराज उदयन के विषय का प्रबंध है। हम इन २४ प्रबंधों में से दो प्रबंधों का सार पत्रिका के पाठकों को भेंट करते हैं। आशा है, इससे पाठक गण इस ग्रंथ की शैली का अनुमान कर लेंगे। वे दो प्रबंध "भद्रबाहु वराह प्रबंध" और "हर्ष कवि प्रबंध" हैं। वराह और हर्ष दोनों ही सुप्रसिद्ध व्यक्ति हैं और आज कल के विद्वानों ने इनके विषय में बहुत कुछ अन्वेषण किया है। परंतु हमारा तात्पर्य इस समय यह बतलाने का है कि राजशेखर इनके विषय में क्या मानता अथवा जानता था। जहाँ तक हमें ज्ञात है, श्रीहर्ष की जीवनी राजशेखर को छोड़कर किसी प्राचीन विद्वान् ने नहीं लिखी है।

भद्रबाहु वराह प्रबन्ध

दक्षिण देश के प्रतिष्ठानपुर में भद्रबाहु और वराह नाम के दो ब्राह्मणकुमार रहते थे। यद्यपि वे निर्धन और निराश्रय थे, परंतु निर्बुद्धि नहीं थे। एक समय यशोभद्र नामक एक जैन विद्वान वहाँ पर आए और उन्होंने व्याख्यान देते हुए सांसारिक भोगों को क्षण-

---

* २४ प्रबंध इस प्रकार है—१ भद्रबाहु वराह। २ आर्य नन्दिल। ३ जीवदेव सूरि। ४ खपुटाचार्य। ५ पादलिप्ताचार्य। ६ वृद्धवादी सिद्धसेन सूरि। ७ मल्लवादी। ८ हरिभद्र सूरि। ९ बप्प भट्टि सूरि। १० हेमचन्द्र सूरि। ११ हर्ष कवि। १२ हरिहर कवि। १३ अमर सूरि। १४ मदन कीर्ति। १५ सातवाहन। १६ वङ्कचूल। १७ विक्रमादित्य। १८ नागार्जुन। १९ वत्सराज उदयन। २० लक्ष्मणसेन। २१ मदनवर्मा। २२ रत्नश्रावक। २३ आमड। और २४ वस्तुपाल।

सम्मिलित न होना वराहमिहिर को बहुत खटका। लोगों ने भी भद्र-बाहु से कहा कि आप वहाँ चलें तो अच्छा हो। व्यर्थ मनोमालिन्य बढ़ाने में क्या सार है? यह सुन भद्रबाहु ने कहा कि दो बार चलने से क्या लाभ है? यह बालक सातवें दिन बिल्ली से मारा जायगा। उस समय भी तो बैठने के लिये (शोक-विसर्जन के लिये) चलना पड़ेगा। उन लोगों ने कहा कि वराहमिहिर ने तो शिशु की सौ वर्ष की आयु बतलाई है। इस पर सूरिजी ने कहा—क्या डर है! अवधि समीप ही है; सच झूठ परख लेना। दैव योग से ऐसा हुआ कि सातवें दिन जब दो पहर रात बीतने पर धाय उसे दूध पिलाने लगी तब उस बालक पर, किसी मनुष्य के संचार से द्वार का लोहे का आगल, जिस पर बिल्ली का चित्र खुदा हुआ था, गिर पड़ा और वह मर गया। इस से श्रावकों की खूब बन आई। वराहमिहिर शोक-ग्रस्त हो ज्योतिष के ग्रंथों की निन्दा करने लगा। परंतु भद्रबाहु ने कहा—शास्त्र सत्य हैं। केवल तुम्हारे निर्णय करने में भूल रह गई थी। राजा ने भी सब बातें सुनीं और श्रावक धर्म अंगीकार किया। वराहमिहिर और भी अधिक जैनधर्म-द्वेषी हो गया।

हर्ष कवि प्रबन्ध

बनारस में गोविन्दचन्द्र नामक एक राजा हुआ जिसके ७५० रानियाँ थीं। वह अपने पुत्र जयन्तचन्द्र*को राज्य देकर योग द्वारा परलोक साधने लगा। इस राजकुमार ने ७०० योजन पृथ्वी जीती। इसके

---

* यद्यपि राजशेखर के छपे हुए प्रबन्ध में गोविन्दचन्द्र के पश्चात् जयन्तचन्द्र ही नाम मिलता है, परंतु यह भूल है, क्योंकि जयचन्द्र के एक दानपत्र से सिद्ध है कि वह गोविंद-चंद्र का पौत्र और विजयचंद्र का पुत्र था। जैत्रचंद्र, जयन्तचंद्, जयचंद्र और जयचन्द एक ही पुरुष के सूचक हैं। कन्नौज का राजा जयचन्द, जो पृथ्वीराज के समय में विद्यमान था, यही है।

स्थान पर आकर सो गया। फिर स्वप्न में उस लग्न का ही विचार आया; मानो मैं उसे मिटाने को वहाँ जा रहा हूँ। परंतु क्या देखता हूँ कि उस शिला पर एक सिंह बैठा हुआ है। मैंने उसका तनिक भी विचार नहीं किया। चट निर्भय रूप से अपना हाथ उसके पेट के नीचे डाल लग्न मिटा दिया। परंतु ज्यों ही मैंने ऐसा किया, त्यों ही वह सिंह सहसा साक्षात् सूर्य्य बन गया और मुझ से कहने लगा कि वत्स! मैं तेरी दृढ़ता और लग्न सह की भक्ति से प्रसन्न हुआ हूँ। मैं साक्षात् सूर्य्य हूँ। तू वर माँग। मैंने उत्तर दिया कि स्वामिन्! यदि आप प्रसन्न हैं, तो मुझे अपने विमान में बैठा समस्त ज्योतिश्चक्र के दर्शन कराइए। उन्होंने ऐसा ही किया। मैंने खूब सैर की और उनके अमृत प्रदान के प्रभाव से न मुझे भूख लगी न प्यास लगी। यों कृतकृत्य हो उनकी अनुमति ले इस ज्ञान से जगत का उपकार करने को मैं महीतल पर उतरा हूँ। मैं "वराह मिहिर" हूँ। यों अपनी प्रसिद्धि कर यह इतना पूजा गया कि प्रतिष्ठानपुर के शत्रुजित् नरेश ने उसे अपना पुरोहित बना लिया। अब वह श्वेताम्बरों की पेट भर निन्दा करने लगा और कहने लगा कि ये बेचारे कौवे क्या जानें? मक्खियों की तरह भिनभिनाते हुए क़ैदियों के से कुवस्त्र पहनते हुए काल काटते हैं। खैर, काटने दो। ऐसे शब्दों से श्रावकों के शिरों में शूल उत्पन्न होने लगा। परंतु करें क्या? वराह कलावान् था। राजा भी उसका सन्मान करता था। श्रावकों ने सलाह करके भद्रबाहु को अपने नगर में बुलवाया और समारोह के साथ उनका प्रवेशोत्सव किया और उनके व्याख्यान प्रारंभ करवाए। उसी अवसर पर वराह मिहिर के एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसकी उसने सौ वर्ष की आयु बतलाई। बालक का जन्मोत्सव बड़ी धूम धाम से मनाया गया। लोगों ने बड़ी बड़ी बधाइयाँ दीं। ऐसे पुत्रजन्म महोत्सव के अवसर पर अपने सहोदर भद्रबाहु का उसी नगर में विद्यमान होते हुए भी

सावधानी से साधता रहा, जिसका परिणाम यह हुआ कि उसे त्रिपुरा (एक देवी) के साक्षात् दर्शन हुए और "तेरा आदेश अमोघ होगा" इत्यादि वर प्राप्त हुए। तदनंतर वह राज-सभाओं में विचरने लगा और ऐसी ऐसी उक्तियाँ कहने लगा कि जिनमें अलौकिक उदाहरणों का समावेश होता था और जिन्हें कोई समझ ही नहीं सकता था। लोगों की समझ में भी न आ सके, ऐसी अपनी अति विद्या से वह खिन्न हो गया। फिर सरस्वती को प्रत्यक्ष कर उसने कहा—माता! यह अति-प्रज्ञा भी मेरे लिये दोष के समान हो गई है; क्योंकि मेरे वचनों को तो लोग समझते ही नहीं। इसलिये ऐसी युक्ति कीजिए जिससे मेरी गिरा ऐसी हो जाय कि लोग उसे समझ सकें। तब देवी ने कहा—अच्छा तू आधी रात को सिर भिगोकर दही पीकर सो जाना। कफ के अंश की उत्पत्ति से तुझ में कुछ जड़ता का अंश आ जायगा। उसने वैसा ही किया और फिर वह ऐसे वचनोंवाला हो गया जिन्हें लोग समझने लगे। तदनन्तर उसने खण्डनादि सौ से भी अधिक ग्रंथ रचे* और कृतकृत्य हो काशी में आया। वहाँ नगर के बाहर ठहर जयंतचंद्र से कहलाया कि मैं विद्या पढ़कर आ गया हूँ। गुणानुरागी राजा अपने साथ हीर को जीतनेवाले पंडित को तथा चारों वर्णों के मुखियाओं को लेकर स्वागत करने गया और देखते ही श्रीहर्ष को नमस्कार किया। उसने भी सब के साथ यथायोग्य बर्ताव किया और राजा की स्तुति में निम्न लिखित श्लोक कहा—

* इस समय हर्ष के दो ग्रंथ खंडनखंडखाद्य और नैषधचरित बहुत प्रसिद्ध हैं। पिछले ग्रंथ में कवि ने अपने रचे 'स्थैर्य विचार,' 'श्री विजयप्रशस्ति,' 'गौडोर्वीश कुल प्रशस्ति,' 'अर्णव वर्णन,' 'छंद प्रशस्ति' 'शिव शक्ति सिद्धि' और 'साहसांकचरित' ग्रंथों के नाम लिए हैं। बहुत संभव है, खोज करने से कदाचित् इस कवि के अन्य ग्रंथ उपलब्ध हो जायँ। सरस्वती [illegible] की कथा लिखी है, उससे यह अनुमान होता है कि श्रीहर्ष ने प्रारंभ में ही क्लिष्ट रचनावाले ग्रंथ बनाए। संस्कृत के कवियों ने अपने पूर्ववर्ती कवियों से क्लिष्टतर ग्रंथ लिखने में अधिक गौरव समझा, यह बात निर्विवाद है।

मेघचंद्र * नामक पुत्र हुआ जो अपने सिंह नाद से मदोन्मत्त हाथियों को तो क्या, सिंहों तक को परास्त कर सकता था। उस राजा के प्रयाण करते समय उसकी महती सेना की प्यास बिना गंगा यमुना के जल के नहीं बुझ सकती थी। इसलिये दो नदी रूपी लकड़ियों को ग्रहण कर चल सकने से वह राजा "पंगुल" संज्ञा से संसार में प्रसिद्ध हुआ। उसकी एक गोमती दासी ही साठ हज़ार घोड़ों पर प्रखरा† डालकर शत्रु की सेना को भयभीत कर देती थी। राजा के श्रम करने की तो नौबत ही नहीं आती थी। उस राजा के यहाँ अनेक विद्वान् थे जिनमें एक "हीर" नामक ब्राह्मण था, जिसका पुत्र प्राज्ञ चक्रवर्ती श्रीहर्ष हुआ। जब श्रीहर्ष बालक ही था, तब एक अवसर पर एक वादी ने राजा के समक्ष हीर को पराजित कर मुद्रित-वदन कर दिया। इस अपमान का शूल उसे जीवन भर रहा; यहाँ तक कि मरते समय उसने अपने पुत्र श्रीहर्ष से कहा कि यदि तू सुपुत्र है, तो तू राजसभा में उस पुरुष को पराजित करना। पुत्र ने यह आज्ञा स्वीकार की और पिता ने तुरत परलोक को पयान किया। श्रीहर्ष ने अपने कुटुंब का भार समझदार नजदीकी रिश्तेदारों पर छोड़ विदेश जा विविध आचार्यों से अल्प काल में ही तर्क, अलङ्कार, गीत, गणित, ज्योतिष, मंत्र, व्याकरणादि सब चमत्कारी विद्याएँ सीख लीं और पूज्य गुरु के बताए हुए चिंतामणि मंत्र को गंगा के किनारे एक वर्ष तक

---

* जयचन्द के पुत्र का नाम मेघचन्द्र नहीं किंतु हरिश्चन्द्र था, जैसा कि जयचन्द्र के दानपत्रों से पाया जाता है।

† प्रखर—पाखर। जैसे युद्ध के समय योद्धा अपने शरीर की रक्षा के लिये कवच, (बख्तर) पहनते थे, वैसे ही घोड़ों और हाथियों की रक्षा के लिये उन पर पाखर डाली जाती थी। पाखर मोटे मोटे वस्त्रों से बनाई जाती थी और उनके बीच में लोहे की चपटी शलाकाएँ या गुथी हुई लोहे की जाली रहती थी जिससे शत्रु के बाण, तलवार, भाले आदि शस्त्रों से उनके शरीर की रक्षा होती थी। ऐसी पाखरें अब तक राजाओं तथा सरदारों के यहाँ बहुत सी पाई जाती हैं और कभी कभी सवारियों आदि में उनका उपयोग भी किया जाता है।

आशय—यों तो अपने शौण्डीर्य और वीर्य से उद्धत हिंसक पशु वन में सहस्रों ही हैं, परंतु हम तो उस लोकोत्तर पराक्रमी एक सिंह ही की प्रशंसा करते हैं जिसकी साहंकार हुंकार को सुनकर कोलकुलों (सूअरों) ने केलि, मदकलों (मस्त हाथियों) ने मद, नाहलों (नाहरों) ने कोलाहल और भैंसों ने हर्ष त्याग दिया।

यह सुन हर्ष का क्रोध उतर गया। राजा ने भी उस पंडित की इस समयोचित उक्ति की सराहना की और उसका तथा श्रीहर्ष का गाढ आलिंगन करा दिया और खूब धूमधाम के साथ श्रीहर्ष को एक लाख सुवर्ण मुद्रा भेंट कर विदा किया। एक दिन राजा ने प्रसन्न होकर कहा कि हे कवीश ! वादींद्र ! आप कोई प्रबन्ध रत्न रचें तो बहुत उत्तम हो। राजा की इस प्रेरणा पर उसने दिव्य रस और महा गूढ़ व्यंग्य से भरी हुई उक्तियोंवाला नैषध काव्य रचा, जिसे देख राजा बहुत प्रसन्न हुआ और कहने लगा कि आप कश्मीर पधारकर वहाँ के पंडितों को इसे दिखावें।,वहाँ सरस्वती साक्षात् स्वरूप से निवास करती है। उसके हाथ में यदि असत्य प्रबंध (ग्रंथ) रख दिया जाय तो उसे कूड़े करकट की तरह वह दूर फेंक देती है; और जो सत्य होता है, उसके प्रति सिर हिलाकर अपनी स्वीकृति प्रकट करती है और उस घड़ी ऊपर से पुष्प-वृष्टि हुआ करती है। श्रीहर्ष राजा के दिए धन से, बहुत ठाट बाट के साथ कश्मीर गया और सरस्वती के हाथ में पुस्तक रक्खी; परंतु उसने उसे दूर फेंक दिया। यह देख श्रीहर्ष ने कहा कि क्या बुढ़ापे के कारण तू मन्द मति हो गई है ? मेरे प्रबंध को भी ऐरे गैरे प्रबन्धों की तरह समझती है ? सरस्वती ने कहा—हे परमर्ममापक, तुझे याद नहीं आता कि तूने ग्यारहवें सर्ग के चौंसठवें श्लोक* में मुझे विष्णु पत्नी

---

* यह नारायण पंडित की टीका सहित बम्बई में छपे हुए ग्रंथ के ग्यारहवें सर्ग का ६६ वाँ श्लोक है—

देवी पवित्रितचतुर्भुजवामभागा वागालपत्पुनरिमां गरिमाभिरामाम् ।
अस्यारिनिष्कृपकृपाणसनाथपाणेः पाणिग्रहादनुगृहाण गणं गुणानाम् ॥

गोविंदनंदनतया च वपुःश्रिया च
मास्मिन्नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः ।
अस्त्रीकरोति जगतां विजये स्मरः स्त्री-
रस्त्रीजनः पुनरनेन विधीयते स्त्री ॥

आशय—गोविंदनंदन (गोविंदचंद्र का पुत्र, श्रीकृष्ण का पुत्र) होने तथा शरीर से रूपवान् होने से हे स्त्रियो ! तुम कहीं इस (जयंतचंद्र) राजा में काम (प्रद्युम्न) बुद्धि मत कर बैठना । देखो, कामदेव तो अपनी विजय में स्त्री को अस्त्री करता है (अर्थात् अपना अस्त्र बनाता है) परंतु यह अस्त्री (अर्थात् अस्त्रधारी) को स्त्री बना देता है ।

उसने इस पद की उच्च स्वर से सविस्तर सरस व्याख्या की जिसे सुन सब सभ्य और सम्राट् प्रसन्न हो गए । तदनतर पितृवैरी वादी को देखकर वह सकटाक्ष बोला—

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रथिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती ।
शय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भांकुरैरास्तृता
भूमिर्वा हृदयंगमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम् ॥

आशय—साहित्य जैसी सुकुमार वस्तु में तथा कड़े गठीले तर्क में मेरे लिये भारती समान लीलावाली है, क्योंकि चाहे कोमल शय्या हो, चाहे घास फूस की भूमि हो, स्त्रियों को यदि पति हृदयंगम है, तो दोनों एक सी ही आनंददायक होती हैं ।

यह सुनकर उस वादी ने कहा—देव ! वादींद्र ! भारतीसिद्ध ! आपके समान कोई नहीं है । और की तो बात ही क्या, देखिए—

हिंस्राः सन्ति सहस्रशोऽपि विपिने शौण्डीर्यवीर्योद्यता-
स्तस्यैकस्य पुनः स्तुवीमहि महः सिंहस्य विश्वोत्तरम् ।
केलिः कोलकुलैर्मदो मदकलैः कोलाहलं नाहलै
सहर्षो महिषैश्च यस्य मुमुचे साहंकृते हुंकृते ॥

सामान पूरा हो चला। यहाँ तक कि उसको अपने बैल आदि भी बेचने पड़े और असबाब भी कम रह गया। अब दैवयोग से ऐसा हुआ कि एक दिन जब श्रीहर्ष नदी के समीप किसी मंदिर में, जिसके पास ही एक कूप था, चुपचाप रुद्र जप कर रहा था, दो गृहस्थों की चेटियों में लड़ाई हो पड़ी। एक कहती थी—मैं पहले जल भरूँगी। दूसरी कहती थी—नहीं, तू कैसे भरेगी? मैं पहले भरूँगी। यों बहुत देर तक तो उनमें वादविवाद होता रहा। फिर मारपीट प्रारंभ हो गई। यहाँ तक कि सिर फूट गए और मामला राज-दरबार में पहुँचा। राजा ने गवाही तलब की। उन्होंने कहा कि वहाँ एक ब्राह्मण जप कर रहा था। और कोई नहीं था। तदनन्तर सिपाही वहाँ पहुँचे। वे श्रीहर्ष को ले आए और उससे झगड़े के विषय में पूछा। उसने संस्कृत भाषा में उत्तर देते हुए कहा कि देव! मैं विदेशी हूँ; अतः यह तो मैं नहीं समझता कि यहाँ की भाषा बोलनेवाली इन स्त्रियों ने क्या कहा। हाँ, उनके मुख से निकले हुए शब्द मुझ को याद हैं। राजा ने कहा—अच्छा, जो कोई शब्द तुमको याद रहे हों, वे ही सुनाओ। तब श्रीहर्ष ने क्रम-पूर्वक उनकी सैकड़ों उक्तियाँ और प्रत्युक्तियाँ सुना डालीं। राजा आश्चर्य में मग्न हो गया। श्रीहर्ष की प्रज्ञा और अवधारण पर वाह वाह करने लगा और दासियों के वाग्विवाद का निर्णय कर यथा संभव निग्रह अनुग्रह कर उन्हें बिदा किया; और श्रीहर्ष से पूछा कि हे अपूर्व मेधिर शिरोमणि। आप कौन हैं? इस सुअवसर पर श्रीहर्ष ने अपनी सारी कथा वर्णन करते हुए कहा कि राजन्! यों मैं पंडितों के दौर्जन्य से दुःखपूर्वक आप के नगर में निवास कर रहा हूँ। अब यथार्थ बात जानकर राजा ने पंडितों को बुलाकर कहा—धिक्कार है तुम्हें, मूर्खो! ऐसे रत्न में भी तुम्हारी रति नहीं।

वरं प्रज्वलिते वह्नावह्नाय निहितं वपुः।
न पुनर्गुणसम्पन्ने कृतः स्वल्पोऽपि मत्सरः॥

बताकर मेरे संसार-प्रसिद्ध कन्याभाव का लोप कर डाला। बस इसी लिये मैंने तेरी पुस्तक फेंक दी; क्योंकि—

याचको,वंचको व्याधिः पञ्चत्वं मर्मभापकः।
योगिनामप्यमी पञ्च प्रायेणोद्वेगहेतवः॥

आशय—याचक, वंचक, व्याधि, मृत्यु और मर्मभापक ये पाँचों योगियों तक में भी उद्वेग उत्पन्न करनेवाले होते हैं।

सरस्वती के ये वचन सुन श्रीहर्ष ने कहा कि तुम ने एक अवतार में नारायण को पति बनाने की क्यों इच्छा की? पुराणों में भी तुम को विष्णु-पत्नी कह रखा है। ऐसी अवस्था में जब मैंने सत्य बात कही, तब उस पर क्यों कुपित होती हो? यह उत्तर सुन सरस्वती ने अपने आप उस पुस्तक को अपने हाथ में ले लिया और सभा में ग्रंथ की प्रशंसा हुई। श्रीहर्ष ने वहाँ के पंडितों से कहा कि आप मेरे इस ग्रंथ को यहाँ के राजा माधवदेव * को दिखावें और श्री जयन्तचंद्र के नाम इस काव्य के निर्दोष होने के विषय में लेख लिखवावें। उन लोगों ने इस ग्रंथ को सुनकर भी और शारदा की पूर्व अनुमति हो जाने पर भी न तो श्रीहर्ष को प्रमाणपत्र दिया, न वह ग्रंथ राजा को दिखाया। श्रीहर्ष को प्रतीक्षा में रहते रहते महीनों हो गए। उसने मार्ग का

दमयंती के स्वयंवर में देश देश के राजा और राजाओं के स्वरूप में देवता आए हुए थे। राजकुमारी वरमाला लिए रंगस्थल में पधारी और सरस्वती उसे भाव हुओं का परिचय कराने लगी। कवि वर्णन करता है कि चतुर्भुज विष्णु भगवान का वाम भाग जिससे सुशोभित है, ऐसी सरस्वतीदेवी ने राजकुमारी दमयंती को सगौरव मनोहर वचन कहे कि हे बाले! तू इस राजा से, जिसका हाथ शत्रुओं के लिये निर्दय कृपाण धारण करनेवाला है, विवाह करके गुणों के मय पर अनुग्रह कर।

* श्रीहर्ष के समय माधवदेव नाम का कोई राजा कश्मीर में नहीं हुआ। श्रीहर्ष जयचन्द्र के दरबार का कवि था। जयचन्द्र ने वि० सं० १२२६ से १२५० तक राज्य किया। उस समय कश्मीर में जोप्यदेव (जोप्पदेव) और जस्सदेव राजा हुए थे।

सामान पूरा हो चला। यहाँ तक कि उसको अपने बैल आदि भी बेचने पड़े और असबाब भी कम रह गया। अब दैवयोग से ऐसा हुआ कि एक दिन जब श्रीहर्ष नदी के समीप किसी मंदिर में, जिसके पास ही एक कूप था, चुपचाप रुद्र जप कर रहा था, दो गृहस्थों की चेटियों में लड़ाई हो पड़ी। एक कहती थी—मैं पहले जल भरूँगी। दूसरी कहती थी—नहीं, तू कैसे भरेगी? मैं पहले भरूँगी। यों बहुत देर तक तो उनमें वादविवाद होता रहा। फिर मारपीट प्रारंभ हो गई। यहाँ तक कि सिर फूट गए और मामला राज-दरबार में पहुँचा। राजा ने गवाही तलब की। उन्होंने कहा कि वहाँ एक ब्राह्मण जप कर रहा था। और कोई नहीं था। तदनन्तर सिपाही वहाँ पहुँचे। वे श्रीहर्ष को ले आए और उससे झगड़े के विषय में पूछा। उसने संस्कृत भाषा में उत्तर देते हुए कहा कि देव! मैं विदेशी हूँ; अतः यह तो मैं नहीं समझता कि यहाँ की भाषा बोलनेवाली इन स्त्रियों ने क्या कहा। हाँ, उनके मुख से निकले हुए शब्द मुझ को याद हैं। राजा ने कहा—अच्छा, जो कोई शब्द तुमको याद रहे हों, वे ही सुनाओ। तब श्रीहर्ष ने क्रम-पूर्वक उनकी सैकड़ों उक्तियाँ और प्रत्युक्तियाँ सुना डालीं। राजा आश्चर्य में मग्न हो गया। श्रीहर्ष की प्रज्ञा और अवधारण पर वाह वाह करने लगा और दासियों के वादविवाद का निर्णय कर यथा संभव निग्रह अनुग्रह कर उन्हें बिदा किया; और श्रीहर्ष से पूछा कि हे अपूर्व मेधिर शिरोमणि! आप कौन हैं? इस सुअवसर पर श्रीहर्ष ने अपनी सारी कथा वर्णन करते हुए कहा कि राजन्! यों मैं पंडितों के दौर्जन्य से दुःखपूर्वक आप के नगर में निवास कर रहा हूँ। अब यथार्थ बात जानकर राजा ने पंडितों को बुलाकर कहा—धिक्कार है तुम्हें, मूर्खो! ऐसे रत्न में भी तुम्हारी रति नहीं।

वरं प्रज्वलिते वह्नावह्नाय निहितं वपुः।
न पुनर्गुणसम्पन्ने कृतः स्वल्पोऽपि मत्सरः॥

वरं सा निर्गुणावस्था यस्यां कोऽपि न मत्सरी ।
गुणयोगे तु वैमुख्यं प्रायः सुमनसामपि ॥

आशय—सच समझो, दहकती हुई आग में देह जलाकर मर जाना किसी कदर अच्छा है, परंतु गुण-संपन्न में तनिक भी गुणद्वेषी होना अच्छा नहीं। ऐसी निर्गुण अवस्था, जिसमें कोई अन्य शुभद्वेषी नहीं होता, सराहनीय है। गुण (सूत का तागा) के योग में सुमन (फूल, सहृदय, देवता) का विमुख होना देखा जाता है।

इसलिये तुम लोग दुष्ट हो। बस जाओ और तुममें से प्रत्येक पुरुष इस महात्मा का अपने घर में सत्कार करो। इस अवसर पर श्रीहर्ष ने निम्नलिखित (चुभता हुआ) श्लोक कहा—

यथा यूनस्तद्वत्परमरमणीयापि रमणी
कुमाराणामन्तः करणहरणं केव (नैव ?) कुरुते।
मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषाराधनरसैः॥

आशय—परम रमणीय रमणी जैसे युवाओं का चित्त हरण करती है, वैसे बालकों का नहीं करती। जब मेरी उक्ति बुद्धिमानों के मन में अमृत बन कर प्रमोद करती है, तब उसे अरसिक पुरुषों के आराधन की क्या आवश्यकता है ?

इससे पंडित लोग बहुत लज्जित हुए और सब ने श्रीहर्ष को अपने अपने घर ले जाकर उनका सत्कार किया। राजा ने भी इन सत्कारज्ञ पुरुषों के साथ उसे काशी को विदा किया। वहाँ जाकर वह जयन्तचंद्र से मिला और अपना सब वृत्तान्त वर्णन किया, जिसे सुन राजा बहुत प्रसन्न हुआ और तदनन्तर नैषध काव्य * का संसार में खूब प्रचार हुआ।

---

* इस काव्य पर २३ टीकाओं का लिखा जाना इसकी प्रसिद्धि का प्रबल प्रमाण है। उनमें से ६ टीकाएँ तो अभी तक विद्यमान हैं।

एक बार जयन्तचंद्र का पद्माकर नामक प्रधान मंत्री अणहिलपत्तन (पाटण, गुजरात की राजधानी) गया और वहाँ उसने धोबी से धोई जाती हुई एक साड़ी देखी, जिस पर केतकी के समान भ्रमरों का

बयाने के जतीजी के यहाँ करीब ३०० वर्ष पहले की लिखी हुई 'नैषध' की टीका नरहरि पंडित की है जिसके अंत में श्रीहर्ष का वृत्तान्त इस तरह दिया है—

अथ नैषधीय टीकायाः प्रशस्तिर्लिख्यते ।

प्राच्यामुच्चैस्तोरमुक्ताभिधान-
स्कंधावारे प्राज्यमाम्राज्यधाम्नि ।
त्रैविद्य (द्यो) भूद्विमहीरगजन्मा
श्रीहर्षः श्री केलिविश्वंभर श्रीः ॥ १ ॥

राज्ञां मान्यो देवनापूरिताशः
पार्श्वप्रेंखत्कामिनीवृंदचंद्रः ।
वागमहोक्तः सोन्यदा नैषधाख्यं
साहित्याग्र्यं नव्य काव्यं व्यधत्त ॥ २ ॥

निजात्पुरात्याय वराणसीं स
लात्वा कवित्वं कविरंगभूमिं ।
तत्रास्ति च व्यक्तिविवेकनामा-
लंकारकर्ता महिमप्रमादः ॥ ३ ॥

रुद्र (द्र) स्थितं प्रविश्याय कन्या-
कुब्जे राजाग न्नृपजेत्रचंद्र ।
तदानदःप्रसकूलप्रभूता
प्रादुर्भूत सौभाग्यरसः कवीन्द्रः ॥ ४ ॥

मोस्लेश्वरी नैषधकाव्यटीका
गदाधरी सा विवृतिः प्रभूता ।
गुंद्रेयभट्टस्य तदीयवृत्ति-
टीका तथैवेन्नृहरेः प्रवीणा ॥ ५ ॥

नरहरि अपनी टीका के अंत में अपना परिचय इस तरह देता है—

यं प्रासूत त्रिलिंगदिग्विनिसतनाराधिनी हि स्वयंभूः ।
पातिव्रत्यैकसीमा प्रकृति नरहरि नामधी वाच सात्वी ।
यं विद्यारण्य योगी कलयति कृपया तत्कृतो दीपिकाच ।
द्वाविंशाख्य सर्गः प्रकृत सुधसोपानजीगजनो भूत् ॥

दल लदा हुआ था। वह यह देख दंग रह गया और धोबी से कहने लगा कि जिस युवती की यह साड़ी है, उसके तनिक दर्शन तो करा दे। उस मंत्री का मन उस पद्मिनी का निर्णय करने में अटक रहा था। धोबी ने सायंकाल को उसे साथ ले जाकर साड़ी लौटा दी और उस स्वामिनी सूहवदेवी के, जो शालापति की युवती और सुंदरी विधवा पत्नी थी, दर्शन करा दिए। वह उसे कुमारपाल राजा के द्वारा उसके घर से हटवाकर अपने साथ ले सोमनाथ की यात्रा करता हुआ काशी गया और उस (पद्मिनी) को जयन्तचंद्र की भोगिनी (उप-पत्नी) बना दिया। उसका नाम "सूहवदेवी" प्रसिद्ध हो गया। वह बड़ी घमंडी एवं विदुषी भी थी। अतः वह "कलाभारती" के नाम से लोक में विख्यात हुई। श्रीहर्ष भी "नर भारती" कहलाता था; परंतु इसकी उस उपाधि को वह मत्सरिणी नहीं सह सकती थी। एक बार उसने सत्कार कर श्रीहर्ष से पूछा कि आप कौन हैं। उसने कहा—मैं कला-सर्वज्ञ हूँ। रानी ने कहा—अच्छा, यदि आप कला-सर्वज्ञ हैं तो मुझे जूते तो पहनाइए। ऐसा कहने में रानी का यह आन्तरिक भाव था कि यदि इसने यह विचार कर कि मैं ब्राह्मण हूँ, भला ऐसा ओछा काम क्योंकर करूँ, यह कह दिया कि मैं जूते पहनाना तो नहीं जानता, तो इसकी कला-सर्वज्ञता में बट्टा लग जायगा। निदान बेचारे श्रीहर्ष को जूते पहनाने का कार्य स्वीकार ही करना पड़ा। यों उसकी कुचेष्टा से खिन्न हो उसने गंगा के किनारे सन्यास ले लिया।

उस साम्राज्य की स्वामिनी सूहवदेवी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ और वह क्रमशः युवा हुआ। वह कुमार धीर था, परंतु कुटिल था। उस राजा के विद्याधर नामक एक मंत्री था जिसके पास चिंतामणि विनायक के प्रसाद से सब धातुओं को सुवर्ण बना देनेवाला प्रख्यात पारस पत्थर था, जिसके द्वारा वह ८८०० ब्राह्मणों को भोजन कराता था और यों "लघु युधिष्ठिर" कहलाता था। वह कुशलबुद्धि था।

राजा ने उससे पूछा कि मैं कौन से कुमार को अपना राज्य दूँ ? इसके उत्तर में मंत्री ने कहा कि शुद्ध कुलीन (कुमार) मेघचन्द्र को दो, न कि इस घर में डाली हुई (सूहवदेवी) के पुत्र को। इस परामर्श से क्या हो सकता था। राजा पर तो उस कामिनी ने अधिकार कर रक्खा था; इसलिये वह उसके ही पुत्र को राज्य देना चाहता था। यों राजा और मंत्री में विरोध उत्पन्न हो गया। तो भी मंत्री ने जैसे तैसे सत्य बात को राजा के गले उतार कुमार मेघचन्द्र को युवराज पद पर सुशोभित करना अंगीकार करवाया। इस पर सूहवदेवी बहुत नाराज हो गई; यहाँ तक कि अपने धन और बल से अपने चुने हुए आदमियों को भेजकर तक्ष-शिलाधिपति सुरत्राण (सुलतान) को काशी का नाश करने के लिये बुलवाया और वह एक एक मंजिल पर सवा सवा लाख अशर्फी लेता हुआ आने लगा। विद्याधर को गुप्त दूतों द्वारा इस बात का पता लग गया और उसने राजा के भी कानों में यह बात डाली। परंतु वह तो उसके जादू से उल्लू बना हुआ था। बोला कि यह तो मेरी वल्लभेश्वरी है; भला कहीं ऐसा पति-द्रोह करेगी ? मंत्री ने यहाँ तक कहा कि राजन् ! अब अमुक मंजिल पर शकेंद्र (सुलतान) है। परंतु उसके ध्यान में तनिक भी न आया और उसने उलटे मंत्री को वहाँ से निकाल दिया। इस पर वह मन में विचारने लगा कि राजा तो निपट मूढ हो चुका है। रानी (सूहवदेवी) का खूब जोर जमा हुआ है। वह अविवेकिनी है। स्थिति अपूर्व है। मैंने इसका नमक खाया है; अतएव अब मेरा मरण इस स्वामी के मरण से पहले ही हो जाय तो ठीक है। वह दिन निकलते ही अपने घर से रवाना हुआ। मार्ग में जाते हुए उसने तिलों का चूरा देखा और उसे खाने लगा। आगे बढ़ा तो खिले चने देखे; उन्हें भी खाने की इच्छा करने लगा। इन दो कुचेष्टाओं से अपना अवश्यम्भावी दुर्भाग्य निर्णय कर राजा के पास गया और बोला कि देव ! यदि आपको

दल लदा हुआ था। वह यह देख दंग रह गया और धोबी से कहने लगा कि जिस युवती की यह साड़ी है, उसके तनिक दर्शन तो करा दे। उस मंत्री का मन उस पद्मिनी का निर्णय करने में अटक रहा था। धोबी ने सायंकाल को उसे साथ ले जाकर साड़ी लौटा दी और उस स्वामिनी सूहवदेवी के, जो शालापति की युवती और सुंदरी विधवा पत्नी थी, दर्शन करा दिए। वह उसे कुमारपाल राजा के द्वारा उसके घर से हटवाकर अपने साथ ले सोमनाथ की यात्रा करता हुआ काशी गया और उस (पद्मिनी) को जयन्तचंद्र की भोगिनी (उपपत्नी) बना दिया। उसका नाम "सूहवदेवी" प्रसिद्ध हो गया। वह बड़ी घमंडी एवं विदुषी भी थी। अतः वह "कलाभारती" के नाम से लोक में विख्यात हुई। श्रीहर्ष भी "नर भारती" कहलाता था; परंतु इसकी उस उपाधि को वह मत्सरिणी नहीं सह सकती थी। एक बार उसने सत्कार कर श्रीहर्ष से पूछा कि आप कौन हैं। उसने कहा—मैं कला-सर्वज्ञ हूँ। रानी ने कहा—अच्छा, यदि आप कला-सर्वज्ञ हैं तो मुझे जूते तो पहनाइए। ऐसा कहने में रानी का यह आन्तरिक भाव था कि यदि इसने यह विचार कर कि मैं ब्राह्मण हूँ, भला ऐसा ओछा काम क्योंकर करूँ, यह कह दिया कि मैं जूते पहनाना तो नहीं जानता, तो इसकी कला-सर्वज्ञता में बट्टा लग जायगा। निदान बेचारे श्रीहर्ष को जूते पहनाने का कार्य स्वीकार ही करना पड़ा। यों उसकी कुचेष्टा से खिन्न हो उसने गंगा के किनारे संन्यास ले लिया।

उस साम्राज्य की स्वामिनी सूहवदेवी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ और वह क्रमशः युवा हुआ। वह कुमार धीर था, परंतु कुटिल था। उस राजा के विद्याधर नामक एक मंत्री था जिसके पास चिंतामणि विनायक के प्रसाद से सब धातुओं को सुवर्ण बना देनेवाला प्रख्यात पारस पत्थर था, जिसके द्वारा वह ८८०० ब्राह्मणों को भोजन कराता था और यों "लघु युधिष्ठिर" कहलाता था। वह कुशलबुद्धि था।

राजा ने उससे पूछा कि मैं कौन से कुमार को अपना राज्य दूँ? इसके उत्तर में मंत्री ने कहा कि शुद्ध कुलीन (कुमार) मेघचन्द्र को दो, न कि इस घर में डाली हुई (सूहवदेवी) के पुत्र को। इस परामर्श से क्या हो सकता था। राजा पर तो उस कामिनी ने अधिकार कर रक्खा था; इसलिये वह उसके ही पुत्र को राज्य देना चाहता था। यों राजा और मंत्री में विरोध उत्पन्न हो गया। तो भी मंत्री ने जैसे तैसे सत्य बात को राजा के गले उतार कुमार मेघचन्द्र को युवराज पद पर सुशोभित करना अंगीकार करवाया। इस पर सूहवदेवी बहुत नाराज हो गई; यहाँ तक कि अपने मन और बल से अपने चुने हुए आदमियों को भेजकर तक्ष-शिलाधिपति सुरत्राण (सुलतान) को काशी का नाश करने के लिये बुलवाया और वह एक एक मंजिल पर सवा सवा लाख अशर्फी लेता हुआ आने लगा। विद्याधर को गुप्त दूतों द्वारा इस बात का पता लग गया और उसने राजा के भी कानों में यह बात डाली। परंतु वह तो उसके जादू से उल्लू बना हुआ था। बोला कि यह तो मेरी वल्लभेश्वरी है; भला कहीं ऐसा पति-द्रोह करेगी? मंत्री ने यहाँ तक कहा कि राजन्! अब अमुक मंजिल पर शकेंद्र (सुलतान) है। परंतु उसके ध्यान में तनिक भी न आया और उसने उलटे मंत्री को वहाँ से निकाल दिया। इस पर वह मन में विचारने लगा कि राजा तो निपट मूढ हो चुका है। रानी (सूहवदेवी) का खूब जोर जमा हुआ है। वह अविवेकिनी है। स्थिति अपूर्व है। मैंने इसका नमक खाया है; अतएव अब मेरा मरण इस स्वामी के मरण से पहले ही हो जाय तो ठीक है। वह दिन निकलते ही अपने घर से रवाना हुआ। मार्ग में जाते हुए उसने तिलों का चूरा देखा और उसे खाने लगा। आगे बढ़ा तो खिले चने देखे; उन्हें भी खाने की इच्छा करने लगा। इन दो कुचेष्टाओं से अपना अवश्यम्भावी दुर्भाग्य निर्णय कर राजा के पास गया और ...

दल लदा हुआ था। वह यह देख दंग रह गया और धोबी से कहने लगा कि जिस युवती की यह साड़ी है, उसके तनिक दर्शन तो करा दे। उस मंत्री का मन उस पद्मिनी का निर्णय करने में अटक रहा था। धोबी ने सायंकाल को उसे साथ ले जाकर साड़ी लौटा दी और उस स्वामिनी सूहवदेवी के, जो शालापति की युवती और सुंदरी विधवा पत्नी थी, दर्शन करा दिए। वह उसे कुमारपाल राजा के द्वारा उसके घर से हटवाकर अपने साथ ले सोमनाथ की यात्रा करता हुआ काशी गया और उस (पद्मिनी) को जयन्तचंद्र की भोगिनी (उप-पत्नी) बना दिया। उसका नाम "सूहवदेवी" प्रसिद्ध हो गया। वह बड़ी घमंडी एवं विदुषी भी थी। अतः वह "कलाभारती" के नाम से लोक में विख्यात हुई। श्रीहर्ष भी "नर भारती" कहलाता था; परंतु इसकी उस उपाधि को वह मत्सरिणी नहीं सह सकती थी। एक बार उसने सत्कार कर श्रीहर्ष से पूछा कि आप कौन हैं। उसने कहा—मैं कला-सर्वज्ञ हूँ। रानी ने कहा—अच्छा, यदि आप कला-सर्वज्ञ हैं तो मुझे जूते तो पहनाइए। ऐसा कहने में रानी का यह आन्तरिक भाव था कि यदि इसने यह विचार कर कि मैं ब्राह्मण हूँ, भला ऐसा ओछा काम क्योंकर करूँ, यह कह दिया कि मैं जूते पहनाना तो नहीं जानता, तो इसकी कला-सर्वज्ञता में बट्टा लग जायगा। निदान बेचारे श्रीहर्ष को जूते पहनाने का कार्य स्वीकार ही करना पड़ा। यों उसकी कुचेष्टा से खिन्न हो उसने गंगा के किनारे संन्यास ले लिया।

उस साम्राज्य की स्वामिनी सूहवदेवी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ और वह क्रमशः युवा हुआ। वह कुमार धीर था, परंतु कुटिल था। उस राजा के विद्याधर नामक एक मंत्री था जिसके पास चिंतामणि विनायक के प्रसाद से सब धातुओं को सुवर्ण बना देनेवाला प्रख्यात पारस पत्थर था, जिसके द्वारा वह ८८०० ब्राह्मणों को भोजन कराता था और यों "लघु युधिष्ठिर" कहलाता था। वह कुशलबुद्धि था।

राजा ने उससे पूछा कि मैं कौन से कुमार को अपना राज्य दूँ ? इसके उत्तर में मंत्री ने कहा कि शुद्ध कुलीन (कुमार) मेघचन्द्र को दो, न कि इस घर में डाली हुई (सूहवदेवी) के पुत्र को। इस परामर्श से क्या हो सकता था। राजा पर तो उस कामिनी ने अधिकार कर रक्खा था; इसलिये वह उसके ही पुत्र को राज्य देना चाहता था। यों राजा और मंत्री में विरोध उत्पन्न हो गया। तो भी मंत्री ने जैसे तैसे सत्य बात को राजा के गले उतार कुमार मेघचन्द्र को युवराज पद पर सुशोभित करना अंगीकार करवाया। इस पर सूहवदेवी बहुत नाराज हो गई; यहाँ तक कि अपने मन और बल से अपने चुने हुए आदमियों को भेजकर तक्ष-शिलाधिपति सुरत्राण (सुलतान) को काशी का नाश करने के लिये बुलवाया और वह एक एक मंजिल पर सवा सवा लाख अशर्फी लेता हुआ आने लगा। विद्याधर को गुप्त दूतों द्वारा इस बात का पता लग गया और उसने राजा के भी कानों में यह बात डाली। परंतु वह तो उसके जादू से उल्लू बना हुआ था। बोला कि यह तो मेरी वल्लभेश्वरी है; भला कहीं ऐसा पति-द्रोह करेगी ? मंत्री ने यहाँ तक कहा कि राजन्! अब अमुक मंजिल पर शकेंद्र (सुलतान) है। परंतु उसके ध्यान में तनिक भी न आया और उसने उलटे मंत्री को वहाँ से निकाल दिया। इस पर वह मन में विचारने लगा कि राजा तो निपट मूढ हो चुका है। रानी (सूहवदेवी) का खूब ज़ोर जमा हुआ है। वह अविवेकिनी है। स्थिति अपूर्व है। मैंने इसका नमक खाया है; अतएव अब मेरा मरण इस स्वामी के मरण से पहले ही हो जाय तो ठीक है। वह दिन निकलते ही अपने घर से रवाना हुआ। मार्ग में जाते हुए उसने तिलों का चूरा देखा और उसे खाने लगा। आगे बढ़ा तो खिले चने देखे; उन्हें भी खाने की इच्छा करने लगा। इन दो कुचेष्टाओं से अपना अवश्यम्भावी दुर्भाग्य निर्णय कर राजा के पास गया और बोला कि देव ! यदि आपकी

आज्ञा हो तो मैं श्री गंगाजी के जल में मग्न हो चोला बदलूँ। राजा ने कहा—वाह क्या कहना है! तुम मर जाओ तो हम सुख से रहें, फर्गोज्वर दूर हो। ये कठोर वचन सुन मंत्री को अत्यन्त दुःख हुआ। उसने सोचा कि हितकारी वचन न सुनाना, अनीति में नीति मानना, प्यारों से भी द्वेष करने लगना, अपने गुरु-जनों का भी तिरस्कार करना, ये निःसन्देह मृत्यु के पूर्वरूप हैं। अब राजा की मृत्यु आ चुकी है। राजा से विदा हो घर जा अपना सर्वस्व ब्राह्मणादि को दे संसार से विरक्त हो गंगाजल में प्रवेश कर उसने अपने कुल-पुरोहित से कहा कि आप दान लीजिए। ब्राह्मण ने भी हाथ पसारा और उसने उसे पारस दे दिया। वह बोला—धिक्कार है तेरे दान को। पत्थर देता है! निदान उसने उसे क्रोध के मारे जल में फेंक दिया। वह पारस पत्थर श्री गंगाजी के जल में डूब गया। मंत्री जल में डूबकर मर गया। राजा उस नर-रत्न की मृत्यु से अनाथ हो गया। परंतु अब क्या हो सकता था। सुलतान आ पहुँचा। नगर में एक बरतन से दूसरा बरतन टूटने लगा। राजा युद्ध करने के लिये आगे बढ़ा। उसके ८४०० निशान थे; परंतु उसे अपने दल में से एक का भी शब्द नहीं सुनाई पड़ता था। किनारे पर जाकर पूछा तो उसे उत्तर मिला कि म्लेच्छों के धनुषों की ध्वनि में अन्य ध्वनियाँ मग्न हो गई हैं। राजा की हिम्मत टूट गई। पीछे से वह मारा गया, भाग गया या गंगा में डूब मरा, यह ज्ञात नहीं हुआ और यवनों ने नगर नष्ट कर दिया।

---

(२१) हिंदी के कारक-चिह्न

[लेखक—बाबू सत्यजीवन वर्मा, एम. ए., काशी ।]

(१)

(१)—कारक-चिह्नों से हमारा अभिप्राय उन शब्दों, शब्दांशों, वर्णसमूहों या प्रत्ययों से है जिनको किसी संज्ञा या सर्वनाम के साथ जोड़ देने से हम वाक्य में उस संज्ञा या सर्वनाम का संबंध स्थापित करते हैं*। कुछ लोग इन चिह्नों को 'विभक्ति' के नाम से भी संबोधित करते हैं। वास्तव में इन्हें 'विभक्ति' कहना ठीक नहीं है। हमारे आधुनिक कारक-चिह्न संस्कृत की विभक्तियों के समान नहीं हैं। विभक्तियों और कारक-चिह्नों में भेद है। संस्कृत की विभक्तियाँ एक प्रकार से मूल शब्दों में जुड़ी रहती हैं, पर कारक-चिह्न मूल शब्दों से पृथक् रहते हैं। विभक्तियों में लिंग और वचन के अनुसार परिवर्तन होते हैं, पर कारक-चिह्नों में वचन के अनुसार तो कोई परिवर्तन होता ही नहीं, लिंग के अनुसार भी संबंध कारक को छोड़कर अन्य कारकों में नहीं होता। अनेक प्रमाणों से हमें यही मानना पड़ेगा कि हमारे कारक-चिह्न स्वतन्त्र अव्यय हैं और उनमें तथा विभक्तियों में बड़ा अन्तर है। एक बार इस बात पर बड़ा वाद-विवाद चला था कि विभक्तियों की भाँति कारक चिह्नों को मूल शब्दों के साथ मिलाकर लिखना चाहिए अथवा उन्हें स्वतन्त्र शब्दों की भाँति अलग लिखना उचित है। यद्यपि फल-स्वरूप इसका कुछ भी निर्णय नहीं हुआ, पर क्रमशः लोग कारक-चिह्नों को पृथक् ही लिखने लगे।

* कारक का वास्तविक अर्थ वाक्य में क्रिया और संज्ञा के संबंध से है। इसी लिये संस्कृत में संबंध कारक को कारक नहीं माना है, क्योंकि उसका संबंध क्रिया से न होकर संज्ञा से होता है।

इधर लोगों की प्रवृत्ति से भी यही जान पड़ता है कि ये अलग ही लिखे जायँगे। हाँ, अब भी संस्कृत के पक्षपाती कुछ ऐसे सज्जन हैं जो पुरानी लीक पीटते जाते हैं; पर उनकी संख्या दिनों दिन कम होती जा रही है।

(२)—भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यदि हम देखें तो हमारी भाषा पहले से बहुत कुछ उन्नति कर चुकी है। एक समय था जब हमारी भाषा (हिन्दी) संस्कृत के समान 'संयोगावस्था' में थी। पर क्रमशः वह 'वियोगावस्था' को प्राप्त होकर आधुनिक भाषा के रूप में प्रकट हुई। कहने का तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि हिंदी और संस्कृत में वंश का संबंध है, तो भी उनकी अवस्थाओं में भेद है। यहाँ पर हमें विशेष रूप से उनकी अवस्थाओं का निर्णय करना अभीष्ट नहीं है। यहाँ हम केवल यह दिखाना चाहते हैं कि हमारे कारक-चिह्नों का आविर्भाव कैसे हुआ—क्रमशः विकसित या परिवर्तित होकर वे किस रूप से किस रूप को प्राप्त हुए।

(३)—इस समय हमारे साहित्य की भाषा खड़ी बोली है। गद्य में तो इसका प्रयोग सर्वमान्य है, पर अब पद्य में भी इसका प्रयोग अधिकता से होने लग गया है। एक समय था जब हम गद्य के लिये भी ब्रजभाषा का प्रयोग करते थे; पद्य में तो अभी तक बहुत से लोग इसका प्रयोग करते हैं। साहित्य की भाषा चाहे इस समय की हो चाहे किसी समय की हो, बोलचाल की भाषा से कुछ भिन्न होती है। इसी समय में देखिए, यद्यपि हमारे साहित्य की भाषा खड़ी बोली हो रही है, पर हम में से अधिकांश लोगों के बोलचाल की भाषा वह नहीं है। हाँ अभ्यास से हम उसे पढ़, लिख अथवा समझ लेते हैं। इस समय हिंदी भाषा से साधारणतः हम खड़ी बोली का ही तात्पर्य्य समझते हैं; पर हमारे मन में यह विचार साहित्य की एक भाषा होने के कारण उत्पन्न

होता है। क्या हम व्रजभाषा और अवधी को हिंदी न कहेंगे? हाँ कुछ लोग इन्हें प्रान्तीय बोलियों के नाम से संबोधित करने लग गए हैं। यों देखा जाय तो खड़ी बोली भी एक प्रांतीय बोली है, पर साहित्य में उसकी प्रधानता होने के कारण वह सब की भाषा हो रही है। हिंदी या हिंदुस्तानी भाषा के अन्तर्गत बहुत सी उपभाषाएँ या प्रान्तीय बोलियाँ आती हैं।

(४)—डाक्टर केलाग (Kellogg) ने हिन्दी के अन्तर्गत १५ प्रान्तीय बोलियों को लिया है। हिन्दी की परिभाषा देते हुए वे अपने व्याकरण में लिखते हैं—"Hindi is spoken and written in a great variety of dialects, which it is difficult to enumerate with precision. I have used the word 'Hindi' in this grammer in a more customary sense as including the speech of the whole region from the lower ranges of the Himalaya mountains, in the north, to the Narmada river and the Vindhya mountains, in the south, and from the Panjab, Sindh and Gujrat, in the west, to Bengal and Chutia Nagpur in the east and south east" (Hindi Grammer—Kellogg, Page 65)

इसका मतलब यह है कि हिंदी के अन्तगत आपस में साम्य रखने वाली वे सब बोलियाँ आवेंगी जो उत्तरापथ में बोली जाती हैं। डाक्टर केलाग के अनुसार इस विस्तृत प्रदेश का विस्तार इस प्रकार है—उत्तर में हिमालय की पर्वतमाला, पूर्व में बंगाल और छोटा नागपुर, दक्षिण में नर्मदा नदी और विन्ध्य पर्वत, पश्चिम में पंजाब, सिंध और गुजरात। इस प्रदेश में निम्नलिखित मुख्य मुख्य उपभाषाएं प्रचलित हैं—

(१) राजपूताने की भाषाएँ—मेवाड़ी, मेरवारी, जयपुरी, हरौती।

(२) पहाड़ी भाषाएँ—गढ़वाली, कमाउनी, नैपाली।

(३) दोआब की भाषाएँ—व्रजभाषा, कन्नौजी, खड़ी बोली।

(४) पूर्वी भाषाएँ—अवधी, रीवाई, भोजपुरी, मगही, मैथिली।

(५)—यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि हिन्दी तथा अनेक अन्य भारतीय भाषाएँ एक ही प्राचीन आर्य्य भाषा से निकली हैं। डाक्टर ग्रियर्सन महाशय ने भारतीय आर्य्य-भाषाओं में निम्नलिखित भाषाओं को संमिलित किया है—

(१) काशमीरी, कोहिस्तानी, लहँदे की बोली या पश्चिमी पंजाबी।

(२) मराठी, उड़िया, बिहारी, बँगला, आसामी।

(३) पूर्वी हिंदी या अवधी।

(४) पश्चिमीय हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी, पहाड़ी भाषाएँ (नैपाली)

प्राचीन समय में आर्य्य लोग भारतवर्ष में जो भाषा बोलते थे, उसे वैदिक प्राकृत कहते हैं। इस भाषा का नमूना हमें ऋग्वेद की कुछ प्राचीन ऋचाओं में मिलता है। इसी भाषा से क्रमशः विकसित होकर संस्कृत बनी और वही क्रमशः साहित्य और व्याकरण से निबद्ध होकर अजर और अमर हो गई। इस का नमूना संस्कृत साहित्य में मिलता है। वैदिक प्राकृत का क्रमशः विकास होता गया; पर उस से निकली हुई भाषा (संस्कृत) साहित्य में जकड़ गई और उसका विकास न हो सका। वैदिक प्राकृत क्रमशः विकसित होकर मध्य-कालीन प्राकृत के रूप में प्रकट हुई। इसका नमूना हमें अशोक के शिलालेखों, कुछ जैन ग्रंथों तथा नाटकों में मिलता है। आगे चलकर उस प्राकृत आर्य्य भाषा ने अपभ्रंश का रूप धारण किया। तत्पश्चात् आधुनिक भारतीय आर्य्य भाषाओं का उदय हुआ। संक्षेप में यही आधुनिक आर्य्य भाषाओं की उत्पत्ति का इतिहास है।

(६)–हम ऊपर कह आए हैं कि संस्कृत और हिन्दी की अवस्थाओं में अन्तर है। यह कथन प्रायः सभी भारतीय आर्य्य भाषाओं के संबंध में चरितार्थ हो सकता है। प्रायः सभी भारतीय आर्य्य भाषाएँ इस समय 'वियोगावस्था' में हैं। हाँ किसी किसी में 'संयोगावस्था' के भी कुछ लक्षण दिखाई पड़ते हैं। यहाँ तो हमें कारक-चिह्नों के विषय में विशेष रूप से विचार करना है और कारक-चिह्न प्रायः सभी भारतीय आर्य्य भाषाओं में वियोगावस्था में हैं।

(७)—वैदिक काल में हमारी भाषा के कारक-चिह्न मूल शब्दों से भिन्न न थे। कालान्तर में 'विभक्तियों' का लोप हो गया और उनके स्थान में नए शब्द उनका काम देने लगे जो आगे चलकर स्वयं कारक-चिह्न बन बैठे। क्रमशः हमें इसी विषय का अनुसंधान करना है। आधुनिक भारतीय आर्य्य भाषाओं के कारक-चिह्न नीचे दिए जाते हैं—

(७)—ऊपर की सारिणी मे निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

(१) प्रायः सभी भाषाओं में कारक-चिह्न वियोगावस्था मे हैं।

(२) कर्म और सम्प्रदान कारकों के चिह्न प्रायः एक हैं।

(३) करण और अपादान कारकों के चिह्न प्रायः समान हैं।

(४) केवल संबंध-कारक में लिंग के अनुसार चिह्नों का प्रयोग होता है। इन पर अपना विचार प्रकट करने के पूर्व हमें संस्कृत-प्राकृत आदि की विभक्तियों के विषय में भी देख लेना चाहिए। संस्कृत तथा भिन्न भिन्न प्राकृतों और अपभ्रंश की विभक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

(ख)

	संस्कृत		पाली		प्राकृत-महाराष्ट्री		शौरसेनी		मागधी		पैशाची		अपभ्रंश	
	एक०	बहु०	एक०	बहु०	एक०	बहु०	एक	बहु०	एक०	बहु०	एक०	बहु०	एक०	बहु०
प्रथमा	स्	जस्	सि	यो	ओ	ओ	ओ	ओ	ओ	ओ	ओ	ओ	•	•
द्वितीया	अम्	शस्	अं	यो	अं	ओ	अं	आ	अं	ओ	अं	ओ	•	•
तृतीया	टा	भिस्	ना	हि	ना	हि,हिं	ना	हिं	ना	हिं	ना	हिं	एं	हिं,ए
चतुर्थी	ङे	भ्यस्	स	नं	•	•	•	•	•	•	•	•	•	•
पंचमी	ङसि	भ्यस्	स्मा	हि	हि	हिन्तो सुन्तो	हि	हिन्तो सुन्तो	हि	हिन्तो सुन्तो	हि	हिन्तो सुन्तो	हे, हु	हुँ
षष्ठी	ङस्	आम्	स	नं	स्स	णं	स्स	णं	स्स	णं	स्स	णं	सु, हो	हं
सप्तमी	ङि	सुप्	स्मि	सु	म्मि	सु	म्मि, ए	सु	म्मि	सु	म्मि	सु	•	हिं

इस सारिणी से हमें पता लगता है कि—

(१) अपभ्रंश काल में आकर प्रथमा और द्वितीया की विभक्तियों का एक दम लोप हो गया।

(२) चतुर्थी अथवा संप्रदान कारक की विभक्ति का संस्कृत के बाद ही लोप हो गया और पाली में उसके स्थान में संबंध कारक की विभक्ति (स, नं,) का प्रयोग होने लगा। अथवा यों कह सकते हैं कि संबंध कारक से सम्प्रदान कारक का भी काम लिया जाने लगा।

(३) पंचमी या अपादान कारक के लिये प्राकृतों में एक नवीन शब्द (हुन्तो हुन्तो) का प्रयोग होने लगा।

(४) क और ख सारिणियों को आपस में मिलाकर देखने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि आधुनिक कारक-चिह्नों और पहले की विभक्तियों से कोई स्पष्ट संबंध नहीं है। अतः हमारे कारक-चिह्नों के विकास का कोई दूसरा उद्गम है।

(८)—यहाँ हमें विशेष कर हिन्दी के कारक चिह्नों की उत्पत्ति का पता लगाना है। अतः पहले हम हिन्दी की उपभाषाओं या बोलियों के कारक-चिह्न दे देना उचित समझते हैं। इन उपभाषाओं के कारक चिह्न ये हैं। *

---

* केलाग (Kellogg) महाशय ने हिन्दी के अन्तर्गत जिन उपभाषाओं को सम्मिलित किया है, उनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। मेरे विचार में उनमें से कुछ देशी भाषाओं को हिंदी भाषा में नहीं गिना जा सकता, यथा नेपाली आदि पहाड़ी भाषाएँ और राजपूताने की भाषाएँ। मैथिली भी हिंदी से भिन्न ही है। डाक्टर ग्रियर्सन ने हिंदी का क्षेत्र बहुत ही संकुचित कर दिया है। उन्होंने हिन्दी के दो भेद किए हैं—पूर्वी और पश्चिमी। उन्होंने (१) पूर्वी में—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी (२) पश्चिमीय हिंदी में, हिंदुस्तानी, व्रज, कन्नौजी, बुंदेली और बांगरू को गिना है। उन्होंने मगही और भोजपुरी को बिहारी के अन्तर्गत रखा है। मेरी समझ में ऐसा न होना चाहिए। ये उपभाषाएँ पूर्वी हिंदी के अन्तर्गत मानी चाहिएँ। मेरी समझ में हिंदी के अंतर्गत जिन उपभाषाओं को रखना उचित है, उन्हीं के कारक चिह्नों को मैंने (ग) सारिणी में दिया है।

(ग) हिन्दी की उपभाषाएँ और उनके कारक-चिह्न

	प्रथमा (कर्ता)	द्वितीया (कर्म)	तृतीया करण Agent	तृतीया उपकरण Instrument	चतुर्थी (संप्रदान)	पंचमी (अपादान)	षष्ठी (संबंध)	सप्तमी (अधिकरण)
१. पूर्वी हिन्दी								
१. मगही	×	के	×	से, सती	के, लागी	से, मंती	केर, केरा, केरी	मे, पर, लौ
२. भोजपुरी	×	क, को	×	सों, मे	को, के, लाग	सों, से	के, कर	मे, पर,
३. अवधी	×	के, क, कहँ, काँ	×	से, सन	के, क, कहँ, काँ,	से, सन, सती हुंत	के, कर, कै, क	मे, पर, मह, माँ
४. रीवाई	×	कहँ	×		कहँ	ते, तन	कर	म, पर
५. छत्तीसगढ़ी	×	का, ला	×	ले, से	का, [illegible]	ले, से	के	माँ, मे, ऊपर
पच्छिमी हिंदी								
१ खड़ी बोली	×	को	ने	से	को, के, लिए	से	का, की, के	मे, पर,
२. हिंदुस्तानी *	×	को, कूँ	ने, नें	से	को, कूँ, नूँ	सेती, से	का, की	पे, प, मे
३. ब्रजभाषा	×	कौं, कूँ	नै	सों, सूं, नें	कौं, कूँ	सों, सूँ, तें	को, की, के	मे, मों, पै, लो.
४. कन्नौजी	×	को	ने	से	को, काँ	से, सेती, सन, ते	को, के, की	मे, मों, पर, लौं
५. बुंदेली	×	खाँ, काँ, कौ	ने, नै	से, खे, सन तैं	खाँ, काँ, कौ, लाने काजे	से, खें, मन, [illegible]	केरो, केरी, कै, की	माँ, मैं, मांहि

* ग्रियर्सन साहब ने खड़ी बोली का नाम हिन्दोस्तानी रखा है। उसके अपने दो भेद किए हैं—साहित्य की और बोलचाल की (जो मेरठ, रुहेलखण्ड में बोली जाती है) मैंने एक को खड़ी बोली, दूसरी को हिन्दुस्तानी कहा है। सुभीते के लिये यह उपयुक्त होगा।

ऊपर दी हुई सारिणी से पता चलता है कि संस्कृत की प्रथमा विभक्ति जो संस्कृत में कर्ता का रूप प्रकट करती थी, हिन्दी में आकर लुप्त हो गई। इसका लोप होना अपभ्रंश काल ही में पाया जाता था। इस समय भारतीय भाषाओं में कर्ता का प्रयोग दो प्रकार का होता है— कहीं तो कर्ता में कारक का चिह्न लगाते हैं, कहीं नहीं लगाते। हिंदी में दोनों प्रयोग मिलते हैं। पूर्वी हिंदी में चिह्न-रहित कर्ता का प्रयोग होता है और पश्चिमी में विकल्प से दोनों (चिह्नरहित और सचिह्न) का होता है। खड़ी बोली में, जो पश्चिमी हिन्दी की प्रधान उपभाषा है, कर्ता के साथ 'ने' का प्रयोग उन सकर्मक क्रियाओं के सब कालों में होता है जो लिट् कृदन्त (Perfect-participle) से बनी होती हैं। पर पूर्वी हिंदी में 'ने' का प्रयोग ही नहीं होता, चाहे क्रिया कैसी ही क्यों न हो। इसका कारण यह है कि पश्चिमी हिंदी में क्रिया का संबंध वाक्य में कर्म से होता है, कर्ता से नहीं; पर पूर्वी हिंदी में क्रिया का संबंध वाक्य में कर्ता से होता है। *व्याकरण में एक को कर्मवाच्य या कर्मणि प्रयोग* और दूसरे को कर्तृवाच्य या कर्तरि प्रयोग कहते हैं। अँगरेजी में एक को Passive voice दूसरे को Active voice कहते हैं। कर्मणि प्रयोग में कर्ता स्वयं काम नहीं करता, वरन् उसके द्वारा काम होता है। जैसे उसने रोटी खाई; अर्थात् उसके द्वारा रोटी खाई गई। पश्चिमी हिंदी की अधिकतर क्रियाएँ कृदन्ती हैं; अतः उनका प्रयोग संस्कृत के ढंग पर कर्मणि होता है। यथा 'किया' क्रिया 'कृतः' से निकली है। संस्कृत में 'रामेण कार्यं कृतं' कहेंगे जो हिंदी में 'राम ने काम किया' होगा। यहाँ पर हम देखते हैं कि 'राम' तृतीया में है और क्रिया का संबंध कर्म से है। यही बात हिंदी (पश्चिमी) में भी पाई जाती है। 'राम ने' या 'राम द्वारा' या by Rama जो करण कारक का रूप है। यदि 'काम' की जगह 'पुस्तक' शब्द होता तो हमें 'राम ने पुस्तक पढ़ी' कहना पड़ता। अतः यह स्पष्ट है कि क्रिया का संबंध (लिंग और

वचन के आधार पर) कर्म से होता है। अतः यह कहने की आवश्यकता नहीं कि पश्चिमी हिंदी में कर्ता वास्तव में कर्ता नहीं है, वरन् करण कारक है। करण से हमारा आशय इस समय Instrument से है। इसलिये अंग्रेजी में उसे Agent कहते हैं। अतः 'ने' कर्ता का चिह्न न होकर, Agent का चिह्न है, जिसे संस्कृत में 'तृतीया' कहेंगे। पूर्वी हिंदी क्रियाओं का रूप तिङन्त है। उनका संबंध कर्ता से होता है, कर्म से नहीं। जैसे 'उसने देखा' के लिये 'ऊ देखिसि'; 'मैंने देखा' के लिये 'मैं देख्यों'। अधिक उदाहरण देना आवश्यक नहीं। विषयांतर हो जाता है। पर इतना तो अवश्य स्पष्ट हो गया होगा कि 'ने' का प्रयोग पूर्वी में क्यों नहीं होता और 'ने' को कर्ता का चिह्न न कह कर करण या Agent* का चिह्न कहना उचित है।

पूर्वी और पश्चिमी हिंदी में मुख्य क्या अंतर है, यह हम देख ही चुके। अब संक्षेप में इनकी उत्पत्ति पर भी विचार कर लेना चाहिए। जहाँ इस समय पूर्वी हिंदी का प्रचार है, वहाँ प्राचीन समय में मागधी और अर्धमागधी प्राकृतों का प्रचार था और ये प्रदेश मगध और अर्ध-मगध के नाम से प्रसिद्ध थे। इन्हीं प्राकृतों से पूर्वी हिंदी की उत्पत्ति हुई है। मगही और अवधी नाम ही इसके साक्षी हैं। तारतम्यात्मक रूप से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि इन भाषाओं में घनिष्ठ संबंध है। पूर्वी हिंदी की उपभाषाओं में से केवल अवधी ही में प्राचीन साहित्य है। पश्चिमी हिंदी का संबंध शौरसेनी प्राकृत से है। मथुरा के आसपास का प्रदेश शौरसेन देश के नाम से प्रसिद्ध था। प्राकृत काल में यहाँ की भाषा को शौरसेनी प्राकृत कहते थे। इसी प्राकृत से पश्चिमी हिंदी की उत्पत्ति हुई है। यहाँ एक बात ध्यान

---

*सुबीते के लिए हम Agent को 'करण' और Instrument को 'उपकरण' कह सकते हैं।

देने योग्य है। पूर्वी हिंदी और उसकी पूर्ववर्तिनी प्राकृतों में जितना घनिष्ट संबंध है, उतना पश्चिमी हिंदी और शौरसेनी प्राकृत में नहीं है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि प्राकृत काल के पश्चात् शौरसेन प्रदेश की भाषाओं पर अनेक बाहरी प्रभाव पड़े। इस कारण वहाँ की भाषा ने जल्दी विकास प्राप्त किया। और यह तो मानना ही पड़ेगा कि बाहरी जातियों के जितने आक्रमण हुए, पश्चिम ही से हुए; और उनकी भाषा तथा उनकी सभ्यता का प्रभाव जितना पश्चिम पर पड़ा, उतना पूरब पर नहीं। इतिहास इसका साक्षी है।

पश्चिमी हिंदी की उपभाषाओं में केवल ब्रज और खड़ी बोली को साहित्य में स्थान मिला है। ब्रज का साहित्य तो प्राचीन है, पर खड़ी-बोली का आधुनिक है।

कारक-चिह्नों का क्रमिक विकास देखने के लिये हमें केवल साहित्य का ही सहारा लेना पड़ेगा। आधुनिक रूपों को तो हम प्रचलित भाषा में देख सकते हैं, पर इसके पूर्ववर्ती रूपों को हम केवल साहित्य में ही पा सकते हैं। हिंदी का साहित्य तीन भाषाओं में पाया जाता है—ब्रज, अवधी और खड़ी बोली। ब्रज और खड़ी बोली को हम पश्चिमी हिंदी का प्रतिनिधि मान सकते हैं और अवधी को पूर्वी हिंदी का। इसका कारण यह है कि ब्रज और खड़ी बोली के साहित्य में हम प्रायः पश्चिमी हिंदी की उपभाषाओं के प्रयोग पाते हैं। अवधी में हम पूर्वी हिंदी के प्रयोग पा सकते हैं। यद्यपि साहित्य की भाषा में परस्पर विनिमय होता रहा है, पर इससे प्रादेशिक भाषा का रूप छिप नहीं सकता।

कर्ता कारक

हम ऊपर देख चुके हैं कि कर्ता कारक की विभक्ति संस्कृत काल में सु और जस् थी; पर क्रमशः अपभ्रंश काल में आकर उसका पूर्ण

रूप से लोप हो गया। हिंदी में भी इसी कारण कर्ता कारक का कोई चिह्न नहीं है। कुछ लोग 'ने' को कर्त्ता कारक का चिह्न मानते हैं; पर ऐसा समझना ठीक नहीं। वास्तव में 'ने' करण कारक का चिह्न है। संस्कृत में कर्मणि प्रयोग में तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता है और कर्म का संबंध क्रिया से होता है। उसी ढंग पर हिंदी में भी 'ने' लगने पर क्रिया का संबंध कर्म से होता है। अतः हिंदी का 'ने' कारक चिह्न कर्ता का चिह्न नहीं है, वरन् 'करण' कारक का है। पूर्वी हिंदी में कर्मणि प्रयोग नहीं पाया जाता; इसलिये उसमें 'ने' का प्रयोग ही नहीं है। कर्ता का प्रयोग बिना किसी कारक चिह्न के होता है। पश्चिमी हिंदी में कर्मणि प्रयोग होने के कारण कर्ता करण कारक में रखा जाता है; अतः उसके साथ 'ने' कारक चिह्न का प्रयोग किया जाता है। वास्तव में 'ने' संस्कृत की तृतीया विभक्ति के चिह्न 'एन' का रूपान्तर है।

कर्म और सम्प्रदान कारक

'को' 'के-लिये'

हम पहले ही देख चुके हैं कि कर्म और सम्प्रदान कारकों के चिह्न प्रायः सभी भाषाओं में एक हैं। इसका कारण यह है कि जब चतुर्थी या संप्रदान कारक की विभक्ति अपभ्रंश काल में लुप्त हो गई, तब उसके स्थान पर अन्य कारकों की विभक्तियों का प्रयोग होने लगा। तब वही कर्म के लिये भी आने लगीं। यह प्रवृत्ति हम पाली भाषा में देखते हैं। पाली भाषा में अथवा यों कहें कि संस्कृत के पश्चात् ही, चतुर्थी की विभक्ति का लोप हो गया और उसके स्थान पर षष्ठी या संबंध कारक की विभक्ति का प्रयोग होने लगा (देखो सारणी ख)। सम्प्रदान कारक के लिये खड़ी बोली में दो चिह्न हैं—को और के—लिये। 'को' का प्रयोग कर्मकारक के लिये भी होता है; पर 'के लिये' का प्रयोग केवल सम्प्रदान ही के लिये होता है। इस प्रकार हम हिंदी के कर्म और संप्रदान कारक

के चिह्नों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक तो वे जिनका प्रयोग कर्म और संप्रदान दोनों में होता है; दूसरे वे जिनका प्रयोग केवल संप्रदान कारक के लिये किया जाता है।* संक्षेप में वे इस प्रकार होंगे।

कर्म और संप्रदान—कें, को, क, कहँ, कौं, का, ला, कौ, कौं, कूँ, खौं, इत्यादि।

संप्रदान—के लिये, लागी, लाग, लाने, काजे, बदे, करतीं, खातिर इत्यादि।

पहले हम उन चिह्नों की उत्पत्ति पर विचार करते हैं जो कर्म और संप्रदान कारकों में समान हैं। इनकी उत्पत्ति पर विद्वानों के कई मत हैं।

(१) बीम्स महाशय इनकी उत्पत्ति 'कक्ष' से मानते हैं। उनके अनुसार संस्कृत शब्द 'कक्ष' जिसका अर्थ 'पास' भी होता है, कुछ काल में बिगड़कर 'काह' से 'कँह' के रूप में आया। पीछे धीरे धीरे उसी से को, को, कौं आदि की उत्पत्ति हुई। बँगला में 'काछे' शब्द जो 'कक्ष' से उत्पन्न जान पड़ता है 'पास' या 'नजदीक' का अर्थ देता है। इसी शब्द को देखकर बीम्स साहब को 'कक्ष' से को आदि के निकालने की सूझी। इस उत्पत्ति को मानने में सब से भारी कठिनाई यह है कि 'कक्ष' शब्द का हिंदी में 'काख' रुपान्तर होता है, 'काह' नहीं। बीम्स ने 'कक्ष' से 'काह' और क्रमशः कहँ हो जाने के लिये उदाहरण-स्वरूप 'कहाँ' और 'जहाँ' शब्द दिया है। उनका अनुमान है कि ये क्रमशः 'किमस्थान' और 'यत्स्थान' से निकले हैं जो सर्वथा असंभव है। दूसरी बात जो बीम्स साहब के सिद्धान्त के मानने में बाधक है, वह यह है कि 'कक्ष' शब्द का कर्म या संप्रदान कारक के द्योतक रूप में कहीं प्रयोग नहीं मिलता। प्राचीन हिंदी या अन्य भाषाओं में भी इसका पता नहीं मिलता।

(२) बीम्स साहब के अनुसार 'को' आदि कारक-चिह्नों की उत्पत्ति 'कृते' से हुई है। 'कृत' का व्यवहार संप्रदान के लिये कहीं नहीं मिलता; और 'कृत' से 'कहँ' और फिर 'को' होना मानने योग्य नहीं है।

इनकी उत्पत्ति के लिये हमें प्राचीन साहित्य में इनका प्रयोग ढूँढना चाहिए। पूर्वी हिंदी में कर्म और संप्रदान कारकों के लिये कहँ, कहुँ, काहु आदि का प्रयोग मिलता है; यथा रामायण में—

कहँ—नृप युवराज राम कहँ देहू।

कहुँ—कपिन सहित विप्रन कहुँ दान विविध विधि दीन्हा।

काहु—आसन उचित दिये सब काहु।

पूर्वी और पश्चिमी में भी 'कहँ' का प्रयोग कर्म और संप्रदान कारकों के लिये पाया जाता है। अपभ्रंश काल में इसका रूप 'केहिं' था। हेमचंद्र ने इसका उल्लेख किया है; यथा "हउं झिज्जउं तउ केहिं पिअ"। अतः आधुनिक को, कौं, कों आदि कारक-चिह्नों की उत्पत्ति 'केहिं' से हुई है। अब देखना यह है कि 'केहिं' की उत्पत्ति कहाँ से हुई। 'केहिं' शब्द के दो भाग हैं 'के + हिं'। 'हिं' अपभ्रंश की सप्तमी की विभक्ति है। सप्तमी का प्रयोग कर्म कारक और संप्रदान कारक के लिये होता है। संज्ञाओं में 'हिं' विभक्ति लगाकर पूर्वी हिंदी में भी कर्म और संप्रदान कारक बना लिये जाते हैं; यथा रामायण में—

रुद्रहिं (रुद्र को) देखि मदन भय माना। (कर्म कारक)

रामहिं (राम को) सौंपिय जानकी नाइ कमल पदमाथ। (संप्रदान)

अब रहा 'के'। 'के' 'केरक' का रूपान्तर है। संबंध कारक के चिह्न की उत्पत्ति पर विचार करते समय हम देखेंगे कि प्राचीन समय में प्राकृत में संबंध कारक के लिये 'केरक' का प्रयोग होता था। इसी से 'केर' और पश्चात् 'के' बना है। हम पहले देख चुके हैं कि संस्कृत के पश्चात् ही संप्रदान कारक की विभक्ति का लोप हो गया और उसके स्थान में 'पाली' में संबंध कारक की विभक्ति काम में आने लगी। संबंध कारक

को अन्य कारकों के लिये प्रयोग करने की प्रवृत्ति प्राचीन है। संप्रदान कारक के लिये संबंध कारक का प्रयोग वेदों तक में मिलता है। पीछे से पाणिनि आदि संस्कृत वैयाकरणों ने भी इसे स्वीकार किया है।

प्राकृत काल में संप्रदान कारक के लिये संबंध कारक का प्रयोग होने लगा। अब संबंध कारक के लिये 'केरक' के प्रयोग करने की प्रवृत्ति बढ़ी, तब उसी 'केर' को संप्रदान कारक के लिये भी व्यवहार करने लगे। पीछे जब 'केर' में भी स्वतंत्र शब्द की भाँति विभक्ति लगने लगी, तब उसमें 'हिं' विभक्ति, जो अपभ्रंश की अधिकरण-सूचक विभक्ति थी, जोड़ दी गई और उसका रूप 'केरहिं' से 'केहिं' हुआ। 'केहिं' का प्रयोग अपभ्रंश में मिलता है। यथा—

ढोल्ला एह परिहास ही अइम न कवणहिं देसि।
"हउं भिज्जउं तउ केहिं पिअतुहुँ पुणु अन्नहि रेसि॥"

हेमचंद्र। *

संबंध-सूचक 'केर' से संप्रदान कारक 'को' के उत्पन्न होने का एक और प्रमाण है। अन्य भारतीय आर्य्य भाषाओं में भी 'संबंध कारक' और संप्रदान कारक में घनिष्ट संबंध दिखाई पड़ता है। जैसे—उड़िया भाषा में संप्रदान कारक का चिह्न 'कु' और 'कुरु' है जो 'केर' से ही निकला है। इस समय भी उस भाषा के संबंध कारक का चिह्न 'कर' 'र' है। बँगला में संबंध कारक के लिये 'एर,' 'र' का प्रयोग होता

---

* हेमचन्द्र अपने व्याकरण में यह सूत्र देते हैं—

'तादर्थ्ये केहि, तेहि, रेसि, रेसिं, तणेणाः।

इनका प्रयोग कुमारपालचरित्र सर्ग ८ में भी यों दिया है—

मग्गहो केहि करि जीव-दय, देमु करि मोक्खहो रेसि॥
कहि कसु रेसिं तुहुं अवर, कम्मारम्भ करेसि॥७०॥
कसु तेहि परिग्गहु, अन्नि कासु तणेण करेसु।
नहु निउ पुणु अप्पें न सिउ अवसु नस इहसि मेसु॥७१॥

है। पुरानी बँगला में कर्म और संप्रदान के लिये 'रे' का प्रयोग मिलता है; यथा—

(१) वृक्ष मूले वसि राजा कहिल भीमे रे। 'काशीरामदास'

(२) भय पाये श्रीकृष्णे रे डाके गुणवती ॥

आधुनिक बँगला में 'के' संप्रदान के लिये प्रयुक्त होता है, जो 'केर' का पूर्व भाग है। यहाँ एक बात ध्यान देने की यह है कि 'रे' में 'र' तो 'केर' का पिछला हिस्सा है, पर 'ए' सप्तमी की विभक्ति है। ऊपर हम देख ही आए हैं कि सप्तमी की विभक्ति लगाकर संप्रदान कारक बना लिया जाता था। *

गुजराती में संप्रदान कारक का चिह्न 'ने' है जो संबंध-सूचक 'तणों' से बना है। अब भी उस भाषा में संबंध कारक के लिये 'नो' 'नीं' का प्रयोग होता है। मारवाड़ी भाषा का भी यही हाल है। पंजाबी में संप्रदान कारक का चिन्ह 'नूँ' है यह भी 'तणों' से निकला है। मेवाड़ी भाषा में भी 'नै' है जो 'ने' का रुपान्तर है। अतः अब निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि 'केहिं' जिससे आधुनिक कर्म और संप्रदान कारक के चिह्न 'को' की उत्पत्ति हुई है, संबंध-सूचक 'केर' से बना है। डाक्टर भांडारकर 'केहिं' की उत्पत्ति सर्वनाम 'किम' से मानते हैं और 'केहिं' को उसके सप्तमी का रूप बताते हैं। पर सर्वनामों का प्रयोग कारकों के लिये कहीं देखने में नहीं आता।

अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि आधुनिक संप्रदान और कर्म कारकों के चिह्नों की उत्पत्ति 'केहिं' से हुई है। संप्रदान और कर्म के लिये एक ही चिह्न का प्रयोग इसलिये होता है कि संस्कृत काल ही से संप्रदान के लिये विकल्प से कर्म कारक का प्रयोग होता आया है; और अपभ्रंश काल में 'कर्म' और 'संप्रदान' दोनों की विभक्तियों का पलो हो गया था। संबंध कारक की विभक्ति का तो पहले ही लोप हो गया

* इसी प्रकार पूर्वी हिंदी में भी 'ए' अधिकरण सूचक मिलता है; जैसे, घरे है; बने है।

था। जब उसके लिये अन्य संबंध-सूचक शब्द का व्यवहार होने लगा, तब उसी का प्रयोग संप्रदान के लिये भी होने लगा। पीछे कर्म कारक का काम भी उसी से चलने लगा। यही कारण है कि संप्रदान और कर्म कारक के चिह्न एक हैं।

अब हम उन कारक-चिह्नों को लेते हैं जिनका प्रयोग केवल संप्रदान कारक के लिये होता है। जैसे—'के लिये, लागी, लाग, काजे' इत्यादि।

पहले हम खड़ी बोली के संप्रदान कारक चिह्न की उत्पत्ति के विषय में अनुसन्धान करते हैं। खड़ी बोली का साहित्य जब से मिलता है, हम उसमें 'के–लिये' का प्रयोग पाते हैं। हमारा विचार है कि खड़ी बोली के संप्रदान कारक का चिह्न इन दो चिह्नों के मिलने से बना है—के और लिये। जहाँ कहीं हम इसका प्रयोग खड़ी बोली में पाते हैं, 'के' और 'लिये' साथ साथ प्रयुक्त होते हैं। पर जहाँ हम 'लिये' का प्रयोग 'कारण' के अर्थ में करते हैं तब वहाँ उसके साथ 'के' नहीं लगता। जैसे—'इस लिये मैं यह काम करता हूँ'। पर 'कारण' या 'हेतु' का अर्थ जहाँ न होगा, वहाँ 'के' का प्रयोग होगा—जैसे; 'उनके लिये मैं यह काम करता हूँ।' इससे पता चलता है कि 'लिये' का प्रयोग वास्तव में 'कारण' या 'हेतु' सूचक है। पर क्रमशः हम उसका प्रयोग संप्रदान के अर्थ में करने लगे हैं। पूर्वी हिंदी में उसका प्रमाण मिलता है। यथा 'पदमावत' में—

(१) बरस लाइ कहिहौं जो पूरा।

(२) वह तोहि लागि कया सब जारी।

(३) हौं जोगी वहि लागि भिखारी।

यहाँ लाइ या लागि का, जो एक ही शब्द के रूपान्तर हैं, प्रयोग संप्रदान के अर्थ में हुआ; पर उसका मुख्य अर्थ 'कारण' 'हेतु' स्पष्ट

उचित होता है। जैसे—धरम लाइ—धर्म के हेतु; धर्म के कारण; तोहि लागि—तेरे हेतु; वहि लागि—उसके हेतु।

हेतु, कारण या संबंध इन शब्दों के भाव आपस में बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। भाव-साहचर्य्य के कारण हम इन्हें पर्यायवाची शब्दों की भाँति व्यवहार में लाते हैं। यथा—

(१) तुम्हारे कारण मुझे वहाँ जाना पड़ा।

(२) तुम्हारे संबंध से मुझे ऐसा देखना पड़ा।

(३) तुम्हारे हेतु मुझे यह दुख सहना पड़ा।

ऊपर हम देखते हैं कि पूर्वी हिंदी में 'लागि' का प्रयोग हेतु, कारण या संबंध के अर्थ में हुआ है। 'लागि' का मुख्य अर्थ था 'संबंध से'। यह 'लग' या 'लग्न' से उत्पन्न है। 'लगे' का अर्थ पूर्वी हिंदी में 'पास' भी होता है। पर 'लग्न' शब्द का अर्थ संस्कृत में 'निकट' 'पास' 'लगा हुआ' या 'संबंध रखता हुआ' होता है।

इस 'लग' का प्रयोग हम कई अर्थों में पाते हैं। यथा—'कारण' के अर्थ में—

(१) कि लागि सुंदरि बदन झापयसि।
हेरल चेतन मोर॥ विद्यापति—पद

(२) मोहि लगि सीय राम बनवासी। तुलसी—रामायण

'हेतु' के अर्थ में—

(१) जो तुव दरसन लागि वियोगी। उसमान—चित्रावली

(२) बूड़े गहिर समुद्र मों अपने प्रीतम लागि।
नूरमुहम्मद—इन्द्रावती

'सम्बन्ध' के अर्थ में—

(१) मती हनी कछु उक्ति न आई। मध कपोल बरनौं केहि लाई॥
मंझन—मधुमालती

अब यह स्पष्ट है कि 'लग' का प्रयोग उपर्युक्त अर्थों में पहले

होता था और 'लग्न' से निकला हुआ 'लग' धीरे धीरे 'लग' लाग, लाई आदि हुआ। इसी लग, से 'लिये' भी निकला हुआ जान पड़ता है। तुलसीदास ने विनय में एक स्थान में 'तेरे लिये' प्रयोग किया है। यथा—

तेरे लिये जनम अनेक मैं फिरत न पायों पार। ,पद १८८।

इसी स्थान में पूर्वी हिंदी में 'तोहिलग' या 'तोहि लाई' का प्रयोग होगा। यथा 'चित्रावली' में—

देह दहत तेहि लगि, भजहिं देखत चाहत प्रान।

मोहि लगि सकति होति जिय हानी।

और इंद्रावती में भी—

बहुतन तजि जग धन्धा, तप साधा तेहि लाग।

बीसलदेव रासो में इसका रूप 'लियौं' मिलता है। यथा—

"अरथ दरब लियौं जीव की होंए"। नरपति—बीसलरासो

अतः संस्कृत 'लग' से 'लाई लागी, लियौं, लिये' आदि रूप होते हैं। इसी 'लग' से निकले हुए रूप अन्य भारतीय आर्य्य-भाषाओं में भी प्रयुक्त होते हैं। जैसे—

गुजराती में 'लगी';

नैपाली में लागी, लाई;

मराठी में लागीं; पुरानी मराठी में 'लागोनि';

पंजाबी में लागों; सिंधी में लाकू (लागू)।

अपभ्रंश में संस्कृत में 'लग्ने' (जिसका अर्थ है—पास में) का रूप 'लग्गे, लग्ग, लग्गहिं' होता है। इसी लग्गि या लग्गे से 'लाग, लागी, लाई, लिये' आदि का होना संभव है। अतः अब यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि 'के-लिये' में 'लिये' की उत्पत्ति 'लग' से है।

अब 'के-लिए' में 'के' की उत्पत्ति देखना है। ऊपर दिए हुए उदाहरणों में हम देख सकते हैं कि 'लिये' के रूपांतरों (लग, लाग, लागी)

का प्रयोग अकेले हुआ है और उनके साथ 'के' का प्रयोग नहीं हुआ है। भली भाँति अनुसंधान करने पर यह बात प्रकट होती है कि पूर्वी और पश्चिमी हिंदी में खड़ी बोली को छोड़कर 'लिये' या 'लाग' आदि का प्रयोग स्वतंत्र होता है और उसके साथ और कोई कारक-चिह्न नहीं लगता। अतः यह मानना पड़ेगा कि 'के-लिये' में 'के' का प्रयोग खड़ी बोली में है। पर संप्रदान कारक के लिये 'लिये' के रूपांतरों का प्रचार हिंदी की सभी उपभाषाओं में प्राचीन समय से है।

हम देख आए हैं कि कर्म और सम्प्रदान के लिये समान कारक चिह्नों में 'को, के, क, कहँ' आदि का प्रयोग होता है। इनकी उत्पत्ति के विषय में हम देख चुके हैं कि 'के' की उत्पत्ति 'केरक' से है जो संबंध कारक का चिह्न था।

हम यह भी देख चुके हैं कि 'के' में एक और विभक्ति लगा कर 'केहि' हुआ। पीछे उसी से 'को, के, क' आदि हुए। अब यह स्पष्ट है कि 'के' का व्यवहार कर्म और सम्प्रदान दोनों कारकों के लिये होता था। इस 'के' का प्रयोग सम्प्रदान और कर्म के लिये हम मगही, भोजपुरी और अवधी, में देखते हैं (देखो सारिणी ग)। अतः 'के' का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से सम्प्रदान कारक के लिये पहले होता था; पीछे उसमें 'लिये' या 'लाग' (जो स्वयं सम्प्रदान के लिये प्रयुक्त होता था) जोड़ दिया गया और के-लिये (लाग) मिलकर सम्प्रदान कारक का चिह्न हो गया।

हमारा अनुमान है कि 'के' और 'लिये' को साथ मिलाकर सम्प्रदान कारक के लिये प्रयोग करने की चाल बहुत प्राचीन नहीं है। खड़ी बोली का साहित्य तो अभी हाल ही का है; पर ब्रज और अवधी के साहित्य में भी हम इसका प्रयोग प्राचीन समय में नहीं देखते। पूर्वी हिंदी में के-लाग का एक उदाहरण इंद्रावती नामक आख्यानक काव्य में मिलता है जो विक्रमीय संवत् १८०१ का लिखा है।

जैसे—

सखी कहानी कहि गई, इंद्रावति के-लाग।

कल न परै पियारि को, बाढ़े अधिक सोहाग॥

इससे उपर्युक्त अनुमान की पुष्टि होती है। 'के-लिये' का प्रचार कब हुआ, यह ठीक ठीक कहना कठिन है। पर अनुसंधान करने पर निश्चय होता है कि विक्रमीय १९ वीं शताब्दी में इसका प्रचार आरम्भ हुआ था। इसके पूर्व 'के' और 'लिये' अलग अलग सम्प्रदान के प्रयोग में आते थे।

'के-लिये' के अतिरिक्त सम्प्रदान के लिये, 'काजे' 'करती' और 'खातिर' का भी प्रयोग होता है जिनकी उत्पत्ति कार्ये, कृते और खातिर (خاطر) से है। इनमें से 'करती' जिसका प्रयोग पूर्वी हिंदी में होता है, प्राचीन जान पड़ता है। 'कृते' का प्रयोग 'लिये' के अर्थ में संस्कृत में भी मिलता है। 'कृते' 'कृतः' के अधिकरण कारक का रूप है। इसमें 'ए' सप्तमी का चिह्न है। 'करती' में भी 'ई' सप्तमी का चिह्न है। अन्य भारतीय भाषाओं में भी इसका रूपांतर सम्प्रदान के लिये प्रयुक्त होता है; जैसे मराठी में 'करितां' और सिंधी में 'करे' या 'करि'

करण कारक

'ने'

संस्कृत में करण कारक के लिये केवल एक विभक्ति का प्रयोग होता है। इसी विभक्ति से करण (Agent) और उपकरण (Instrument) दोनों का काम चल जाता है। संस्कृत में करण कारक के लिये तृतीया विभक्ति 'एन' या 'एण' है। पर हिंदी में इसके लिये दो कारक चिह्नों का प्रयोग होता है। एक चिह्न तो केवल 'करण' (Agent) के लिये है; दूसरा 'उपकरण' (Instrument) के लिये है। यह भेद संस्कृत में नहीं है। संस्कृत में 'रामेण कृतम्,' 'बाणेन हतः,' इन दोनों

वाक्यों में तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है, यद्यपि एक में तृतीया विभक्ति करण (Agent) के लिये है और दूसरे में वह उपकरण के लिये है। पर हिंदी में इसके लिये दो कारक चिह्नों का प्रयोग होता है—करण के लिये 'ने' और उपकरण के लिये 'से'। इन संस्कृत वाक्यों का अनुवाद हिंदी में यों होगा—

(१) राम ने किया। (२) बाण से मारा गया।

अब यह स्पष्ट है कि संस्कृत की तृतीया विभक्ति के स्थान में हिंदी में दो कारक-चिह्नों का प्रयोग होता है। यह भेद पीछे से हुआ है। कुछ लोग केवल 'से' को करण का चिह्न मानते हैं और 'ने' को कर्ता कारक का चिह्न कहते हैं; पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। 'ने' और 'से' दोनों ही 'करण कारक' के लिये प्रयुक्त होते हैं। भेद केवल यही है कि एक Agent के लिये होता है दूसरा Instrument के लिये होता है। इन दोनों में भेद करने के लिये हम एक को 'करण' (Agent) दूसरे को उपकरण (Instrument) का चिह्न कह सकते हैं।

ऊपर हम लिख आए हैं कि 'ने' चिह्न कर्ता का नहीं है, वरन् करण का है; और वास्तविक कर्ता का चिह्न आधुनिक भाषाओं में लुप्त हो गया है और उसके स्थान में किसी चिह्न विशेष का प्रयोग नहीं होता।

करण (Agent) के लिये 'ने' का प्रचार केवल पश्चिमी हिंदी में है। इसका कारण यह है कि उसमें क्रिया का कर्मणि प्रयोग होता है। अतः कर्ता (Subject) करण कारक में होता है और उसमें करण कारक का चिह्न लगना उचित है। संस्कृत में तृतीया विभक्ति के लिये 'एन' या 'एण' का प्रयोग होता है। इसी 'एन' या 'एण' से उत्पन्न यह 'ने' चिह्न है।

प्रायः सभी भारतीय आर्य भाषाओं में जहाँ कहीं करण कारक का प्रयोग होता है, वहाँ उसके लिये संस्कृत की तृतीया विभक्ति से निकला हुआ कारक-चिह्न है। जैसे—

खड़ी बोली में	'ने'
ब्रज भाषा में	'ने, नैं'
कन्नौजी में	ने
पंजाबी में	नैं
राजस्थानी में	एँ, एं (बहु०)
मारवाड़ी मे	एँ
मेवाड़ी में	नै
मराठी में	नें
गुजराती में	ए
नेपाली में	ले

पर इनकी अवस्थाओं में अन्तर है। कुछ तो संस्कृत की भाँति अभी संयुक्तावस्था (Synthetical stage) में ही हैं; जैसे, राजस्थानी, मारवाड़ी और गुजराती में, और कुछ वियोगावस्था (Analytical stage) में हैं जैसे खड़ी बोली आदि में।

'ने' की उत्पत्ति के विषय में बीम्स (Beames) साहब का कथन है कि इसकी उत्पत्ति 'लग' से हुई है; क्योंकि संस्कृत की 'एन' विभक्ति घिसते घिसते 'एँ' हो गई और उसके स्थान में 'ने' का होना नहीं हो सकता। आपका कहना है कि संस्कृत की तृतीया विभक्ति से उत्पन्न 'एँ' विभक्ति जब लुप्तप्राय हो गई, तब उसके स्थान में 'ने' का प्रयोग होने लगा जो 'लग' से उत्पन्न था। आप ने यहाँ तक निश्चय कर डाला कि 'ने' का प्रचार शाहजहाँ के समय में बढ़ा। आप Modern Aryan Languages of India Vol II. में लिखते हैं—

It would thus appear that on the decay of the synthetical system and the fusion of all the case-endings thereof into one oblique form of analytical system, no trace of the Instrumental as a separate

case remained and its place was supplied by the objective for many centuries. A partial revival of this case took place at a later period, probably about the reign of Shah Jahan, when the form ने hitherto used for the dative, began gradually extended to the noun as a subject of the verb in the past tense and thus ने came in High Hindi to be used as an Instrumental.

आप ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'ने' या 'नै' वास्तव में 'ले' या 'लै'-का रूपांतर है जो 'लग' 'लागी' से निकला है और यह 'लग' पहले चतुर्थी या संप्रदान के लिये प्रयुक्त होता था (और अब भी होता है); पर पीछे से तृतीया की विभक्ति के लुप्त हो जाने पर उसके स्थान में खड़ी बोली में प्रयुक्त होने लगा। इस भ्रम में पड़ने का मुख्य कारण यह था कि वीम्स साहब ने नैपाली भाषा में संप्रदान और कर्म के लिये 'लै' और करण के लिये 'ले' चिह्न देखा और उन्होंने समझा कि करण कारक का 'ले' और संप्रदान का 'लै' दोनों एकही हैं। संप्रदान का 'लै' चिह्न 'लग' से निकला है; अतः करण कारक 'ले' भी उसी से निकला है। इसे मानने में सब से भारी कठिनाई यह है कि संप्रदान कारक का प्रयोग कहीं भी करण कारक के लिये नहीं मिलता। आप ने 'चन्द' से एक उदाहरण दिया है जिसमें 'नैं' का प्रयोग हुआ है। आप इस 'नैं' को सम्प्रदान कारक का चिह्न मानते हैं। पर इसे करण कारक का चिह्न मानना उचित होगा।

जैसे—

बालप्पन प्रथिराज नैं।
निसि सुपनंतर चिन्ह ॥

जिसका अर्थ होगा—बालकपन में पृथ्वीराज ने रात्रि में स्वप्न में चीह्ना (देखा)

आप एक और उदाहरण देते हैं—

अपनी बोई आप खावँ हाकिम नें न दे दाना।

यह 'नें' चतुर्थी या संप्रदान का चिह्न है जिसका अर्थ होगा—'हाकिम को'। पर यहाँ एक बात ध्यान देने की यह है कि यह 'नें' और करण कारक का 'ने' एक नहीं हैं। राजस्थानी, मेवाड़ी, मारवाड़ी और गुजराती में चतुर्थी के लिये क्रम से 'नै' 'कनै' 'नै' 'नां' 'ने' आदि का प्रयोग होता है।* यह 'नें' या 'नै' 'तणो' से उत्पन्न है। संबंध कारक का प्रयोग हमें बराबर चतुर्थी और द्वितीया के लिये मिलेगा। अतः केवल 'ने' और 'नें' को एक रूप में देखकर उनकी उत्पत्ति एक स्थान से मान लेना उचित नहीं है।

बीम्स साहब को हिंदी के प्राचीन काव्यों में 'ने' का प्रयोग नहीं मिला; अतः आपने यह निश्चय किया कि उस समय 'ने' का प्रचार नहीं था। दो चार उदाहरणों में आपने 'ने' चिह्न न पाकर यह लिख दिया कि—Without prolonging this enquiry by adducing any more examples, it may be said, as a general deduction from the practice of the old Hindi poets, that they are ignorant of the use of 'ने' as an instrumental case affix (p. 270.)†

बीम्स साहब का यह लिखना सर्वथा अमान्य है। हिंदी कवियों ने 'ने' का प्रयोग किया है और उसका प्रयोग प्राचीन समय से ही मिलता है। हाँ, इतना अवश्य है कि इसका प्रयोग कम मिलता है। कारण इसका यह है कि काव्य की भाषा में प्रायः कारक चिह्नों को उड़ा देने में सुभीता होता है। और पूर्वी भाषा में तो 'ने' का प्रयोग

---

* देखो सारिणी 'क'।

† देखो—The Comparative Grammar of the Modern Aryan Languages of India, Part II

ढूँढ़ना ही व्यर्थ है। कारण यह कि उसमें क्रिया का कर्तरि-प्रयोग होता है और उसमें कर्ता स्वयं बिना चिह्न के रहता है। खड़ी बोली का जब से प्रयोग मिलता है, तब से 'ने' का रूप 'करण कारक' के लिये मिलता ही है; पर ब्रजभाषा आदि में भी 'ने' का प्रयोग मिलता है। स्वयं आदि कवि चंद ने 'करण-कारक' के लिये 'रासो' में 'ने' का प्रयोग किया है। यथा—

(१) बँचि कागज चहुआन ने फिरन चंद सर थान।
मनो बीर तनु अंकरे सुगति भोग बनि प्रान॥
(रेवातट समय)

(२) पंचासज गोरी नृपति बंध उतरि नदि पार।
चंद बीर पुंडीर ने धरि मुक्के दरबार॥ "

(३) तमसि तमसि सामन्त सब रोस भरिस प्रथिराज।
जब लगि रुपि पुंडीर ने रोक्यौ गोरी साज॥ "

(४) बंध्यो प्रात प्रिथिराज नें (ज्यौं) सती सत्त बंच्छति बर।

(५) तब लगि चम्पि प्रथिराज नें गोरी वै गुज्जर गहिय॥

(६) लाल पनै प्रथिराज नें, दिय कंचन वैमाल।
मनो फिरि किन्नो अक्रम, नाहर राइ बिसाल॥ ७ वाँ समय

(७) वार बरव्यौ बत्त बहु, एक न आवै दाइ।
उत प्रथिराज नरिंद नें सज्ज्यौ सेन सुभाइ॥

(८) फुनि प्रथिराज कुमार नें, हय हन्यौ परिहार।
कंध दुध्धं कटि बग सहित, धुक्यौ धरनि असिधार।

(९) पुच्छि चंद बरदाइ नें, चित्र रेष उतपत्ति।
षां हुसेन पावास कहि, जिम लीनी असपत्ति॥

क्रमशः ज्यों ज्यों काव्य अपनी प्रौढ़ता को प्राप्त होता गया त्यों त्यों काव्य की भाषा अधिक परिमार्जित होती गई; और सुगमता के लिये उसमें

करण कारक का प्रयोग कम होने लगा। पर फिर भी उसके उदाहरण अलभ्य नहीं हैं। यथा सूरसागर में भी—

(१) एक पुरुष ने आजु मोंहि सपनान्तर दीनों।

सूरदास ने सुगमता के लिये 'ने' का 'नि' रूप भी लिखा है; यथा—

(२) कान्ह कह्यो गिरि गोवरधन तें और देव नहिं दूजा।
गोपनि सत्य मानि यह लीनो बड़ो देव गिरिराजा॥

(२) सबनि देख्यो प्रकट मूरति सहस्र भुजा पसारि।
रुचि सहित गिरि सबनि आगे करनि लै लै खाय॥

(३) अहिरनि करी अवज्ञा प्रभु की सो फल उनकों तुरत दिखाइहीं।

यहाँ एक बात ध्यान देने की यह है कि सूरदास ने सुगमता के लिये उपकरण (Instrument) के लिये भी वही चिह्न रखा है जो करण का था। यथा 'करनि' में जिसका अर्थ होगा 'कर से'।

खोज करने पर पता चलता है कि 'ने' का प्रयोग प्राचीन समय ही से पश्चिमी हिंदी में है, पर काव्य में उसका कम प्रयोग हुआ है। गद्य में हम 'ने' का प्रयोग बहुत प्राचीन समय ही से पाते हैं। संवत् ११४५ का लिए हुए हिंदी में पृथ्वीराज के दानपत्र में 'ने' का प्रयोग मिलता है। यथा—

"अप्रन तमने काका जीने के दुवा की आराम चयो"* जिसका अर्थ है—अपर तुमने काका (चाचा) जी की दवा की जिस से आराम हुआ।

यही नहीं, सब से प्राचीन मराठी कवि ज्ञानेश्वर ने भी 'ने' के रूपान्तर 'नि' का प्रयोग किया है। जैसे—

(१) की वारेनि जात आहे।

* देखो—Plate VI. Search Report for Hindi Manuscript for 1900

(२) दिसे वारेनि जैसे जाइल ॥

(३) मुकेनि घेतले मौन जैसे ।

इतना ही नहीं पंडित हरि नारायण आपटे * का कहना है कि तृतीया के लिये 'ज्ञानेश्वरी' में कई रूपों का प्रयोग हुआ है। जैसे—

एँ, न, ए, शीं, श्रीँ, ई। आपने उदाहरण यह दिया है—

जाणतेन गुरु भजिजे जेणें कृतकार्या होईजे। (१-२५) यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि ज्ञानेश्वरी में तृतीया की विभक्ति का प्रयोग करण और अपकरण दोनों के लिये हुआ है। यह प्रवृत्ति हम ऊपर सूरदास में भी देख चुके हैं।

अब यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि 'ने' का प्रयोग करण कारक के लिये बहुत प्राचीन समय ही से होता आया है। इसकी उत्पत्ति के विषय में यह अनुमान कि यह तृतीया की 'एन' विभक्ति से निकला, सर्वथा सत्य जान पड़ता है। अपभ्रंश में हम 'एँ' और 'एन' या 'एण' दोनों विभक्तियों को करण कारक के लिये प्रयुक्त होते देखते हैं। हेमचंद्र ने इसे स्वीकार किया है और उदाहरण स्वरूप यह दोहा लिखा है—

जे महु दिएण दीहडा दइएँ पवसन्तेण।
ताण गणन्तिए अंगुलिउ जज्जरि आउ नहेण ॥

हम इस दोहे में 'एँ' और 'एण' दोनों का प्रयोग देखते हैं; यथा दइएँ (दयितेन), पवसन्तेण और नहेण में। और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं—

(१) पुत्ते जाएँ कवणु गुण अवगुण कवणु मुएण।
जा बप्पी की भुंहड़ी चम्पिज्जइ अवेरण॥

*देखो—Wilson Pnilological Lectures by Apte, 1915, 'Marathi' P. 75-76.

(२) तुम्हेहिं अम्हेहिं जं किअउं दिट्ठउं बहुअ-जणेण।

तं तेवड्डउं समर-भरु निज्जिउ एक-खणेण॥

(३) सुपुरिस कंगुहे अणुहरहिं भण कज्जें कवणेण।

जिवँ जिवँ वड्डत्तणु लहहिं तिवँ तिवँ नवहिं सिरेण॥

अतः अब यह स्पष्ट है कि अपभ्रंश में 'एँ' और 'एण' दोनों का प्रचार था। 'एँ' को हम अभी तक उसी रूप में राजस्थानी, मारवाड़ी आदि में देखते हैं। 'एण' से निकला हुआ 'ण' या 'न' का प्रयोग हम 'ज्ञानेश्वरी' में देख ही चुके हैं। इसी 'ण' या 'न' में पीछे से 'एँ' जो स्वयं करण कारक का चिह्न था, मिल गया और उसका रूप 'न+एँ' से 'नैं' या 'नें' हुआ। यह प्रायः देखा जाता है कि जब एक विभक्ति लुप्तप्राय हो जाती है, तब उसे स्पष्ट करने के लिये उसमें पुनः एक और विभक्ति जोड़ देते हैं। उदाहरण के लिये जैसे 'किस' शब्द संस्कृत 'कस्स' का रूपान्तर है जिसका अर्थ है संबंध वाचक; पर 'किस' को पूर्ण रूप से अर्थ स्पष्ट करने में असमर्थ जानकर हम उसमें संबंध कारक का चिह्न 'का' भी जोड़ देते हैं और तब उसका रूप 'किसका' होता है। यह प्रवृत्ति पहले यहाँ तक प्रबल थी कि स्वयं कारक-चिह्नों में विभक्ति लगाते थे। यथा मधुमालती में—"औ आपन एहि केरहि पारी। क्यों कीह जिमि जननि दुलारी।"

यहाँ 'केर' संबंध-सूचक कारक-चिह्न है; पर उसमें भी 'हि' जो स्वयं संबंध कारक की विभक्ति है, जोड़ी गई है, और उसका रूप 'केरहि' हुआ है, जो संबंध कारक विभक्ति से युक्त संबंध कारक चिह्न है।

'नें' में 'एं' पीछे से जोड़ा गया है, इसका प्रमाण मराठी में मिलता है। मराठी में तृतीया विभक्ति 'एं' का बहुवचन 'ईं' होता है। इसी

के अनुरूप 'नें' का बहुवचन 'नीं' होता है, जो प्रत्यक्ष 'न + एँ' और 'न + ईं' से बना जान पड़ता है।

'नें' में 'एँ' का पता न पाने पर बीम्स साहब उसे 'नै' से निकला हुआ समझने लगे, जो उनके अनुसार 'लग' में उत्पन्न था। 'नें' के अनुस्वार का पता न पाकर बीम्स साहब उसे बिल्कुल उड़ा गए।

अब यह प्रकट है कि 'नें' दोहरे करण कारक (Double Instrument) का चिह्न है; और उसकी उत्पत्ति 'एण' या 'एन' से हुई है। यहाँ एक बात देखने की यह है कि नैपाली भाषा में करण कारक के लिये 'ले' का प्रयोग कहाँ से आया। बीम्स साहब का यह कहना कि यह 'ले' चतुर्थी या सम्प्रदान कारक के चिह्न 'लाई' से निकला है, जो स्वयं 'लग' से निकला है, मान्य नहीं है। इसका कारण यह है कि संप्रदान का प्रयोग करण के लिये कहीं देखने में नहीं आता। अतः यह 'ले' 'लग' से नहीं निकला है। वास्तव में इसका संबंध 'नें' से है। 'न' और 'ल' का आपस में परिवर्तन होता है। दो एक उदाहरण लीजिए। यथा—

लेयू का नेम्बु; लोन का नोन; नील का लील। उड़िया में लेबा (लेना) को 'नेबा' कहते हैं। उसी प्रकार बँगला में लेउन (लेना) का 'नेउन' पाया जाता है।

अतः नैपाली का 'ले' जो करण करक का चिह्न है, 'ने' का रूपान्तर है। नैपाली भाषा में 'ले' का प्रचार प्राचीन नहीं है। इसका प्रमाण यह है कि उस भाषा में क्रियाएँ तो तिङंती प्रयुक्त होती हैं, पर कर्ता के साथ 'ले' लगाकर उसे पश्चिमी हिन्दी की भाँति करण कारक में रख देते हैं। साथी ही क्रिया का सम्बन्ध कर्ता से ही होता है, कर्म से नहीं। इससे पता चलता है कि वास्तव में इस भाषा में प्राचीन समय से तिङंती क्रियाओं का प्रयोग होता था और उनका संबंध कर्ता से होता था, कर्म से नहीं। पर अब पीछे से 'ने' का रूपान्तर 'ले' बाहर से आ गया तो लोग

उसे कर्ता के साथ (पश्चिमीय हिंदी की भाँति) जोड़ने लगे। पर कर्तरि प्रयोग की जो पुरानी प्रवृत्ति थी, वह न मिटी और क्रिया का संबंध कर्ता ही से रहा; और यद्यपि 'लं' या 'ने' का प्रयोग होने लगा, पर उससे वाक्य की रचना में कुछ भी उलट फेर न हुआ। और 'ले' या 'ने' का प्रयोग व्यर्थ हुआ। उपर्युक्त प्रवृत्ति को देख कर डाक्टर हार्नली लिखते हैं—

"The Nepali alone has the curious anomaly of using the active case with ले together with the active passive construction i. e. of constructing the subject like the west Gaudians, but the verb like the East Gaudians"*

अतः अब निश्चयपूर्वक यही मानना पड़ेगा कि नैपाली भाषा में क्रिया का रूप और वाक्य को बनावट पूर्वी भाषाओं की भाँति थी; पर उस पर पश्चिमीय भाषाओं का प्रभाव पड़ने के कारण 'ले' का प्रयोग होने लगा। पश्चिमीय भाषाओं में जहाँ 'ने' का प्रयोग होता है, वहाँ क्रिया कम के अनुसार होती है; पर नैपली में 'ले' लगने पर भी कर्ता के अनुसार होती है, कर्म के अनुसार नहीं। यथा—

(१) घोड़ो मैं ले छोडियो।

(२) पोथी मैं ले पठियो।

(३) घोड़ो त्रि ले छोडी। (यहाँ 'छोड़ी' 'त्रि' के अनुसार है)

ऐसा क्यों होता है, इस पर विचार करने पर पता चलता है कि नैपाली भाषा पर राजस्थानी भाषा का बड़ा प्रभाव पड़ा है। इसका कारण यह है कि राजपूताने के बहुत से क्षत्रिय मुसलमानी शासन काल में उनके उपद्रवों से तंग आकर, भागकर नैपाल के पहाड़ी प्रदेशों में जा बसे थे। यही कारण है कि नैपाली भाषा पर राजस्थानी भाषा का प्रभाव पड़ा है और नैपाली भाषा में अनेक परिवर्त्तन भी हो गए हैं †।

*Hoernle's Grammar of the Gaudian Languages pp 220. 371

† इतिहास-लेखकों ने तथा Linguistic Survey of India में डाक्टर ग्रियर्सन ने इसे स्वीकार किया है।

संबंध कारक

'का' 'की'

हिंदी में संबंध कारक ही ऐसा है जिसमें लिंग के अनुसार परिवर्तन होता है। संबंध कारक को संस्कृत के वैयाकरणों ने 'कारक' के अन्तर्गत सम्मिलित ही नहीं किया है; क्योंकि इसका सम्बन्ध अन्य कारकों की भाँति वाक्य में क्रिया से न होकर संज्ञा आदि से होता है। संस्कृत और हिंदी के सम्बन्ध कारकों में एक अन्तर है। संस्कृत के सम्बन्ध कारक की विभक्ति लिंग और वचन में 'भेदक' का अनुसरण करती है; पर हिंदी के सम्बन्ध कारक का चिह्न लिंग में 'भेद्य' के अनुसार होता है। हिंदी और संस्कृत में भी सम्बन्ध कारक विशेषण की भाँति रहता है। हिंदी की प्रायः सभी उपभाषाओं में सम्बन्ध कारक के चिह्न में लिंग-भेद पाया जाता है। यही नहीं बल्कि यह भेद सभी भारतीय आर्य्य भाषाओं में पाया जाता है।

हिंदी के सम्बन्ध कारक के चिह्नों की उत्पत्ति पर विचार करने के पूर्व हम उनको दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक वे जो केर, केरी के रूपान्तर हैं; दूसरे वे जिनका सम्बन्ध किसी अन्य से है। यहाँ पर हम यह पुनः कह देना आवश्यक समझते हैं कि प्राकृतों के साथ पश्चिमी हिंदी की अपेक्षा पूर्वी हिंदी की अधिक घनिष्ठता पाई जाती है। अतः पहले हम पूर्वी हिंदी के सम्बन्ध कारक के चिह्नों को लेते हैं। पूर्वी हिंदी में सम्बन्ध कारक के चिह्न ये हैं—

केर, केरा, केरी, कर, के, कै, क।

जब से हिंदी साहित्य का प्रचार है, तभी से पूर्वी हिंदी में इनका प्रयोग मिलता है। हिंदी के सब से प्राचीन ग्रंथ पृथ्वीराजरासो में भी इसका प्रयोग मिलता है; यथा—

(१) कियौ नद नीसान फौजें सुफेरी।
मिदी दिष्टि सौं दिष्टि चहुवान केरी॥ (चन्द)

(२) दौरै गज अंध चहुवान केरो।
करीयं गिरंदन चिहौ चक फेरो ॥ (चन्द)

हिंदी के पूर्व अपभ्रंश काल में सम्बन्ध सूचक 'केर' शब्द मिलता है। हेमचंद्र ने अपने व्याकरण में लिखा है कि सम्बन्ध के लिये 'केर, तणो' का प्रयोग होता है। सूत्र इस प्रकार है—"सम्बन्धिनः केर तणौ"*। हेमचंद्र के पूर्व धर्मपाल नामक कवि हुआ है। उसने अपने 'भाविसंच कहा' में 'केर' और 'केरी' का व्यवहार किया है, जिसका अर्थ आधुनिक संबंध कारक चिह्न 'का, की' की भाँति है। जैसे हरियत्त केरी, तहकेरउ। प्राकृत में भी 'केर' का प्रयोग मिलता है, जिसका अर्थ 'सम्बन्ध-सूचक है। सब से प्राचीन प्राकृत का नमूना हमें भास के नाटकों में मिलता है। भास का समय ईसा के पूर्व पाँचवाँ या छठी शताब्दी है †। उस

---

* उदाहरण स्वरूप यह दोहा दिया है—

"गयउं सु केसरि पिअहु जलु निच्चिन्तइं हरिणाइं।
जसु केरएं हुंकारडएं मुहहु पडन्ति तृणाइं" ॥

† भास का समय बहुत विवाद ग्रस्त है। पंडित गणपति शास्त्री का, जिन्होंने भास के नाटकों का पहले पहल पता लगाया है, मत है कि 'भास' 'कौटिल्य' के पूर्व हुए हैं। भास के नाटकों में कुछ 'आर्ष-प्रयोग' पाकर आप उन्हें 'पाणिनि' के पूर्व भी मानने के लिये तैयार हैं। अतः आप भास को ईसा के पूर्व छठी या सातवीं शताब्दी में मानते हैं। इस मत के विरुद्ध पाश्चात्य विद्वानों के ये मत हैं—

(१) बारनेट (Barnett) साहब का कथन है कि जो भास कालिदास के पूर्व हुए [illegible] उनकी रचना ये नाटक है ही नहीं; और इन नाटकों की रचना ईसवी सातवीं शताब्दी में [illegible] है।

(२) कीथ महाशय (Keith) का कहना है कि भास के नाटकों की रचना अश्वघोष के पश्चात हुई। अश्वघोष का समय ईसवी दूसरी शताब्दी माना जाता है; अतः भास ईसवी तीसरी शताब्दी में हुए।

(३) महाशय लेस्नी (Lesney) का मत है कि ये नाटक अश्वघोष के बाद के रचे हैं, पर कालिदास के पहले के हैं। इस मत के विरुद्ध श्रीयुक्त ए. बनर्जी शास्त्री पी० ए० ने अपना मत प्रकट किया है। सारांश यह है कि भारतीय विद्वान् भास को ईसा के पूर्व मानते हैं, पर पाश्चात्य विद्वान् उनके समय को ईसा की तीसरी शताब्दी के पूर्व नहीं मानते [illegible]।

समय प्राकृत बोल चाल की भाषा थी। भास के नाटकों का, अभी थोड़े ही दिन हुए, पता लगा है। उन नाटकों में 'केरओ' (जो आधुनिक 'केर' का पूर्व रूप है) का प्रयोग इस प्रकार हुआ है—

परकेरओ (परकीयः)—स्वप्नवासवदत्ता	पृ०	४०
तस्स केरओ (तदीयः)—चारुदत्त	,,	८९
मम केरओ (मामकीयः) ,,	,,	७४
अत्तकेरओ (आत्मकीयः) ,,	,,	४३
परकेरअं (परकीयं) ,,	,,	४०

ऊपर के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भास के समय में प्राकृत में 'केरओ' संस्कृत 'कीय' या 'ईय' प्रत्ययों के स्थान पर आता था। इसी 'कीय' प्रत्यय का प्राकृत में 'केर' हुआ जो पृथक् शब्द की भाँति व्यवहार में आने लगा। ऊपर दिए हुए उदाहरणों में ही हम 'केर' के दो रूप देखते हैं—'केरओ' और 'केरअं'। अतः यह निश्चय है कि उसमें भी कारक विभक्तियाँ लगाई जाती थीं और वे 'भेद्य' के अनुसार होती थीं। यथा, परकेरअं सरीरं—चारुदत्त पृ० ४०। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'ओ' और 'अं' प्राकृत में प्रथमा और द्वितीया के एकवचन की विभक्ति हैं; अतः 'कीय' प्रत्यय का रूपान्तर 'केर' है। 'केर' को पृथक् शब्द की भाँति काम में लाने की प्रवृत्ति आगे चलकर दृढ़ होती गई। भास के तीन चार शताब्दी पश्चात् शूद्रक ने 'मृच्छकटिक' नाटक की रचना की। यह नाटक भास के 'चारुदत्त' नाटक के आधार पर लिखा गया है। उसमें 'केर' के स्थान में 'केरक' या 'केलक' के प्रयोग मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं—

मृच्छकटिक	पृ०	३८	अत्त केरकं गेहं
	,,	४०	वसन्तसेणा केलके सुवण्णमोडके...
	,,	६३	वेस्साजण केरको...अलंकारो...
	,,	६४	अज्जस्स केरको......

मृच्छकटिक	पृ०	६५	वसस केरओ
	,,	६८	अम्ह केरकं गेहद्वारं
	,,	९०	मम केरिआ एहाणसाडिआ
	,,	९५	वहदार केरिआए सुवर्ण सअडिआए
	,,	१०४	अप्पणो केरिकं जादिं
	,,	११२	लस्टिअशाल काह केलके...वज्झाणे
	,,	११८	अत्तण केलकं
	,,	११९	वप्प केलके पवहणे
	,,	१२२	मम केलकादो...पवहणादो मम केलिकाइं गोणाइं
	,,	१३२	मम केलके उज्जाणे
	,,	१३३	मम केलकं पुप्फकलरण्डकं
	,,	१३९	अत्तण केलका मे भूमि
	,,	१५२	तवशिशणीए केलिका अलंकाला
	,,	१५३	अज्ज चारुदत्त केरकाइं...पदाइं
	,,	१६४	अत्तण केलिकाए...पदोलिकाए मम केलिकाए
	,,	१६७	मम केलिका वमफवालिका *

इन उदाहरणों में कई बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो यह कि 'केर' का रूप बदलकर 'केरक' हो गया; अर्थात् इसमें 'क' का अन्यत्र से आगम हुआ। दूसरी यह कि 'केरक' में लिंग-भेद भी आ गया और उसका रूप 'केरिआ' 'केलका' हुआ। तीसरी यह कि भास के समय में 'केर' केवल सर्वनामों के साथ प्रयुक्त होता था; पर शूद्रक के समय में वह संज्ञाओं के साथ भी प्रयुक्त होने लगा। चौथी यह कि 'केरक' का

---

* मृच्छकटिकम्, Edited by Stenzller A. F. (Bonn 1847)

संबंध भेद्य से है, भेदक से नहीं; *और उसी के अनुसार 'केरक' का भी रूप चलता है। कहने का तात्पर्य्य यह है कि शूद्रक के समय में 'केरक' स्वतंत्र विशेषण की भाँति प्रयोग में आने लगा और उसका संबंध विशेष्य से होता था। उदाहरण के लिये—

(१) 'अत्तण केलिका भूमि'। यहाँ भूमि के अनुसार 'केलिका' भी स्त्रि० है।

(२) 'मम केलिकाइं गोणाइं'। यहाँ 'गोणाइं' के बहुवचन होने के कारण 'केलिकाइं' भी बहुवचन है।

(३ केलकादो...पवहणादो। यहाँ 'पवहणादो' अपादान कारक है; अतः 'केलकादो' भी अपादान कारक में है।

(४) संक्षेप में मृच्छकटिक में 'केरक' का रूप इस प्रकार मिलता है—

'केरक'

	एकवचन	बहुवचन
प्रथमा	केरको (पु) केरिआ (स्त्रि०)	केरकाइं (स्त्रि०)
	केलिका (स्त्रि०)	
द्वितीया	केरक (न०) केरिक (स्त्रि०)	केलिकाइं (स्त्रि०)
	केलकं (न०)	
तृतीया	केरिकाए	
चतुर्थी	+	
पंचमी	केलकादो	
षष्ठी	+	
सप्तमी	केलके (न०) केलिकाए (स्त्रि०)	

* वाक्य में जिस शब्द के साथ संबंध होता है, उसे 'भेद्य' कहते हैं और 'भेद्य' के संबंध से सम्बन्ध कारक को 'भेदक' कहते हैं। जैसे 'राजा का पोता' में 'राजा का' 'भेदक' और 'पोता' 'भेद्य' है। (भाषा-विज्ञान—पृ० ३७०)

अतः यह स्पष्ट है कि 'केरक' पृथक् शब्द की भाँति व्यवहार में आता था। शूद्रक ने अपने नाटक में कई प्रकार की प्राकृतों का प्रयोग किया है जिससे पता चलता है कि 'केरक' का प्रयोग किन किन प्राकृतों में कितना होता था। मृच्छकटिक में आए हुए 'केरक' के प्रयोग की जाँच करने पर पता चलता है कि २३ उदाहरणों में से

७ शौरसेनी में
६ मगधी में
७ शाकारी में
१ अवंतिका में
१ प्राच्य में और
१ चाण्डाली में

कुल २३

प्रयोग हुए हैं। इससे निश्चय होता है कि शौरसेन, मगध, शाकार प्रदेशों में अर्थात् उत्तरी भारत में 'केरक' का प्रयोग शूद्रक के समय में बाहुल्य से होता था। शाकार प्रदेश से हमारा तात्पर्य्य उस प्रदेश से है जहाँ 'शाकारी' बोली जाती थी। शाकारी भाषा अपभ्रंश की एक उपभाषा है। उस समय यह राजपूताने के आसपास बोली जाती थी; क्योंकि आभीर या शाकार जाति वहीं पर बसती थी। शूद्रक के पश्चात् प्राकृत में 'केरक' का प्रयोग नहीं मिलता। इसका एक कारण है। शूद्रक के समय में प्राकृत का प्रचार था; पर वह क्रमशः अपना रूप बदल रही थी। उसके स्थान में अपभ्रंश भाषा का प्रचार बढ़ता जाता था। अतः पीछे के नाटककारों ने जिस प्राकृत का प्रयोग अपने नाटकों में किया, वह बोलचाल की न थी, वरन् 'गढ़ी हुई' भाषा थी, जिसे व्याकरणों के आधार पर कवि लोग बना लेते थे। अभी तक प्राकृत के जितने व्याकरण मिलते हैं, प्रायः सभी में संस्कृत से प्राकृत बनाने के कुछ नियमों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उन्हें एक प्रकार से व्याकरण

कहना ही व्यर्थ है। इसी से पता चलता है कि संस्कृत से प्राकृत बना कर कृत्रिम प्राकृत का नाटकों में प्रयोग करने की प्रथा चल पड़ी थी। इसी से शूद्रक के पीछे बोलचाल की प्राकृत का स्वाभाविक स्वरूप देखने में नहीं आता। 'केरक' के भी उनमें न मिलने का यही कारण है। 'केरक' का प्रयोग बोलचाल की भाषा में अवश्य था; पर यह कहना कठिन है कि किस रूप में था।

अपभ्रंश काल में आकर हम पुनः 'केर' का प्रयोग पाते हैं जिस का उल्लेख ऊपर कर चुके हैं। इसी 'केर' से पूर्वी हिन्दी के संबंध कारक के चिह्नों की उत्पत्ति हुई है, इसमें किंचित् मात्र भी संदेह नहीं है। लिंग का भेद हम शूद्रक के समय में ही पाते हैं। क्रमशः उसकी प्रवृत्ति दृढ़ होती गई और अब उसे हम आधुनिक चिह्नों में देखते हैं। यहाँ हम अन्य भारतीय आर्य्य भाषाओं के विषय में भी कुछ कहना आवश्यक समझते हैं, जिससे हमारे उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि होती है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि हमारी अन्य आर्य्य भाषाएँ भी एक प्राचीन भाषा से निकली हैं और उनमें बड़ी घनिष्टता है। यह हम पहले ही लिख चुके हैं कि प्रायः सभी आर्य्य भाषाओं में, जो भारत में बोली जाती हैं, संबंध कारक में लिंग का भेद है। यहाँ एक बात यह भी कहना चाहते हैं कि उनमें से अधिकतर भारतीय आर्य्य भाषाओं के संबंध कारक के चिह्नों की उत्पत्ति 'केर' से ही हुई है। इस पर कुछ कहने के पूर्व हम एक बार सारिणी 'क' की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। उसमें देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि—

बँगला	की	एर, र
उड़िया	,,	कर, र
मारवाड़ी	,,	रो,
गुजराती	,,	केरो

आदि का संबंध भी 'केरक' से ही है। बँगला में 'केरक' का रूप

'एर' हो गया है और उसमें 'र' हो गया। प्राचीन उड़िया भाषा में 'कर' का प्रयोग मिलता है। आधुनिक भाषा में 'कर' का 'र' हो गया है। मारवाड़ीमें 'केरो' के 'क' के लोप हो जाने पर केवल 'रो' रह गया है। गुजराती में 'केरो' का ज्यों का त्यों रूप मिलता है। प्राचीन गुजराती में तो 'केरक' के तीनों लिंगों के रूप मिलते हैं, जैसा कि प्राकृत में हम देख चुके हैं। वे रूप यों हैं—

	पुं०	न०	स्त्रि०
प्रथमा एक०	केरो	केरुं	केरी
,, बहु	केरा	केरां	,,
विकृत रूप	केरा, केरे	केरा,	,,

उदाहरण के लिये—

(१) चंपक केरो वडेरो, में राख्यो छे घेर।

(शामलदास-पद्मावती)

(२) हुकम होय हजूरा केरी शोधी लावुं बांधी मायर।

(अंगद, अवस्थी)

(३) जाम्ही केरा तरंग तजीने तटमां जाइ कूप खोदे रे।

(नरसिंह मेहता, काव्य)

लिंग-भेद की प्रवृत्ति अवधी तथा पूर्वी भाषा में प्राचीन समय से है। यथा 'पदमावत' में—

(१) यह सब समुद बुंद जेहि केरा (पु०)

(२) बाँधी अहै सिंहिटि सत केरी (स्त्रि०)

(३) औ जमकात फिरै जम केरी (स्त्रि०)

रामायण आदि पीछे के काव्यों में इसका बाहुल्य से प्रयोग मिलता है। उदाहरण देना व्यर्थ है।

पूर्वी हिंदी और खड़ी बोली में संबंध कारक का एक चिह्न 'के' भी है, जो कभी कभी पूर्वी हिंदी में दोनों लिंगों के लिये आता है।

खड़ी बोली में तो उसके लिये विशेष नियम हैं। इस 'के' की उत्पत्ति 'केर' से हो है। 'र' का लोप हो जाने पर ऐसा हुआ है। उस 'केर' से निकला हुआ 'कर' भी है, जिसका प्रयोग 'पद्मावत' में दोनों लिंगों में हुआ है; यथा—

(१) लेसा हियें प्रेम कर दीया।

(२) हौं पंडितन केर पछ लागा।

(३) तेहि सेवक कर तहाँ पयारा।

'कर' का एक और रूप 'र' के गिर जाने पर हुआ है जो 'क' है। सुगमता के लिये कहीं कहीं 'कर' के स्थान पर 'क' का प्रयोग होता है। यथा—

(१) धनपति उहै जेहि-क संसारा—जायसी।

(२) पितु आयसु सब धरम-क टीका—तुलसी।

'केर' से निकला हुए 'के' या 'कै' पूर्वी हिंदी में प्रयुक्त हुआ है*; यथा—

मुहमद चिंगी प्रेम 'कै'। —जायसी।

सुनहु विभीषण प्रभु कै रीति। —तुलसी।

'के' का प्रयोग खड़ी बोली में और आधुनिक पूर्वी भाषाओं में भी होता है।

अब रहा खड़ी बोली, ब्रज भाषा और कन्नौजी के संबंध कारक के चिह्नों के विषय में जानना। खड़ी बोली में 'के' चिह्न की उत्पत्ति 'केर' से है, यह ऊपर लिखा जा चुका है। इसी 'के' का प्रयोग कन्नौजी में भी होता है। ब्रज भाषा में पु० के लिये 'कौ' का प्रयोग होता है। इसी का दूसरा रूप 'को' कन्नौजी में है। ये दोनों रूप साहित्य में मिलते हैं; यथा—

(१) एक विभीषण कौ घर नाहीं। —रामायण।

---

* चंद ने भी रासो में 'के' का प्रयोग किया है; यथा—
दहनि पुत्र कविचन्द के सुन्दर रूप सुजान।

(२) आए वामदेव पाँड़े पूछे नामदेव जू सों दूध को प्रसंग अति रंग भर भाखियें। —भक्तमाल की टीका।

'को' का दूसरा रूप 'कउ' 'बीसल देव रासो' में मिलता है। 'कउ' भी 'कर' का रूपांतर ही जान पड़ता है। इसका रूप सर्वनामों के साथ प्राप्त होता है; यथा—

म्हाकउ = मेरा * —बीसलदेव रासो।

इसका प्राकृत में 'मम केरओ' रूप ऊपर देख ही चुके हैं। 'कर' का 'कअ' होना असंभव नहीं है। स्वयं पूर्वी हिंदी में 'क' पाया जाता है। ऊपर हम उदाहरण देख ही चुके हैं। इसी 'क' या 'कअ' से खड़ी बोली का 'का' बनता है।

यह तो हुआ पुं० संबंध कारक चिह्नों के विषय में। खड़ी बोली में तथा ब्रज और अवधी में भी संबंध कारक में स्त्रीलिंग का चिह्न अलग होता है। खड़ी बोली में इसका चिह्न 'की' है। संबंध कारक के चिह्नों में लिंग के अनुसार परिवर्तन होने की प्रवृत्ति हम प्राचीन समय ही से देखते हैं। ऊपर देख आए हैं कि प्राकृत काल ही में 'केरक' या 'केलक' का रूप लिंग के अनुसार भिन्न भिन्न होता था। 'केरक' का रूप स्त्रि० में 'केरिआ' 'केलिका' या 'केरिका' होता था। यह प्रवृत्ति बराबर चली गई; और उसी के अनुसार आधुनिक भाषाओं में भी हम संबंध कारक लिंग के अनुसार भिन्न भिन्न रूप पाते हैं। पूर्वी हिंदी में हमें इसके लिये 'केरि' चिह्न मिलता है और पश्चिमी हिंदी में 'की'। 'केरक' के स्त्रीलिंग रूप 'केरिक' से उत्पन्न 'केरि' या 'केरी' का प्रयोग हम साहित्य में प्राचीन समय ही से पाते हैं; यथा—

भिदी दिट्टि सों दिट्टि चहुवान केरी। —चंद।

पूर्वी भाषा में कवियों ने स्त्री० के लिये बराबर 'केरी' या 'केरि' का प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण देना उचित होगा; जैसे—

* पांच्य म्हाकउ राखज्यो मान। —बीसलदेव रासो।

(१) ता करि चाह कहै जो आई। —पद्मावत जायसी।

(२) सेवा केरि आस तोहि नाहीं। ,,

(३) पाँधी लिहिटि अहै सत केरी। ,,

जिस प्रकार 'केर' का 'कअ' और 'कै' होता है, वैसे ही 'केरि' का 'कइ' और 'की' हुआ है।

तुलसीदास ने स्त्री० के लिये 'कइ' का प्रयोग किया है; यथा—

(१) भामिनि भयहु दूध कइ माखी। —रामायण।

(२) तिन्ह कइ गति मोहि देहु शिव। ,,

'कै' को दो प्रकार से पढ़ते थे। पुं० के लिये 'कै' या 'कय' और स्त्री० के लिये उसे 'कइ' की भाँति पढ़ते थे। पर लिखने में दोनों के लिये 'कै' ही लिखते थे। जहाँ स्त्री० के रूप में इकार को दीर्घ पढ़ना होता था, वहाँ उसका रूप 'को' होता था। पूर्वी भाषाओं में भी हमें 'की' का प्रयोग प्राचीन समय से ही मिलता है; जैसे 'मधुमालती' में, जो पद्मावत के पूर्व लिखी गई है—

(१) दुष्ट साध की हियें समानी।

(२) ता महँ चख की छाया, दीसै सिल अनुमान।

(३) धाई बात प्रेम की, मोंहि दुख कही न जाय।

पीछे के कवियों ने भी इसका प्रयोग किया है; यथा—

(१) पद्मावति राजा कै (कइ) बारी। —पद्मावत, जायसी।

(२) राम प्रीति की रीति आप नीके जानियत हैं—तुलसी, विनय,

(३) राम नाम के जपे जाय जिय की जरनि ,,

(४) का सेवा सुग्रीव की। ,,

(५) श्री रघुबीर की यह बानि। —तुलसी, विनय०।

चित्रावली में

(१) देखेसि सखि माता की कोरा „ —उसमान।

(२) कौलावति की माता जहाँ। „ „

(३) रति के रूप रंग की जाई। „ „

इन्द्रावती में

(१) पिय की प्रीति बराने, एक न राखै गोई। —नूर मुहम्मद।

(२) सुरज जीवन तामों मिले, पूजत मन की आस। „

(३) रसना एक न कहि सकौं, आगमपुर की बात। „

पश्चिमी हिंदी में तो इसका प्रयोग मिलना ही चाहिए; क्योंकि 'केरी' के स्थान पर इसके 'की' रूप ही का प्रचार वहाँ था। चन्द ने रासो में भी 'की' का प्रयोग किया है; यथा—

(१) अयं'गाह इक मुगदू की त्यों करिजै यापान। —रेवा तट।

(२) इतनी सीप रिसीप की, सुनि पग बन्दे चंद—६२ वाँ समय।

(३) जा पाछे इंछनीय, सलप की सुता बताइय।—६५ वाँ समय।

सूर ने भी बराबर इसका प्रयोग किया है; जैसे—

(१) दशरथ कौशल्या के आगे लसत सुमन की छहियाँ।

—सूरसागर।

(२) मंदाकिनी तट फटिक सिला पर, सुख मुख जोरि तिलक की करनी। —सूरसागर।

(३) दशरथ मरन हरन सीता को, रन बैरिन की भीर। „

(४) देखत प्रभु की महिमा अपार। „

अब यह प्रकट है कि 'केरी' के स्थान में संबंध कारक के लिये स्त्रीलिंग 'की' कारक के चिह्न का प्रयोग पूर्वी और पश्चिमी हिंदी के साहित्य में प्राचीन समय ही से है। पर साहित्य में इसका प्रयोग पा कर यह न समझ लेना चाहिए कि बोल चाल की भाषा में भी इसका

प्रयोग रहा होगा। हिंदी साहित्य की भाषा बोल चाल की भाषा से भिन्न थी। उसमें प्रांतिक प्रयोग पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था।* कवि अपनी योग्यता और आवश्यकता के अनुसार प्रयोगों को लेता था।

आधुनिक समय में हम 'की' का प्रयोग बोल-चाल में केवल पश्चिमी हिंदी में पाते हैं; जैसे राजस्थानी, मेवाड़ी, खड़ी बोली, ब्रज और कन्नौजी में। कन्नौज के आगे 'केरी' या 'केरि' का प्रचार है। स्त्रीलिंग के लिये संबंध कारक में 'केरी' और 'की' दोनों का प्रयोग पुराना है। अपभ्रंश काल ही में हम इनका प्रयोग पाते हैं। जैसे हेमचंद्र के दोहे में 'की' का प्रयोग—

पुत्ते जाएँ कवणु गुण अवगुण कवणु मुएण।
जा बप्पी की भुँहड़ी चम्पिज्जइ अवरेण॥

और 'केरी' का प्रयोग धनपाल कृत 'भविसत्त कहा' में† 'हरिदत्तहो केरी' (हरिदत्त की) मिलता है।

ऊपर के सारे कथन का सारांश यह है कि आधुनिक हिंदी में जितने कारक चिह्न संबंध कारक के लिये प्रयुक्त होते हैं, उनमें से प्रायः सब की उत्पत्ति प्राकृत के 'केरआ' या 'केरक' से है; और उनमें जो लिंगभेद है, वह भी प्राचीन समय ही से है। अब यहाँ देखना यह है कि 'केरओ' की उत्पत्ति कहाँ से हुई।

पहले हम देख चुके हैं कि 'केरओ' का पहले पहल प्रयोग भास में 'कीय' प्रत्यय के स्थान में हुआ है। और इसका प्रयोग केवल उन सर्वनामों के साथ हुआ है, जिनके साथ संस्कृत में 'कीय' प्रत्यय का प्रयोग

* जहाँ कवि ने प्रांतिक भाषा में काव्य रचने का ध्यान रखा है, वहाँ ऐसा नहीं हुआ है। जैसे जायसी की पदमावत में हम 'की' के स्थान में 'करी' ही का प्रयोग पाते हैं जो पूर्वी हिंदी का प्रयोग है।

† देखो Introduction भविसत्तकहा Edited by Dalal and Gune G. O. Series

होता है। अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि संस्कृत में जहाँ 'कीय' प्रत्यय का प्रयोग होता था, उसी के स्थान में प्राकृत में 'केर' का प्रयोग होता था। अतः 'कीय' और 'केर' एक ही शब्द के हैं। यह तो मानी हुई बात है कि प्रत्यय किसी समय है सम्पूर्ण स्वतंत्र शब्द थ। क्रमशः घिस घिसाकर ये प्रत्यय हो गए। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि 'कीय' किसी समय एक स्वतंत्र शब्द रह होगा और कालान्तर में वह विकृत होकर 'कीय' हो गया।

'कीय' प्रत्यय का अर्थ है 'का' या 'संबंध रखनेवाला;' जैसे राजकीय—'राजा का' या 'राजा से संबंध रखनेवाला'। 'राजकृतः' का भी वही अर्थ होगा जो 'राजकीय' का होगा। 'कृत' और 'कीय' प्रत्यय के अर्थों में बहुत कुछ साम्य है। संभव है और अधिक संभव है कि 'कीय' प्रत्यय 'कृतः' से बिगड़कर बना हो। 'कृतः' से उत्पन्न क्रियाओं का रूप आधुनिक भाषा में भी 'कीय' से मिलता जुलता है। 'कृतः' से निकली क्रिया का रूप 'किया' होता है जो 'कीय' के अनुरूप है—'कृत' 'किय' या 'कीय'। यहाँ एक बात और ध्यान देने की यह है कि 'किया' के अतिरिक्त 'कृतः' के और भी रूपान्तर हैं जो आधुनिक भाषाओं में तथा प्राचीन साहित्य में भी पाए जाते हैं। वे 'कीय' प्रत्यय के स्थान में प्रयुक्त 'केर' से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। यथा—

बँगला में 'करिल'

मराठी में 'केला'

पश्चिमीय हिंदी में करा, करी (स्त्री०)

पूर्वी हिंदी में 'कइल'

ब्रज में 'करी' कन्नौजी में 'कर्यो', और मारवाड़ी में 'कर्यो'। यहाँ हम स्पष्ट देख सकते हैं कि 'कृतः' से उत्पन्न क्रियाओं में 'करिल' (बँ०), 'केरिक' या 'केरिओं' से 'केला' (म०) 'केलक' या 'केलओं' से (प० हि०) 'करा' और 'केरी,' 'केर' और 'केरिअ' से कितने मिलते हैं।

जब हम 'कृतः' से उत्पन्न 'किय' 'किया' 'करा' 'केला' 'करी' आदि रूप क्रिया में पाते हैं, तो इसके मानने में हमें किसी प्रकार की शंका नहीं रह जाती कि 'कृतः' से कीय, केर, केरि केलक, केलिक * आदि की भी उत्पत्ति हुई।

हिन्दी साहित्य में हमें 'किया' के स्थान में 'करी' 'करिय' और 'कर्यो' रूप भी मिलता है; जैसे चन्द के रासो में—

(१) सिंदर ललाट प्रसेद कर्यो संकर गजराजं ॥

(रेवातट)

(२) तिहि ऊपर चामंड कर्यों हुरसैन थांन सजि।

(रेवातट)

(३) करिय अरज उमराव।

(रेवातट)

(४) सब मिलि सु ताहि पुज्जा करिय। (आदि पर्व)

सूर कृत सूरसागर में—

(१) अहिरनि करी अवज्ञा प्रभु की सो फल उनको तुरत दिखावहिं।

ऊपर दिए हुए उदाहरणों से उपर्युक्त कथन की और भी पुष्टि होती है और यह निश्चय होता है कि 'कृतः' से ही उत्पन्न 'कीय' और 'केर' आदि हैं।

हमारी सम्मति में जिस समय 'कीय' का व्यवहार संस्कृत में होता था, उसी समय केर का व्यवहार बोलचाल की भाषा में होता था। 'कीय' का प्रयोग हमें पाणिनि के पूर्व नहीं मिलता। वेदों में 'ईय' प्रयत्न का व्यवहार है, पर 'कीय' का नहीं। कुछ लोगों का अनुमान है कि 'कीय' 'ईय' और 'क' प्रत्ययों के मिलने से बना है।

---

* यहाँ यह जान लेना आवश्य है कि 'क' केलक में पीछे से जुड़ा है और उसका रूप केलओ या केरओ होगा। और प्रथमा की विभक्ति में 'र' के स्थान में मागधी में 'ल' होता है।

पर इसे मानने में एक बाधा यह है कि तब प्राकृत में उसका रूप 'केर' कैसे होगा। वेदों में 'क' प्रत्यय संबंध-सूचक है और उसका प्रयोग यों हुआ है; जैसे—

मामक (ऋग्वेद) वार्षिक, वासन्तिक ❀।

'ईय' प्रत्यय का भी प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है, यथा—

गृह्मेधीय (ऋग्वेद)

पार्वतीय (अथर्व वेद) †।

यदि हम यह मान लें कि 'मामक' में पीछे से 'ईय' लगा और उसका रूप 'मामकीय' बना, तो उसके मानने में बाधा यह पड़ती है कि तब 'मामकीय:' के लिये प्राकृत में ममकेरओ कैसे हुआ।

'कीय' यदि 'क' और 'ईय' के मिलने से बना, तो उसके लिये प्राकृत में 'केर' क्यों आया। 'केर' 'कृत' का रूपान्तर हो सकता है, यह हम ऊपर देख आए हैं। अतः यही कहना पड़ेगा कि 'कीय' प्रत्यय वैदिक काल के पश्चात् 'कृत' से निकला और इसका प्रयोग संस्कृत काल में हुआ। पर यह निश्चय है कि पाणिनि के समय में इसका प्रचार था। और यह बात संभव भी है; क्योंकि वैदिक काल के बहुत पीछे पाणिनि का समय है। पाणिनि के समय में संस्कृत में 'कीय' और प्राकृत में 'केर' का प्रयोग था, ऐसा जान पड़ता है।

डाक्टर भांडारकर का मत है कि 'केर' या 'केरक' की उत्पत्ति 'कार्य्य' से है ‡। 'कार्य्य' का प्राकृत में 'कज्ज' और 'कारिअ' होता है' जिससे आधुनिक 'काज' और 'कार' बनते हैं। पर इससे 'केर' होना संभव नहीं। दूसरी बात यह है कि 'कार्य्य' का कहीं ऐसा प्रयोग

❀ देखो Vedic Grammar by A. A. Macdonell, p 137 (&. 208)

† देखो Vedic Grammar by Macdonell p.137 (& 203)

‡ Wilsons' Philological Lectures on Sanskrit and the derived Languages, 1877. p 258

नहीं मिलता जिससे 'संबंध' का भाव व्यक्त हो। तीसरी बात, जैसा कि हार्नली महाशय कहते हैं यह है—

"कार्य passive है और उसका अर्थ है what is to be done (जो किया जानेवाला हो)। अतः 'कार्य' का प्रयोग ऐसे स्थान में नहीं हो सकता जहाँ 'किया हुआ' का भाव होगा; जैसे—राजकृतं-राजकेरं राजा का (राजा से किया हुआ) में।

डाक्टर भांडारकर को 'कार्य' से 'केर' को इसलिये निकालना पड़ा कि 'केर' प्राकृत में स्वतंत्र संज्ञा की भाँति व्यवहार में आता था और उसमें विभक्तियाँ लगती थीं। अतः उन्होंने समझा कि यह किसी संज्ञा से अवश्य उत्पन्न है। पर हम ऊपर देख चुके हैं कि 'केर' 'कृत' से उत्पन्न है और पहले इसका प्रयोग प्राकृत में 'कीय' प्रत्यय के स्थान में होता था और धीरे धीरे यह विशेषण की भाँति व्यवहार में आने लगा और इसके वचन, लिंग और कारक के अनुसार भिन्न भिन्न रूप होने लगे। लिंग-भेद की प्रवृत्ति तो अभी तक पाई जाती है। पर वचन और कारक के अनुसार भेद करने की प्रथा अपभ्रंश के पश्चात् लुप्त हो गई। कहीं किसी ने भूल से यदि कोई प्रयोग कर दिया तो कर दिया; जैसे मधुमालती में (विक्रमीय १६ वीं शताब्दी) 'केर' में पुनः संबंध कारक को 'विभक्ति' ही लगी है। यथा—

भौ आपन पहि केरहि पारी। क्यों कीन्हसि जिमि जननि धिन्हारी॥

(क्रमशः)

(२२) क्षत्रियों के गोत्र

[लेखक-राय बहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, अजमेर]

ब्राह्मणों के गौतम, भारद्वाज, वत्स आदि अनेक गोत्र (ऋषि-गोत्र) मिलते हैं जो उन (ब्राह्मणों) का उक्त ऋषियों के वंशज होना प्रकट करते हैं। ब्राह्मणों के समान क्षत्रियों के भी अनेक गोत्र उनके शिला-लेखादि में मिलते हैं; जैसे कि चालुक्यों (सोलंकियों) का मानव, चौहानों का वत्स, परमारों का वसिष्ठ, वाकाटकों का विष्णुवर्द्धन आदि। क्षत्रियों के गोत्र किस बात के सूचक हैं, इसके विषय में मैंने टाड राजस्थान के सातवें प्रकरण पर टिप्पणी करते समय प्रसंग-वशात् वाकाटक वंश का परिचय देते हुए लिखा था—"वाकाटक-वंशियों के दानपत्रों में उनका 'विष्णुवर्द्धन' गोत्र में होना लिखा है। बौद्धायन प्रणीत 'गोत्र-प्रवर-निर्णय' के अनुसार विष्णुवर्द्धन गोत्रवालों का महर्षि भरद्वाज के वंश में होना पाया जाता है। परंतु प्राचीन काल में राजाओं का गोत्र वही माना जाता था, जो उनके पुरोहितों का होता था। अतएव विष्णुवर्द्धन गोत्र से अभिप्राय इतना ही होना चाहिए कि इस वंश के राजाओं के पुरोहित विष्णुवर्द्धन गोत्र के ब्राह्मण थे।"* कई बरसों तक मेरे उक्त कथन के विरुद्ध किसी ने कुछ भी नहीं लिखा। परंतु अब उस विषय की चर्चा खड़ी हुई है जिससे उसका स्पष्टीकरण करना आवश्यक प्रतीत होता है।

श्रीयुक्त चिंतामणि विनायक वैद्य एम० ए० एल-एल० बी० के नाम और उनकी 'महाभारत मीमांसा' पुस्तक से हिंदी-प्रेमी परिचित ही हैं। वैद्य महाशय इतिहास के भी प्रेमी हैं। उन्होंने ई.सन् १९२३ में "मध्य-युगीन भारत, भाग दूसरा" नाम की मराठी पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें

* खड्गविलास प्रेस (बाँकीपुर) का छपा हिंदी 'टॉड राजस्थान,' खंड १, पृ० ४३०-३१।

हिन्दू राज्यों का उत्कर्ष अर्थात् राजपूतों का प्रारंभिक (अनुमानतः ई. सन् ७५० से १०००तक का) इतिहास लिखने का यत्न किया है। उसमें क्या राजपूत विदेशी हैं, अग्निकुल की झूठी कल्पना, पृथ्वीराज रासे की ऐतिहासिक आलोचना, क्या अग्निवंशी गूजर हैं, राजपूतों के गोत्र और आर्य जाति का राजपूताने में बसना आदि विषयों पर अपना मंतव्य तथा चित्तौड़ के गुहिलवंशियों, साँभर के चौहानों, कन्नौज के सम्राट् प्रतिहारों (पड़िहारों), अनहिलवाड़े (पाटण) के चावड़ों, धार के परमारों, बुंदेलखंड के चँदेलों, चेदि अर्थात् त्रिपुरि के कलचुरियों, बंगाल अथवा मुँगेर के पालवंशियों, दक्षिण के राष्ट्रकूटों (राठौड़ों) आदि का कुछ इतिहास, तथा उस समय की भाषा, धार्मिक परिस्थिति, सामाजिक स्थिति, वर्णव्यवस्था, राजकीय परिस्थिति, मुल्की और फौजी व्यवस्था आदि कई ऐतिहासिक विषयों का समावेश किया है। वैद्य महाशय का यत्न बड़ा ही सराहनीय है। मेरे इस लेख का उद्देश्य उनके ग्रंथ की समालोचना करना नहीं, किंतु केवल राजपूतों (क्षत्रियों) के गोत्र के संबंध में मेरा और उनका जो मतभेद है, उसी का निर्णय करना है। वैद्य महाशय ने 'राजपूतों के गोत्र' तथा 'गोत्र और प्रवर' इन दो लेखों में यह बतलाने का यत्न किया है कि क्षत्रियों के जो गोत्र हैं, वे उनके मूल पुरुषों के सूचक हैं, पुरोहितों के नहीं; और पहले क्षत्रिय लोग ऐसा ही मानते थे (पृ०६१)। अर्थात् भिन्न भिन्न क्षत्रिय वास्तव में उन ब्राह्मणों की संतति हैं जिनके गोत्र वे धारण करते हैं।

अब इस विषय की जाँच करना आवश्यक है कि क्षत्रियों के गोत्र वास्तव में उनके मूल पुरुषों के सूचक हैं या उनके पुरोहितों के, जो उनके संस्कार करते और उनको वेदादि शास्त्रों का अध्ययन कराते थे।

(१) याज्ञवल्क्य स्मृति के आचाराध्याय के विवाह प्रकरण में कैसी कन्या के साथ विवाह करना चाहिए, यह बतलाने के लिये नीचे लिखा हुआ श्लोक है—

अरोगिणीं भ्रातृमतीमसमानार्षगोत्रजां।
पंचमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा ॥ ५३ ॥

आशय—जो कन्या नीरोग, भाईवाली, भिन्न ऋषि-गोत्र की हो, और (वर का) माता की तरफ से पाँच पीढ़ी तक और पिता की तरफ से सात पीढ़ी तक का जिससे संबंध न हो, उससे विवाह करना चाहिए।

वि०सं० ११३३ और ११८३ के बीच दक्षिण (कल्याण) के दरबार के चालुक्य (सोलंकी) राजा विक्रमादित्य (छठे) के समय के पंडित विज्ञानेश्वर ने 'याज्ञवल्क्य स्मृति' पर 'मिताक्षरा' नाम की विस्तृत टीका लिखी, जिसका अब तक विद्वानों में बड़ा सम्मान है और जो सरकारी न्यायालयों में भी प्रमाण रूप मानी जाती है। उक्त टीका में ऊपर उद्धृत किए हुए श्लोक के 'असमानार्षगोत्रजां' चरण का अर्थ बतलाते हुए विज्ञानेश्वर ने लिखा है—'राजन्य (क्षत्रिय) और वैश्यों में अपने गोत्र (ऋषि गोत्र) और प्रवरों का अभाव होने के कारण उनके गोत्र और प्रवर पुरोहितों के गोत्र और प्रवर* समझने चाहिएँ †। साथ ही उक्त कथन की पुष्टि में आश्वलायन का मत उद्धृत करके बतलाया है कि राजाओं और वैश्यों के गोत्र वे ही मानने चाहिएँ जो उनके पुरोहितों के हों ‡। मिताक्षरा के उक्त अर्थ के विषय में श्रीयुक्त वैद्य

* प्रत्येक ऋषिगोत्र के साथ बहुधा तीन या पाँच प्रवर होते हैं जो उक्त गोत्र (वंश) में होनेवाले प्रवर (परम प्रसिद्ध) पुरुषों के सूचक होते हैं। कश्मीरी पण्डित जयानक अपने 'पृथ्वीराज विजय महाकाव्य' में लिखता है—

काकुत्स्थमिक्ष्वाकुरघू च यद्दधत्पुराभवत्त्रिप्रवरं रघोः कुलम्।
कलावपि प्राप्य स चाहमानतां प्ररूढतुर्यप्रवरं बभूव तत् ॥२।७१॥

आशय—रघु का वंश (सूर्यवंश) जो पहले (कृतयुग में) काकुत्स्थ, इक्ष्वाकु और रघु इन तीन प्रवरोंवाला था, वह कलियुग में चाहमान (चौहान) को पाकर चार प्रवरवाला हो गया।

† राजन्यविशां प्रातिस्विकगोत्राभावात् प्रवराभावस्तथापि पुरोहितगोत्रप्रवरौ वेदितव्यौ।
(मिताक्षरा, पृ० १४)

‡ तथा च यजमानस्यार्षेयान् प्रवृणीत इत्युक्त्वा पौरोहित्यान् राजविशां प्रवृणीते इत्याश्वलायनः। (वही, पृ० १४)

जी का कथन है—'मिताक्षरा-कार ने यहाँ ग़लती की है, इसमें हमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है' (पृ० ६०) 'मिताक्षरा के बनने के पूर्व क्षत्रियों के स्वतः के गोत्र थे' (पृ०६१)। इस कथन का आशय यही है कि मिताक्षरा के बनने के पीछे क्षत्रियों के गोत्र उनके पुरोहितों के गोत्रों के सूचक हैं, ऐसा माना जाने लगा; पहले ऐसा नहीं था।

अब हमें यह निश्चय करने की आवश्यकता है कि मिताक्षरा के बनने के पूर्व क्षत्रियों के गोत्रों के विषय में क्या माना जाता था। वि० सं० दूसरी शताब्दी के प्रारंभ में अश्वघोष नामक प्रसिद्ध विद्वान् और कवि हुआ, जो पहले ब्राह्मण था, परंतु पीछे से बौद्ध हो गया था। वह कुशन वंशी राजा कनिष्क का धर्मसंबंधी सलाहकार था, ऐसा माना जाता है। उसके 'बुद्धचरित' और 'सौंदरानंद काव्य' कविता की दृष्टि से बड़े ही उत्कृष्ट समझे जाते हैं। उसकी प्रभावोत्पादक कविता सरलता और सरसता में कवि-शिरोमणि कालिदास की कविता के जैसी ही है; और यदि कालिदास की समता का पद किसी कवि को दिया जाय तो उसके लिये अश्वघोष ही उपयुक्त पात्र हो सकता है। उसको हिन्दुओं के शास्त्रों तथा पुराणों का ज्ञान भी अनुपम था, जैसा कि उसके उक्त काव्यों से पाया जाता है। सौंदरानंद काव्य के प्रथम सर्ग में उसने क्षत्रियों के गोत्रों के संबंध में जो विस्तृत विवेचन किया है, उसका सारांश नीचे लिखा जाता है—

यही मत बौधायन, आपस्तंब और लौगाक्षि का है (पुरोहित प्रवरो राज्ञाम्)—देखो 'गोत्रप्रवर निबंधकदंबम्,' पृ० ६० ।

ओड़छा के राजा वीरसिंह देव (नरसिंह देव) के समय मित्र मिश्र ने 'वीरमित्रोदय' नामक ग्रंथ लिखा था। उसमें भी क्षत्रियों के गोत्र उनके पुरोहितों के गोत्रों के सूचक माने हैं—

तत्र द्विविधाः क्षत्रियाः केचिद्विद्यमान मंत्रदृशः केचिदविद्यमान मंत्रदृशः । तत्र विद्यमान मंत्रदृशः स्वीयानेव प्रवरान्प्रवृणीरन् । येत्वविद्यमान मन्त्रदृशास्ते पुरोहितप्रवरान् प्रवृणीरन् । स्वीय [illegible] तस्य पुरोहितगोत्रप्रवरत्त्व एव मिताक्षराकारमेधातिथिप्रभृतिभिरभिमतः ।

'वीरमित्रोदय,' संस्कार प्रकाश, पृ० ६५६ ।

"गौतम गोत्री कपिल नामक तपस्वी मुनि अपने माहात्म्य के कारण 'दीर्घतपस्' के समान और अपनी बुद्धि के हेतु काव्य (शुक्र) और अंगिरस के समान था। उनका आश्रम हिमालय के पार्श्व में था। कई ईक्ष्वाकु-वंशी राजपुत्र मातृद्वेष के कारण और अपने पिता के सत्य की रक्षा के निमित्त राजलक्ष्मी का परित्याग कर उस आश्रम में जा रहे। कपिल उनके उपाध्याय (गुरु) हुए, जिससे राजकुमार जो पहले कौत्स गोत्री थे, अब अपने गुरु के गोत्र के अनुसार गौतम गोत्री कहलाए। एक पिता के ही पुत्र भिन्न भिन्न गुरुओं के कारण भिन्न भिन्न गोत्र के हो जाते हैं। जैसे कि राम (बलराम) का गोत्र 'गार्ग्य' और वासुभद्र (कृष्ण) का 'गौतम' हुआ। जिस आश्रम में उन राजपुत्रों ने निवास किया, वह 'शाक' नामक वृक्षों से आच्छादित होने के कारण वे इक्ष्वाकुवंशी 'शाक्य' नाम से भी प्रसिद्ध हुए। गौतम ने अपने वंश की प्रथा के अनुसार उन राजपुत्रों के संस्कार किए और एक मुनि और उन क्षत्रिय-पुंगव राजपुत्रों के कारण उस आश्रम ने एक साथ 'ब्रह्मक्षेत्र' की शोभा धारण की *।"

---

* गौतमः कपिलो नाम मुनिर्धर्मभृतां वरः ।
बभूव तपसि श्रान्तः काक्षीवानिव गौतमः ॥ १ ॥
माहात्म्याद् दीर्घतपसो यो द्वितीय इवाभवत् ।
तृतीय इव यश्चाभूत् काव्याङ्गिरसयोर्धिया ॥ ४ ॥
तस्य विस्तीर्णतपसः पार्श्वे हिमवतः शुभे ।
क्षेत्रं चायतनं चैव तपसामाश्रयोऽभवत् ॥ ५ ॥
अथ तेजस्विसदनं तपःक्षेत्रं तमाश्रमम् ।
केचिदिक्ष्वाकवो जग्मू राजपुत्रा विवत्सवः ॥१८॥
मातृशुल्कादुपगतां ते श्रियं न विषेहिरे ।
ररक्षुश्च पितुः सत्यं यस्माच्छिश्रियिरे वनम् ॥२१॥
तेषां मुनिरुपाध्यायो गौतमः कपिलोऽभवत् ।
गुरुगोत्रादतः कौत्सास्ते भवन्ति स्म गौतमाः ॥२२॥
एकपित्रोर्यथा भ्रात्रोः पृथग्गुरुपरिग्रहात् ।
राम एवाभवद् गार्ग्यो वासुभद्रोऽपि गौतमः ॥२३॥

अश्वघोष का यह कथन मिताक्षरा के बनने से १००० वर्ष से भी अधिक पूर्व का है; अतएव श्रीयुत वैद्य के ये कथन कि 'मिताक्षराकार ने गलती की है और मिताक्षरा के पूर्व क्षत्रियों के स्वतः के गोत्र थे' सर्वथा मानने योग्य नहीं हैं; और क्षत्रियों के गोत्रों को देखकर यह मानना कि ये क्षत्रिय उन ऋषियों (ब्राह्मणों) के वंशधर हैं जिनके गोत्र वे धारण करते हैं, सरासर भ्रम ही है। पुराणों से यह तो पाया जाता है कि अनेक क्षत्रिय ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए और उनसे कुछ ब्राह्मणों के गोत्र चले *; परन्तु उनमें यह कहीं लिखा नहीं मिलता कि क्षत्रिय ब्राह्मणों के वंशधर हैं।

शाकवृक्षप्रतिच्छन्नं वासं यस्माच्च चक्रिरे ।
तस्मादिक्ष्वाकुवंश्यास्ते भुवि शाक्या इति स्मृताः ॥२४॥
स तेषां गौतमश्चक्रे स्ववंशसदृशीः क्रियाः ।...॥२५॥
तदनु मुनिना तेन तेषां क्षत्रियपुङ्गवे ।
शान्ता गुप्ता च नगरी महावंशश्रिय दधे ॥२७॥

—सौंदरानंदकाव्य । सर्ग १।

* सूर्यवंशी राजा मांधाता के तीन पुत्र पुरुकुत्स, अंबरीष और मुचकुंद हुए। अंबरीष का पुत्र युवनाश्व और उसका हरित हुआ, जिसके वंशज अंगिरस हारित कहलाए और हारित गोत्री ब्राह्मण हुए।

तस्यामुत्पादयामास मांधाता त्रीन्सुतान्प्रभुः ॥७१॥
पुरुकुत्समम्बरीषं मुचकुंदं च विश्रुतम् ।
अम्बरीषस्य दायादो युवनाश्वोऽपरः स्मृतः ॥७२॥
हरितो युवनाश्वस्य हारिताः शूरयः स्मृताः ।
एते ह्यंगिरसः पुत्राः क्षात्रोपेता द्विजातयः ॥७३॥

—वायुपुराण अध्याय ८८ ।

अम्बरीषस्य मांधातुस्तनयस्य युवनाश्वः पुत्रोऽभूत् । तस्माद्धरितो यतोऽङ्गिरसो हारिताः ॥५॥

—विष्णुपुराण । अंश ४, अध्याय २.

विष्णुपुराण की टीका में —

अम्बरीषस्य युवनाश्वः प्रपितामहसनामा यतो हरितस्माद्धारिता अंगिरसो द्विजा हरितगोत्र प्रवराः । (पृ० ६ । १)।

चन्द्रवंशी राजा गाधि के पुत्र विश्वामित्र ने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया और उनके वंशज ब्राह्मण हुए जो कौशिक गोत्री कहलाते हैं। पुराणों में ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं।

यदि क्षत्रियों के गोत्र उनके पुरोहितों (गुरुओं) के सूचक न होकर उनके मूल पुरुषों के सूचक होते, जैसा कि श्रीयुक्त वैद्य का मानना है, तो ब्राह्मणों के समान उनके गोत्र सदा वे के वे ही बने रहते और कभी न बदलते। परंतु प्राचीन शिलालेखादि से ऐसे प्रमाण मिल जाते हैं जिनसे एक ही कुल या वंश के क्षत्रियों के समय समय पर भिन्न गोत्रों का होना पाया जाता है। ऐसे थोड़े से उदाहरण नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

मेवाड़ (उदयपुर) के गुहिल वंशियों (गुहिलोतों, गोहिलों, सीसोदियों) का गोत्र वैजवाप है। पुष्कर के अष्टोत्तर-शत लिंगवाले मंदिर में एक सती का स्तंभ खड़ा है जिस पर के लेख से पाया जाता है कि वि० सं० १२४३ माघ सुदी ११ को ठ० (ठकुराणी) हीरवदेवी ठा० (ठाकुर) कोल्हण की स्त्री सती हुई। उक्त लेख में ठा० कोल्हण को गुहिलवंशी और गौतम गोत्री * लिखा है। काठियावाड़ के गुहिल भी, जो मारवाड़ के खेड़ इलाके से वहाँ गए हैं और जो मेवाड़ के राजा शालिवाहन के वंशज हैं, अपने को गौतम गोत्री मानते हैं। मध्य प्रदेश के दमोह जिले के मुख्य स्थान दमोह से गुहिल वंशी विजयसिंह का एक शिलालेख मिला है, जो इस समय नागपुर म्यूजिअम में सुरक्षित है। वह लेख छंदो-बद्ध डिंगल भाषा में खुदा है और उसी के अंत का थोड़ा सा अंश संस्कृत में भी है। पत्थर का कुछ टुकड़ा टूट जाने के कारण संवत् जाता रहा है। उसमें गुहिल वंश के चार राजवंशियों के नाम क्रमशः विजयपाल, भुवनपाल, हर्षराज और विजयसिंह दिए हैं, जिनको विश्वामित्र गोत्री † और गुहिलोव ‡ (गुहिल वंशी)

---

* राजपूताना म्यूजिअम् (अजमेर) की ई० सन् १९२०—२१ की रिपोर्ट, पृ० ३, लेखसंख्या ५।

† विसामित्त गोत्त उत्तिम चरित विमळ पवित्तो० (पंक्ति ६ठो; डिंगल भाग में) विस्वा (श्वा) मित्रे सु (शु) भे गोत्रे (पंक्ति २६, संस्कृत अंश में)।

‡ विजयसीहु धुर चरणो चाई सूरोऽसुमभो सेलखनकम कुशलो गुहिलौतो मब्ब गुणे (पं० १३—१५, डिंगल भाग में)।

बतलाया है। ये मेवाड़ से ही उधर गए हुए प्रतीत होते हैं; क्योंकि विजयसिंह के विषय में लिखा है कि वह चित्तौड़ की लड़ाई में लड़ा और उसने दिल्ली की सेना को परास्त किया *। इस प्रकार मेवाड़ के गुहिल वंशियों के तीन भिन्न भिन्न गोत्रों का पता चलता है।

इसी प्रकार चालुक्यों (सोलंकियों) का मूल गोत्र मानव्य था और मद्रास अहाते के विशाखपट्टन (विजगापट्टम्) जिले के जयपुर राज्य (जमींदारी) के अंतर्गत गुणपुर और मोडगुला के ठिकाने अब तक सोलंकियों के ही हैं और उनका गोत्र मानव्य † ही है। परन्तु लूणवाड़ा, पीथापुर और रीवाँ आदि के सोलंकियों (बघेलों) का गोत्र भारद्वाज होना श्रीयुक्त वैद्य महाशय ने बतलाया है (पृ० ६४)।

इस प्रकार एक ही वंश के राजाओं के भिन्न भिन्न गोत्र होने का कारण यही मानना पड़ता है कि राजपूतों के गोत्र उनके पुरोहितों के गोत्रों के ही सूचक हैं; और जब वे अलग अलग जगह जा बसे तब वहाँ जिसको पुरोहित माना, उसी का गोत्र वे धारण करते रहे।

राजपूतों के गोत्र उनके वंशकर्ता के सूचक न होने तथा उनके पुरोहितों के गोत्रों के सूचक होने के कारण पीछे से उनमें गोत्र का महत्त्व कुछ भी रहा हो, ऐसा पाया नहीं जाता। केवल पुराना रीति के अनुसार संकल्प, श्राद्ध आदि में उसका उच्चारण होता रहा है। सोलंकियों का प्राचीन गोत्र मानव्य था और अब तक भी कहीं कहीं वही माना जाता है। गुजरात के मूलराज आदि सोलंकी राजाओं का गोत्र क्या माना जाता था, इसका कोई प्राचीन लिखित प्रमाण नहीं मिलता। तो भी संभव है कि या तो मानव्य या भारद्वाज हो। परन्तु उनके पुरोहितों का गोत्र वसिष्ठ ‡ था, ऐसा गुर्जरेश्वर पुरोहित सोमेश्वर देव के 'सुरथो-

---

* यो चित्रोडदुर्गे म्लेच्छ जित ढिल्लीशं जिग्ये। (पं० २१)।

† 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास'। भाग १, पृ० २०४।

‡ नागरीप्रचारिणी पत्रिका (नवीन संस्करण); भाग ४ पृ० २

त्सव काव्य' से निश्चित है। आज भी राजपूताने आदि के राजपूत राजाओं के गोत्र उनके पुरोहितों के गोत्रों से बहुधा भिन्न ही हैं।

ऐसी दशा में यही कहा जा सकता है कि राजपूतों के गोत्र सर्वथा उनके वंशकर्ताओं के सूचक नहीं, किंतु पुरोहितों के गोत्रों के सूचक होते थे और कभी कभी पुरोहितों के बदलने पर गोत्र भी बदल जाया करते थे। यह रीति उनमें उसी समय तक बनी रही, जब तक कि पुरोहितों के द्वारा उनके वैदिक संस्कार होकर प्राचीन शैली के अनुसार वेदादि पठन-पाठन का क्रम उनमें प्रचलित रहा। पीछे तो वे गोत्र नाम मात्र के रह गए। केवल प्राचीन प्रणाली को लिए हुए संकल्प, श्राद्ध आदि में गोत्रोच्चार करने के अतिरिक्त उनका महत्त्व कुछ भी न रहा और न वह प्रथा रही कि पुरोहित का जो गोत्र हो वही राजा का भी हो।

---

(२२) प्रतिमा-परिचय

[लेखक—पंडित शिवदत्त शर्म्मा, अजमेर]

. (१)

उपक्रम, गणपति, सूर्य, नवग्रह और देवियाँ।

किसी वस्तु की उसी के समान आकृतिवाली बनाई हुई दूसरी वस्तु, चाहे वह उससे छोटी हो अथवा बड़ी, प्रतिमा कहलाती है। विविध रंगों द्वारा हाथों से चित्र बनाना अथवा आलोक-लेख्य यंत्र द्वारा किसी वस्तु का बिम्ब लेना भी एक प्रकार की प्रतिमा ही है। प्रतिमा की सराहनीयता और मुख्यता उसके भाव और आकृति में है। प्रतिमा में और उस वस्तु में जिसकी वह प्रतिमा हो, आकृति का साम्य ऐसा होना चाहिए और ऐसी भाव-व्यंजकता होनी चाहिए कि देखनेवाला देखते ही "हाँ ठीक वही वही" कह उठे। कुशल सिद्धहस्त पुरुषों ने अपने मस्तिष्क से ऐसे ऐसे ढंग निकाले हैं जिनके द्वारा उदासीनता, वीरता, हँसी, रुदन आदि ऐसा कौन सा भाव है, जो नयनों का विषय न बना दिया गया हो। देखिए, कुछ दिनों पहले हमें भारतवर्ष स्कूलों के नक़शों में ही दिखाया जाता था। हमारे देश-भक्त भारत को भारत माता कह कर संबोधन करने लगे और वन्दे मातरम् आदि गीतों द्वारा स्तवन करने लगे। चित्रकारों ने अपनी नूतन निर्माण-निपुण-मेधा से लंका के स्थान में एक कमल स्थापित किया। उस पर एक स्त्री की आकृति बनाई, उसके लम्बे लम्बे काले बाल बना कर हिमालय को .द्योतित किया।

शिर से कश्मीर, विस्तृत वक्ष और भुजाओं से सौराष्ट्र बंगादि देश, पतले चरणादि अधोभाग से मद्रास आदि प्रदेश बतला कर एक चमत्कृत भारत माता हमारी आँखों के सामने खड़ी कर दी। यहीं तक नहीं, उसे अपने इच्छानुसार कभी प्रसन्न कभी खिन्न भी दिखा डाला। यह अभी पाषाण की नहीं बनी है, परंतु पहले भूमि देवी की, जिसका वर्णन आगे किया जायगा, पाषाण की मूर्ति बनाकर मंदिरों में पधराई गई थी। जहाँ तक हम विचार कर सके हैं, हमको ऐसा प्रतीत होता है कि इसी चेष्टा और मनोयोग ने इस अखिल संसार के स्वामी को विविध रूप से प्रतिमा स्वरूप में प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया। भगवान् को अलंकार-युक्त भाषा में वर्णन करना उसकी प्रतिमा निर्माण करने का पूर्वरूप है।

ऐसा नियम है कि संसार में जब कोई नई बात उत्पन्न होती है, तब पहले उसके निर्धारित नियम नहीं होते। वे पीछे से बन जाते हैं और बनकर फिर उस बात को परिवर्धित करते हैं। उदाहरणार्थ नाचने को ले लीजिए। जो प्रारम्भिक गात्र-विक्षेप था, वह पश्चात्कालीन नियमों के प्रभाव से कला अथवा विद्या के स्वरूप में परिणत हो गया। ऐसी ही स्थिति प्रतिमाओं के विषय में भी हुई। प्रतिमाएँ कैसे बनानी चाहिएँ, इस विषय में अनेक स्वतंत्र ग्रंथ लिखे गए और अनेक ग्रंथों में प्रसंगवश इस विषय के वर्णन सन्निविष्ट किए गए। खेद का विषय है कि अभी तक कई एक ऐसे ग्रंथ जिनका पता लग चुका है, छपे नहीं है, और जो नष्ट हो गए, उनकी तो बात ही क्या। विष्णुधर्मोत्तर, शिल्परत्न, रूपमण्डन, विश्वकर्म शास्त्र, पूर्व कारणागम, उत्तर कामिकागम, अंशुमद्भेदागम, सुप्रभेदागम आदि ऐसे ग्रंथ हैं जिनमें देव-प्रतिमाओं के निर्माण करने के नियमों का सविस्तर वर्णन मिलता है। मत्स्य, भविष्य, अग्नि आदि पुराणों में भी इस विषय का कुछ कुछ वर्णन पाया जाता है।

अभी तक जो प्राचीन से प्राचीन मूर्तियाँ* मिली हैं, वे ईसा से दो शताब्दी पूर्व की हैं। इनमें एक तो दक्षिण भारत के गुडिमल्लम् नगर का शिवलिंग है और दूसरा बेसनगर का गरुड़-स्तम्भ। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि प्रतिमा-निर्माण-विधायक ग्रंथों की रचना आज से बाईस सौ वर्ष के पूर्व अवश्य अच्छे प्रकार से हो चुकी होगी और उस समय शैव, वैष्णवादि पंथों की उपचित अवस्था थी। हिंदू लोग आज कल देवी और देवताओं की मूर्तियाँ, शालग्राम, बाणलिंग, यंत्र, गौ और गरुड़ादि पशु-पक्षी, गंगा-यमुना आदि नदियाँ, पुष्करादि जलाशय, तुलसी, पीपल, वट आदि वृक्ष और भारद्वाजादि सन्तों की समाधियों को पूजते हैं और पूजा के प्रसंग में कलश, शंख आदि भी पूज लेते हैं। मूर्तियाँ मन्दिरों में तो प्रसिद्ध रूप से पूजी ही जाती हैं, परंतु बहुत से अपने घरों में ही विराजमान कर उन्हें पूजते हैं और अपने अलग ही इष्ट देवता और कुल देवता बनाए रखते हैं।

शालग्राम अघटित प्रतिमा है। गंगा की जो प्रसिद्ध शाखा गंडकी है, उसमें ये बहुतायत से होते हैं। इन गोल वटिकाओं में ऐसी रेखाएँ भी होती हैं जो चक्राकार दिखाई देती हैं, जिनके कारण लोग उसमें विष्णु के चक्र की भावना करते हैं। शालग्राम कई रंगों के होते हैं और रंगों के अनुसार उनके नृसिंह, वामन, वासुदेव, दामोदरादि नाम रखे जाते हैं और उनके पूजन का भिन्न भिन्न फल वर्णन किया जाता है। उदाहरणार्थ यदि वटिका लाल हो तो वह भोगप्रद है; नीली हो तो सुख और संपद्प्रद है। जिस शालग्राम में ३ चक्र हों, उसे लक्ष्मी नारायण कहते हैं। यदि कोई ऐसी वटिका हो जिसमें एक ही पंक्ति में अनेक

---

* आज कल प्रतिमा और मूर्ति पर्यायवाची हो गए हैं। वस्तुतः प्रतिमान, प्रतिबिंब, प्रतियातना, प्रतिच्छाया, प्रतिकृति, अर्चा, प्रतिनिधि और प्रतिमा पर्यायवाची शब्द हैं। "मूर्ति" शरीर के अर्थ का वाचक है "नहि मे वध्यमानस्य चर्यमास्यन्ति मूर्तयः" (वाल्मीकीय रामायण बालकांड) यहाँ मूर्ति से अंग अर्थ लिया गया है।

चक्र हों, तो वह अशुभ और अमंगलकारी है। शालग्राम की पूजा वैष्णव और वैदिक शैव करते हैं; आगमिक शैव और वीर शैव नहीं करते। शालग्राम और बाणलिंग को "अव्यक्त" प्रतिमा कहते हैं।

बाणलिंग प्रायः पहलूदार अंडाकार पत्थर के होते हैं। त्रिलोचन शिवाचार्य ने अपनी सिद्धान्त-सारावली में लिखा है कि ईश्वर (शिव) बाणलिंग से प्रसन्न होते हैं। ये अंगुल के आठवें भाग से लेकर एक हाथ तक के हो सकते हैं। इनका रंग पके हुए जामुन (जम्बु) का सा, शहद का सा, मूँगिया सा, कसौटी जैसा, नीला, गहरा लाल अथवा हरा होता है। पीठ उसी रंग की होनी चाहिए जिस रंग का बाणलिंग हो। इनकी आकृति गौ के स्तन जैसी अथवा अंडे जैसी होनी चाहिए और ये अतिशय कांतिमान् होने चाहिएँ। ये बाणलिंग नेपाल के महेन्द्र पर्वत के अमरेश्वर स्थान में और कन्या-तीर्थ तथा उसके समीपवर्ती आश्रम में पाए जाते हैं। ऐसी प्रसिद्धि है कि उपर्युक्त प्रत्येक स्थान में एक एक करोड़ बाणलिंग हैं और श्रीशैल, लिंगशैल और कलिगर्त में तीन तीन करोड़।

प्रतिमाएँ तीन प्रकार की होती हैं। चल, अचल और चलाचल। चल प्रतिमाएँ धातुओं की बनाई जाती हैं और वे ऐसी होती हैं कि एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से रखी जा सकें। अचल प्रतिमाओं को मूल विग्रह अथवा ध्रुवबेर* भी कहते हैं और इनके स्था-

---

* बेर और विग्रह "शरीर" के अर्थ में है।

ध्रुवं तु ग्रामरक्षार्थमर्चनार्थं तु कौतुकम्।
स्नानार्थं स्नपनं प्रोक्तं दत्यर्थं बलिबेरकम्।
उत्सवं चोत्सवार्थं च पञ्चबेराः प्रकल्पिताः।

यह श्लोक ऋग्प्रोक्त वैखानसागम का है। ध्रुवबेर अर्थात् अचल प्रतिमाएँ, जिनकी संज्ञा ध्रुवबेर है, ग्राम की रक्षा के लिये, कौतुकबेर अर्चन के लिये, स्नपन प्रतिमाएँ स्नान के लिये, बलिबेरक बलि प्रदान के लिये और उत्सवबेर उत्सव में (बाहर निकालने के लिये) होती है।

नक (खड़ी हुई), आसन (बैठी हुई) और शयनरूप * ये तीन भेद होते हैं। वैष्णव प्रतिमाओं में इन तीन भेदों के पुनरपि चार भेद होते हैं, जिनकी योग, भोग, वीर और अभिचारक † संज्ञाए हैं। प्रतिमाओं के तीन भेद और भी हैं; अर्थात् चित्र, चित्रार्द्ध और चित्राभास। जिसमें सब अवयव दिखाए गए हों, ऐसी प्रतिमा "चित्र" कहलाती है। जिसमें अर्धाङ्ग चित्रित हो, वह चित्रार्द्ध; और जो वस्त्रों और भीतों पर लिखी जाती हैं, उन्हें चित्राभास कहते हैं। स्वभाव भेद से प्रतिमाओं के शान्त अथवा सौम्य और रुद्र अथवा उग्र भेदों की भी कल्पना की गई है।

प्रतिमा को जब मंदिर में पधराते हैं, तब "प्राणप्रतिष्ठा" करते हैं। यदि प्रतिमा पधरने के पश्चात् खंडित हो जाय, तो उस खंडित प्रतिमा को किसी जलाशय अथवा नदी में डाल देते हैं। मंदिरों के ऊपर साधुओं की मूर्तियाँ, गोपुर और शिखर बनाते हैं; एवं कलश और पताकाएँ लगाते हैं। मंदिरों में सभा-मंडप होते हैं और परिक्रमा के पिछले ताक में उसी देवता की प्रतिमा होती है, जिसका वह मंदिर हो। मंदिरों में शिलालेखों में और प्रतिमाओं के आसनों पर मंदिर बनानेवाले अथवा महन्त पुजारी आदि का नाम लिखने की प्राचीन शैली है। ऐसे लेख इतिहास के सहायक हुए हैं।

शंकर का मंदिर ‡ ग्राम की उत्तर-पूर्व दिशा के मध्य में, विष्णु का

---

* शयन करती हुई प्रतिमा देवताओं में केवल विष्णु की और देवियों में योगनिद्रा की है।

† अभिचारक प्रतिमा की पूजा शत्रु का पराजय अथवा मरण करने के लिये की जाती है। ऐसी मूर्ति का मन्दिर वन, गिरि, जल, दुर्ग ऐसे स्थानों में बनाया जाता है, न कि नगर के भीतर।

‡ "मंदिर" शब्द देवालय के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है, परंतु वह संस्कृत भाषा में "भवन" के अर्थ में सामान्य रूप से आता है। प्राचीन काल में देवालयों के अतिरिक्त प्रतिमागृह तथा देवकुल भी थे।

पश्चिम में, सूर्य का पूर्व में पश्चिमाभिमुख, दुर्गा का दक्षिण में और सुब्रह्मण्य (षडानन) का उत्तर पश्चिम में होना चाहिए। विनायक के साथ सप्तमातृकाओं का मन्दिर दुर्ग के परिकोटे के निकट उत्तर दिशा में बनाना चाहिए। ज्येष्ठा देवी को जलाशय की पाल पर पधराना चाहिए। मन्दिरों के विमान (वह भाग जहाँ मूर्ति रहती है) सम, चौरस, वृत्त (गोल), आयतस्र अथवा वृत्तायुत होते हैं। इनमें पिछले दो प्रकार के विमान विष्णु की शयन-प्रतिमा में लगाए जाते हैं। शेषशायी विष्णु के मंदिर का मुख किसी भी दिशा में बनाया जा सकता है। परंतु यदि उत्तराभिमुख हो तो प्रतिमा का शिर पूर्व को, यदि दक्षिणाभिमुख हो तो प्रतिमा का शिर पश्चिम को, यदि पूर्व अथवा पश्चिमाभिमुख हो तो प्रतिमा का शिर दक्षिण को होना चाहिए।

प्रतिमाएँ काष्ठ, पाषाण, रत्न, धातु, हाथीदाँत, कड्डी (एक प्रकार की चिकनी मिट्टी) और मृत्तिका की बनाई जाती हैं। नवग्रहों की मूर्तियाँ धान से और गोवर्धन की गाय के गोबर से भी बनाते हैं। रत्न में स्फटिक, पद्मराग, वज्र (हीरे), वैदूर्य, विद्रुम (मूँगे), पुष्प

भास के प्रतिमा नाटक के तृतीय अंक में एक प्रतिमागृह का वर्णन है, जिसमें यह बताया गया है कि (देवकुलिक दैवतशङ्कया, ब्राह्मण बनस्य प्रणामं परिहरामि। क्षत्रिया अत्र भवन्तः) भरत को यह कहता हुआ मना करता है कि ये मूर्तियाँ क्षत्रियों की हैं। आप कदाचित् ब्राह्मण हों तो इन्हें नमस्कार मत कर बैठें। भरत का वचन कि—

> कामं दैवतमित्येव युक्तं नमयितुं शिरः।
> ब्राह्मणस्तु प्रणामः स्यादुमन्त्र चितदैवतः॥

भी इस बात का प्रमाण है कि भास के समय में मूर्तिपूजा विद्यमान थी। परंतु उस समय ब्राह्मण क्षत्रियों (जैसे राम, कृष्णादि) की पूजा नहीं करते थे (शिव, विष्णवादि) देवताओं को मन्त्रों द्वारा अवश्य करते थे। भास और कौटिल्य के पूर्व भी पटने के निकट शिशुनाग वंशी राजाओं का देवकुल था, जहाँ से महाराज उदयन और नंदिवर्धन की मूर्तियाँ मिली हैं।

(पुखराज) और रत्न (लाल) को समझना चाहिए। आजकल जो प्रतिमाएँ दिखाई देती हैं, वे काले अथवा सफेद पत्थर की होती हैं; और इसका मुख्य कारण यही ज्ञात होता है कि ऐसी प्रतिमाएँ स्नान कराने से बिगड़ती नहीं। परन्तु प्राचीन काल में भिन्न भिन्न रंगों की मूर्तियाँ होती थीं। एलोरा और अजंटा की गुफाओं में प्रमाण स्वरूप ऐसी रंगीन मूर्तियाँ अभी तक विद्यमान हैं। प्रतिमा पट्ट पर प्रकृति के स्वरूपों को विशेष संकेतों से प्रदर्शित करते हैं। उदाहरणार्थ वायु को बादलों की राशि की पंक्तियों के समान; जल को लहराती हुई पंक्तियों से और बीच बीच में खिले अधखिले कमल कमल-पत्र तथा मीन, मकर, नक्र दिखाने से; अग्नि को कुछ लहराती हुई शिखाओं से। परन्तु ऐसी अग्नि बहुधा शिव की प्रतिमाओं के हाथों में ही दिखाई जाती है और वह आयुध के स्वरूप की सूचक है। सामान्य स्वरूप में हवि ग्रहण करती हुई अग्नि हवन कुंड की अग्नि के समान प्रदर्शित की जाती है। पर्वतों को एक के ऊपर एक शिलोच्चय का आस्तरण दिखा कर और स्वर्गीय प्राणियों को उड़ते हुए प्रदर्शित करते हैं।

प्रतिमाओं में जो आयुध दिखाए जाते हैं, उनमें मुख्य निम्न-लिखित हैं—

चक्र और गदा—विष्णु की प्रतिमा में।

धनुष, बाण, खड्ग और खेटक—विष्णु की त्रिविक्रमावतार की प्रतिमा में।

परशु, खट्वांग, शूल और अग्नि—शिव की प्रतिमा में।

अंकुश और पाश—गणेश, सरस्वती आदि देवियों की प्रतिमाओं में।

शक्ति, वज्र और टंक—सुब्रह्मण्य की प्रतिमा में।

मूसल और हल—बलराम और वाराह की प्रतिमा में।

ऊपर जो वर्णन दिया है, वह साधारण स्वरूप से है। प्रतिमाओं में इससे हेर फेर मिलना कोई आश्चर्य की बात नहीं। विष्णु के एक हाथ में शंख

प्रायः अनिवार्य रूप से मिलता है। इस शंख का नाम पाञ्चजन्य है। इस पर कभी कभी सिंह का मुख भी लगाया हुआ होता है और कभी कभी इस पर मोतियों की लड़ियाँ और झालरें भी लटकाई हुई होती हैं। विष्णु की और दुर्गा की, जो विष्णु की बहन अथवा विष्णु का ही स्त्री स्वरूप है, प्रतिमाओं में चक्र दिखाया जाता है। इसको दो तरह से दिखाते हैं। एक तो गाड़ी के पहिये की सी तरह; दूसरे कमल की पंखड़ियों के समान खूब सजा कर। खेटक ढाल को कहते हैं। खट्वांग एक विचित्र डंडा सा होता है जो भुजा की अथवा टाँग की हड्डी का बना हुआ होता है और इसके सिरे पर मनुष्य की खोपड़ी जुड़ी हुई होती है। खट्वांग और शूल अथवा त्रिशूल शंकर के प्रिय आयुध हैं। टंक छेनी को कहते हैं। पाश (फाँस या फंदा) शत्रु के हाथ पाँव बाँधने की रस्सी है। वज्र विद्युत् का स्वरूप है। यह दो सम भागों का होता है जो ऊपर और नीचे जुड़े हुए होते हैं। प्रत्येक भाग में पक्षियों के नखों के समान तीन नख होते हैं। शक्ति छड़ी जैसी होती है। शेष आयुधों की आकृति लोकप्रसिद्ध है।

प्रतिमाओं में आयुधों के अतिरिक्त बाजे भी दिखाए जाते हैं। विष्णु और कृष्ण की प्रतिमाओं में शंख और मुरली, सरस्वती की प्रतिमा में वीणा, शिव की प्रतिमा में डमरू और कभी कभी घंट भी प्रदर्शित किया जाता है। इसके अतिरिक्त शिव के हाथ में मृग अथवा मेंढ़ा, स्कंदय के हाथ में कुक्कुट, दुर्गा के हाथ में शुक दिखलाते हैं। प्रतिमाओं में कमंडलु, दर्पण, पुस्तक, स्रुक, स्रुव, कपाल, पद्म, नीलोत्पल और अक्षमाला भी बनाई हुई होती है। सरस्वती और ब्रह्मा के हाथ में पुस्तक होती है और कभी कभी ब्रह्मा के हाथ में पुस्तक के स्थान में आज्यपात्र। स्रुक और स्रुव यज्ञ के लम्बे चमचे होते हैं। स्रुक में आगे कटोरे का सा भाग होता है और वह अन्नपूर्णा की प्रतिमा में प्रायः प्रदर्शित किया जाता है। पद्म और नीलोत्पल विशेषतः लक्ष्मी और भूमि देवियों के हाथों में होते हैं। रुद्राक्ष

अथवा कमलाक्ष की माला ब्रह्मा, सरस्वती और शिव के ही हाथों में होती है।

अब प्रतिमाओं में हाथों के दिखाने का प्रकार, मुद्रा और आसनों का संक्षिप्त वर्णन करते हैं। "वरद हस्त" वरदान देते हुए का स्वरूप है। इस अवस्था में बाएँ हाथ की हथेली और नीचे की ओर झुकी हुई उँगलियाँ पूरी खुली हुई, खाली अथवा धीरे से गुलिका को लिए हुए दिखाई जाती हैं। "अभय हस्त" में हथेली और ऊँचे की ओर जाती हुई उँगलियाँ ऐसी बनाई जाती हैं, मानों कोई क्षेम कुशल पूछ रहा है। "कटक हस्त" में उँगलियों के पोर अँगूठे से मिले हुए एक छल्ला बनाते हुए से होते हैं। इसे "सिंहकर्ण" भी कहते हैं। ऐसी आकृति शेषशायी विष्णु के एक हाथ की और देवियों के हाथों की पुष्प पधराने के लिये बना देते हैं। "सूची हस्त" में तर्जनी ऊपर की ओर खुली हुई और शेष उँगलियाँ और अँगूठा बंद किया हुआ दिखाया जाता है। "कट्यवलम्बित हस्त" लटका हुआ और सिंह पर आश्रित होता है। "दंड हस्त" और "गज हस्त" डंडे की तरह अथवा हाथी के सूँड़ की तरह पुरोगामी दिखाया जाता है। "अंजली हस्त" में भुजाएँ छाती से स्पर्श करती हुई और दोनों हाथों की हथेलियाँ मिली हुई होती हैं। "विस्मय हस्त" आश्चर्यसूचक है। इस अवस्था में हाथ ऊँचा और हथेली प्रतिमा की ओर, न कि दर्शक की ओर, दिखाई जाती है।

"चित् मुद्रा" में उँगलियों के पोर अँगूठे से मिले हुए और हथेली दर्शक की ओर दिखाई जाती है। इसे "व्याख्यान मुद्रा" और "संदर्शन मुद्रा" भी कहते हैं। "ज्ञान मुद्रा" में अँगूठा और उसके पास की उँगली का पोर मिला हुआ होता है और हथेली को हृदय की ओर प्रदर्शित करते हैं। "योग मुद्रा" में बाएँ हाथ की हथेली बाएँ हाथ की हथेली में रखी हुई नाभि के नीचे सिमटे हुए पाँवों पर दिखाई जाती है।

आसनों का वर्णन योग सम्बन्धी ग्रंथों में विस्तारपूर्वक मिलता है। ८४ आसनों में से कूर्मासन, पद्मासन, भद्रासन, स्वकुटिकासन और मकरासन अधिक प्रसिद्ध हैं। प्रतिमाओं में कभी कभी बैठक में कूर्म, मकर अथवा पद्म के स्वरूपों को प्रदर्शित करने के लिये कूर्मासन, मकरासन और पद्मासन बना दिया करते हैं। परंतु ऐसा करना एक प्रकार की भूल सी है। क्योंकि आसनों में पाँवों और हाथों को विशेष रूप से दिखाया जाता है और अंगों की विशेष आकृतियाँ ही आसनों के लक्षण हैं। उस के ऊपर दोनों पादवज्रों को एक के ऊपर एक किए हुए बैठना पद्मासन है। आलती पालती मार कर एड़ियों से गुदा को दबाकर बैठना कूर्मासन है। ऐसे ही अन्य आसन हैं जिनका लेख के विस्तार के भय से वर्णन नहीं किया जाता। अलीठासन मृगया करते समय का एक विशेष आसन है। इसमें दाहिना घुटना आगे बढ़ता हुआ और बायाँ पीछे को फैला हुआ दिखाया जाता है। शिव की त्रिपुरान्तक प्रतिमा में यह आसन दिखाया जाता है। आसन शब्द "पीठ" के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। अनन्तासन तिखूँटी बैठक, सिंहासन समकोण, विमलासन छखूँटी, योगासन अठपहलू और पद्मासन की गोल बैठक होती है। अनन्तासन विनोद, वस्त्रवादि देखने के समय, सिंहासन स्नान के समय, योगासन आवाहन, पद्मासन अर्चन और विमलासन भोग भेंट करने के समय काम में लाने चाहिएँ, ऐसा सुप्रभेदागम में वर्णन किया हुआ है। प्रतिमाओं का शृंगार विविध प्रकार से किया जाता है। उनको सादे तथा रंगीन सूती और रेशमी वस्त्र पहनाते हैं। मृगचर्म और बाघम्बर भी धारण कराते हैं। परंतु बाघम्बर धारण कराने के पूर्व प्रतिमा को सूती या रेशमी वस्त्र पहना दिया जाता है। मृगचर्म ओढ़ाने की एक शैली उपवीत शैली कहलाती है। इस शैली से जनेऊ के समान चर्म बाएँ कंधे पर से होता हुआ दाहिने हाथ के नीचे से निकल कर बाएँ कंधे के ऊपर आता है और मृग का

सिर सामने धोती के आगे लटका रहता है। देवी और देवताओं की प्रतिमाओं में यज्ञोपवीत भी बनाया जाता है। कुछ प्राचीन मूर्तियाँ ऐसी भी मिलती हैं जिनमें यज्ञोपवीत नहीं प्रदर्शित किया हुआ है। इससे कुछ विद्वान् यह अनुमान करते हैं कि मूर्तियों में यज्ञोपवीत लगाने की शैली गुप्तों के समय से चली है। प्रतिमाओं के गले में हार, भुजा में केयूर, हाथ की कलाई में कंकण, वक्षस्थल और उदर की संधि में उदरबन्ध, उसके नीचे कटिबन्ध और देवियों की प्रतिमाओं में कुचबन्ध पहनाते हैं। शंकर का एक विशेष आभरण है जिसे "भुजंग वलय" कहते हैं। कानों का आभरण कुंडल कहलाता है; परंतु उसके कई भेद हैं। यथा—पत्रकुंडल, नक्रकुंडल, अथवा मकरकुंडल, शंखपत्रकुंडल, रत्नकुंडल, सर्पकुंडल। पहले शंख से कानों के आभरण बनाए जाते थे जो शंखपत्र कहलाते थे। शेष नक्रादिकुंडल उन प्राणियों की आकृति को लिए हुए होने से प्रसिद्ध हुए। रत्नकुंडल गोल बहुमूल्य रत्नों से युक्त होता था। श्रीवत्स और वैजयन्ती विष्णु के विशेष आभरण हैं। श्रीवत्स विष्णु की छाती की दाहिनी ओर त्रिकोण से अथवा चार दल के पुष्प से प्रदर्शित करते हैं। वैजयन्ती एक माला है जिसमें हीरे, मोती, मरकत, पद्मराग और नीलमणि लगते हैं। ये पाँचों रत्न पृथ्वी आदि पंच तत्वों के द्योतक हैं।

सिर के प्रसाधन को मौलि कहते हैं। इसके जटा मुकुट, किरीट मुकुट, करंड मुकुट, शिरस्त्रक, कुंतल, केशबन्ध, धम्मिल, अलक चूडक आदि नाना भेद हैं। जटा मुकुट ब्रह्मा और रुद्र के तथा मनोन्मनी देवी के लिये निर्देश किया गया है। किरीट मुकुट केवल विष्णु-नारायण ही धारण करते हैं। लौकिक मनुष्य, सार्वभौम चक्रवर्ती और अधिराज * किरीट धारण कर सकते हैं। और

* चतुस्समुद्रपर्यन्त पृथिवी यः प्रशासयेत्।
चक्रवर्ती समाख्यातस्तस्यार्हं प्रशासयेत्॥

सब देवी देवता करंड मुकुट धारण करते हैं। (करंडो वंशादिकृत भांडभेद:) करंड एक प्रकार की बाँस की टोकरी सी होती है। यह न तो अधिक लम्बी चौड़ी होती है, न अधिक ऊँची। यह वेष वस्तुतः अधीनता का सूचक है और इसे "अधिराज" भी धारण करते हैं। केश-बँधाई सिर के बालों को सुसज्जित करने के प्रकार हैं। केशबंध सरस्वती के और अधिराजों की रानियों के, कुंतल लक्ष्मी के और नरेन्द्र तथा अधिराज की रानियों के भी होते हैं। शिरस्त्रक राजाओं के पार्ष्णिकों अर्थात सेनापति (Generals) के होता है और वह आधुनिक पगड़ी से बहुत मिलता जुलता है। मांडलिकों की स्त्रियाँ अपने बाल एक गाँठ के स्वरूप में जिसे "धमिल्ल" कहते हैं, रखती हैं। वे स्त्रियाँ जो राजा के आगे दीपिकाएँ (मशाल) लिए लिए चलती हैं तथा राजा के गात्र-रक्षकों (वे पुरुष जो तलवार, ढाल बाँधे चलते हैं) की स्त्रियाँ "अलक चूडक" शैली से बालों को बाँधे रखती हैं। बालों के बाँधने के उपकरण पुष्पपट्ट, पत्रपट्ट तथा रत्नपट्ट कहलाते हैं।

छन्नवीर एक चपटा आभरण होता है जो मुकुट पर बाँधा जाता है अथवा गले में बँधा हुआ छाती पर लटकता रहता है।

प्रतिमाओं में एक और बात दिखाई जाती है जिसे शिरश्चक्र अथवा प्रभामंडल कहते हैं। यह कमलाकार अथवा चक्राकार होता है। इसका व्यास ११ अंगुल होना चाहिए और सिर से इसकी दूरी व्यास की तिहाई लम्बाई की होनी चाहिए। इसे एक शलाका से, जिसकी मोटाई व्यास के सातवें भाग की होती है, प्रतिमा के सिर के पीछे से लगा देते हैं और वह पुष्पों से छिपा रहता है। प्रभामंडल

अधिराजस्समाख्यातस्त्रिराज्यं यस्तु पालयेत्।
नरेन्द्रस्तु विज्ञेयस्त्वन्योऽपि बहवः मताः॥

आशय—जिसका राज्य चारों समुद्रों तक हो, वह "चक्रवर्ती" कहलाता है, और जिसका राज्य सात राज्यों (प्रदेशों) पर हो, उसे "अधिराज" कहते हैं; और जिसका राज्य तीन राज्यों (प्रदेशों) पर हो, उसे "नरेन्द्र" कहते हैं।

से यत्किंचित् साम्य रखनेवाली दूसरी वस्तु प्रभावली है। यह छत्र प्रकाश की किरणों की द्योतक है जो देवता के शरीर के चारों ओर निकली रहती हैं। इसे नाना रत्न जटित आभरण द्वारा प्रदर्शित करते हैं; और कभी कभी उसमें देवताओं के मुख्य चिह्न (जैसे विष्णु के शंख, चक्र) भी दिखा देते हैं। कहीं कहीं विष्णु की प्रतिमाओं में प्रभावली में विष्णु के दस अवतार भी दिखाए हुए मिलते हैं।

अब प्रतिमाओं में परस्पर भागों के परिमाणों का संक्षिप्त वर्णन लिखते हैं। प्राचीन मान-विभाग इस प्रकार है—आठ परमाणुओं का एक रथरेणु; आठ रथरेणुओं का एक रोमाग्र; आठ रोमाग्रों की एक लिक्षा (अथवा लिख्या); आठ लिक्षाओं का एक यूक; आठ यूकों का एक यव; आठ यवों का एक उत्तम मानांगुल; सात यवों का एक मध्यम मानांगुल और छः यवों का एक अधम मानांगुल होता है। चौबीस अंगुल या मानांगुलों का एक किष्कु, पचीस मानांगुलों का एक प्राजापत्य, छब्बीस मानांगुलों का एक धनुर्ग्रह, सत्ताइस मानांगुलों की एक धनुर्मुष्टी और चार धनुर्मुष्टियों का एक दंड होता है। दंड की पट्टी अधिक लम्बाई चौड़ाई के नापने में काम आती है। पुरुष के दक्षिण हस्त की मध्यम उँगली के मध्यम पर्व के विस्तार को मात्रांगुल कहते हैं। यह मात्रांगुल प्रायः उस पुरुष की उँगली का होता है जो मंदिर बनवाता है अथवा बनाता है। अंगुल का एक दूसरा परिमाण भी है और यह यह कि प्रतिमा के शरीर की सारी लम्बाई के १२४, १२० अथवा ११६ सम भाग कर लेते हैं और इस प्रकार प्राप्त हुए प्रत्येक भाग को देहलब्ध अंगुल अथवा देहांगुल कहते हैं। शरीर की लम्बाई को "मान," चौड़ाई को "प्रमाण," मोटाई को "उन्मान," कक्षा की लम्बाई को "परिमाण," बीच की लम्बाई (जैसे दोनों पाँवों के बीच की खाली जगह) को "उपमान" और सूत्र लटकाकर प्राप्त हुई लम्बाई को "लम्बमान" कहते हैं। आयाम, आयत, दीर्घ और "मान"

एकार्थवाची हैं। इसी प्रकार विस्तार, तार, व्यास, विशाल, विष्कंभ और "प्रमाण" भी हैं। ऐसे ही बहल, नीप्र, घन, तुंग, उन्नत, उदय, उत्सेध, उच्च, निष्क्रय, निष्कृति, निर्गम, निर्गति और "उन्मान" भी हैं। मार्ग, प्रवेशन, नत, परिणाह, नाह, वृति, आवृत और "परिमाण" भी एकार्थवाची हैं। ऐसे ही निवृत, विवर, अन्तर और "उपमान" भी हैं। इसी तरह सूत्र, लंबन, उरिमत, और "लंबमान" भी हैं। देहांगुल के अतिरिक्त नापने में निम्नलिखित पट्टी भी काम में आती है—

अंगुष्ठप्रदेशिनीभ्यां मितं प्रादेशं। अंगुष्ठमध्यमाभ्यां मितं।
तालमंगुष्ठानामिकाभ्यां मितं वितस्तिरंगुष्ठकनिष्ठिकाभ्यां मितं गोकर्णम्॥

अँगूठे और अँगूठे के पास की उँगली को फैलाने से जो लंबाई होती है, उसे "प्रादेश" कहते हैं। ऐसे ही अँगूठे और बीच की उँगली की लम्बाई "ताल," अँगूठे और अनामिका की लम्बाई "वितस्ति" तथा अँगूठे और सब से छोटी उँगली की लम्बाई "गोकर्ण" कहलाती है।

अब देवताओं की प्रतिमाओं का ताल-विधान लिखते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश की प्रतिमाएँ उत्तम दश ताल (१२४ देहांगुल) की बनाई जाती हैं। श्रीदेवी, भूमिदेवी, उमा, सरस्वती, दुर्गा, सप्तमातृका उषा और ज्येष्ठा की मध्यम दशताल (१२० देहांगुल) की, इन्द्र, लोकपाल, चन्द्र, सूर्य, द्वादश आदित्य, एकादश रुद्र, अष्ट वसु, अश्विनी देव, भृगु, मार्कण्डेय, गरुड़, शेष, दुर्गा, गुह, सप्तर्षि, गुरु, आर्या, चंडेश और क्षेत्रपालकों की अधम दश ताल (११६ देहांगुल) की, कुबेर और नवग्रहादि की नवार्ध ताल की, दैत्येश, यक्षेश (कुबेर) उरगेश, सिद्ध, गंधर्व, चारण, विद्येश और शिव की अष्टमूर्ति की उत्तम नव ताल की प्रतिमाएँ बनाई जाती हैं। ऐसे पुरुषों की जो देवताओं के समान हैं, प्रतिमाएँ त्र्यंगुल नवताल की बनाई जाती हैं। राक्षसों, असुरों, यक्षों, अप्सराओं, मरुद्गणों और अष्टमूर्ति की नाप नवताल की,

मनुष्यों की अष्टताल की, वेतालों और प्रेतों की सप्तताल की, प्रेतों की षटताल की भी, कुब्जा और विघ्नेश्वर की पंचताल की, वामन अर्थात् छोटे पुरुष और बालकों की चार ताल की, भूत और किन्नरों की तीन ताल की, कूष्मांडों (गणदेवता का भेद) की दो ताल की, और कबन्धों (राहु आदि) की एक ताल की होती है।

प्रतिमाओं की उत्तम दश ताल विधि बड़ी विस्तृत और गहन है और बिना कई एक चित्र दिए उसका ठीक ठीक बोध कराना कठिन है; अतएव यदि संभव हुआ तो हम कभी उस विषय पर एक अलग लेख ही प्रकाशित करेंगे। संप्रति पाठकों को मुख्य मुख्य देवताओं की प्रतिमाओं का परिचय कराने का यत्न किया जाता है।

गणपति

गणपति को विनायक, विघ्नराज, द्वैमातुर, गणाधिप, एकदंत, शूर्पकर्ण, गुहाग्रज, हेरंब, लंबोदर तथा गजानन कहते हैं। लिंग पुराण में ऐसा वर्णन है कि असुर और राक्षस यज्ञादि क्रिया किया करते थे और उन्होंने महेश्वर से अनेक वरदान प्राप्त किए। परंतु वरदानों को प्राप्त कर वे उद्धत हो देवताओं से युद्ध करने लगे, जिससे इन्द्रादि दुःखी हो महादेव के पास पहुँचे और उनसे एक ऐसे देव की, जो "विघ्नेश्वर" हो अर्थात् अपने विघ्न मिटा सके और दैत्यों में विघ्न उत्पन्न कर सके, उत्पत्ति करने की प्रार्थना की। तदनन्तर शिव ने प्रसन्न हो अपना अंश पार्वती द्वारा "विघ्नराज" गणेशजी के स्वरूप में प्रकट किया। शिवपुराण में लिखा है कि श्वेत कल्प में जया और विजया के कहने से पार्वती ने गणेशजी को उत्पन्न किया और उन्हें द्वारपाल बना दिया। एक बार गणेशजी ने महादेवजी को अंतःपुर में प्रवेश करने से रोका और उनका खूब सामना किया। परिणाम यह हुआ कि महादेव जी ने उनका शिर काट डाला और अंत में गज का शिर लगा उन्हें

जीवित किया; इसलिये वे "गजानन" कहलाए। शिव ने उनकी वीरता से प्रसन्न हो उन्हें अपने गणों का पति बनाया जिससे उनका नाम "गणपति" प्रसिद्ध हुआ। भिन्न भिन्न पुराणों में भिन्न भिन्न वरदान मिलने से कोई विश्वसनीय उत्पत्ति नहीं लिखी जा सकती। ऐतरेय ब्राह्मण (१–२१) से पता लगता है कि गणपति, ब्रह्मा, ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति एक ही के पर्याय हैं। गणपति विद्या के देवता हैं। जब व्यासजी ने महाभारत ग्रंथ की रचना की थी, तब लेखक गणेशजी ही बने थे, यह लोक-प्रसिद्ध किंवदन्ती है। गणपति सिद्धि और बुद्धि के पति तथा क्षेम और लाभ के पिता हैं।

विघ्नेश्वर की प्रतिमा खड़ी हुई अथवा पद्मासन धारण करके बैठी हुई अथवा चूहे पर बैठी हुई अथवा कभी कभी सिंह पर बैठी हुई बनाई जाती है। यदि गणेशजी खड़े हुए दिखाए गए हों, तो उनका शरीर समभंग, का, अन्यथा द्विभंग अथवा त्रिभंग शैली का होना चाहिए। गणेशजी का सूँड बाईं ओर को मुड़ा हुआ दिखाया जाता है; दाहिनी ओर को मुड़ा हुआ बहुत ही कम प्रतिमाओं में मिलता है। विघ्नेश्वर के दो ही आँखें दिखाई जाती हैं, यद्यपि आगमों में तीन नेत्रों के दिखाए जाने का भी वर्णन मिलता है। इस प्रतिमा के ४, ६, ८, १० अथवा १६ भुजाएँ बनाई जा सकती हैं, परंतु प्रायः ४ ही भुजाएँ बनाते हैं। लम्बोदर का पेट खूब बड़ा बनाना चाहिए। कहते हैं कि विष्णु और शिव ने गणेशजी को खाने को बहुत रोटियाँ दी थीं जिससे उनका पेट बहुत फूल गया। इनकी छाती पर यज्ञोपवीत के स्थान में एक सर्प डाल देना चाहिए। इसी प्रकार मेखला के स्थान पर भी एक सर्प स्थापित कर देना चाहिए। कहते हैं कि एक बार भक्तों ने बहुत मोदक भेंट किए, जिन्हें विघ्नेश्वर ने अपने लम्बे चौड़े पेट में जमा कर लिया और चूहे पर सवार हो घर को रवाना हुए। चूहा बेचारा बहुत दबा हुआ था। उसने मार्ग में एक सर्प को देखा और घबराहट में

उसने गणेशजी को पटक दिया। उनका पेट फूट गया। तदनन्तर उन्होंने पेट से निकल कर फैले हुए पदार्थों को कठिनता से संग्रह किया और उसी साँप को पकड़ कर मेखला के स्वरूप में बाँध लिया।

अब गणपति के अन्य भिन्न भिन्न स्वरूपों का संक्षिप्त वर्णन करते हैं। बाल गणपति की प्रतिमा नवजात बालक के समान, अम्बिका के अंक में निवेशित, अतिरक्त, बालसूर्य-प्रभाकार, गजमुख वाली, रत्नभूषित और चतुर्भुज वाली बनाना चाहिए। चारों हाथों में क्रमशः केला, आम, पनस (कटहर) और गन्ने का टुकड़ा तथा सूँड में कपित्थ (कैथ) धारण कराना चाहिए।

तरुण गणपति की प्रतिमा अरुणाभ होती है। उसमें पाश, अंकुश, कपित्थ, जम्बूफल, तिल, वेणु (बाँस की लकड़ी) प्रदर्शित की जाती है। भक्त विघ्नेश की प्रतिमा शरद् ऋतु के चन्द्रमा के समान कान्ति-वाली होती है। इसमें नारियल, आम, कदली, गुड़ और पायस (दूध में संस्कार किए हुए चावल) प्रदर्शित किए जाते हैं।

वीर विघ्नेश्वर की प्रतिमा १६ भुजावाली होती है। उसका रंग लाल होता है और भुजाओं में वेताल, शक्ति, धनुष, बाण, ढाल, तलवार, खट्वांग, मुद्गर, गदा, अंकुश, नाग, पाश, शूल, कुन्त, परशु और ध्वजा धारण कराई जाती है।

शक्ति गणेश संज्ञा में लक्ष्मी गणपति, उच्छिष्ट गणपति, महा गणपति, ऊर्ध्व गणपति तथा पिंगल गणति का समावेश हो जाता है।

लक्ष्मी गणपति के आठ भुजाएँ होती हैं, जिनमें क्रमशः शुक, बीज-पूर (बिजौरा), कमल, माणिक्य, कुंभ, अंकुश, पाश, कल्पलता, बाण-कलिका (बाण-वृक्ष विशेष) पधराई जाती हैं। यह प्रतिमा गौर रंग की होनी चाहिए और सूँड में से जल निकलता हुआ दिखलाना चाहिए। यह वर्णन अघोर-शिवाचार्य ने क्रिया-क्रम द्योति में दिया है। परंतु मन्त्र-

महोदधि के अनुसार लक्ष्मी गणपति के तीन नेत्र, चार भुजाएँ होनी चाहिएँ, जिनमें से प्रथम दो में दन्त और चक्र, तीसरी अभय मुद्रा युक्त और चौथी कमलहस्ता लक्ष्मी को आलिंगन किए हुए बनानी चाहिए।

उच्छिष्ट गणपति की प्रतिमा के विषय में भी इसी प्रकार दो भिन्न विचार हैं। अघोरशिवाचार्य का मत है कि इस प्रतिमा की भुजाओं में कमल, दाड़िम, वीणा, शालिपुंज और अक्षमाला प्रदर्शित की जानी चाहिए। परंतु मंत्रमहार्णव के अनुसार इसमें बाण, धनुष, पाश और अंकुश होने चाहिएँ और गणेशजी को पद्मासनस्थ कर समीप में एक नग्न देवी (विघ्नेश्वरी) इस प्रकार दिखानी चाहिए कि मानों वे उससे रतिक्रिया की चेष्टा कर रहे हों। उत्तम कामिकागम में भी इससे मिलता जुलता वर्णन मिलता है।

महागणपति के दश भुजाएँ होती हैं जिनमें क्रमशः कमल, बीजपूर, गदा, उन्हीं का टूटा दाँत, गन्ना, बाण, मणिकुंभ, शालि और पाश प्रदर्शित होने चाहिएँ। इस प्रतिमा का रंग रक्त होना चाहिए और अंक में कमलहस्ता श्वेतवर्णा शक्ति देवी पधरानी चाहिए।

ऊर्ध्व गणपति की पाँच भुजाओं में क्रमशः कल्हार पुष्प, शालि, इक्षु, चाप, बाण और दन्त होना चाहिए। एक भुजा से वे शक्ति का कटि से ऊपर आलिंगन करते हुए दिखाए जाने चाहिएँ। गणपति का वर्ण कनकोज्वल और शक्ति का विद्युत्प्रभ होना चाहिए।

पिंगल गणपति पका आम, कल्पमंजरी, ईख, तिल, मोदक और परशु धारण किए हुए तथा लक्ष्मी को साथ में लिए होना चाहिए।

शक्ति गणेश के विषय में भी भिन्न मत है।

आलिङ्ग्य देवीं हरितां निषण्णां परस्परस्पृष्टकटीनिवेशाम्।
सन्ध्यारुणं पाशसृणि वहन्तं भयापहं शक्तिगणेशमीडे॥

(क्रिया-क्रमद्योती)

विषाणाङ्कुशावक्षसूत्रं च पाशं
दधानं करैर्मोदकं पुष्करेण ।
स्वपत्न्या युतं हेमभूषाम्बराढ्यं
गणेशं समुद्यद्दिनेशाभमीडे ॥

(मन्त्रमहार्णवे)

शक्ति गणेश की प्रतिमा पद्मासन लगाए बनानी चाहिए और उन्हें शक्ति देवी को (जिसका वर्ण हरा होना चाहिए) कटि के समीप आलिङ्गन करते हुए दिखाना चाहिए। गणेश जी के और देवी के कटि से अधो भाग संयुक्त नहीं दिखाने चाहिएँ। गणेश जी का रंग अस्त होते हुए सूर्य के समान रक्त और आकृति भयावह होनी चाहिए। उनके हाथों में पाश और वज्र पधराने चाहिएँ। अन्यत्र ऐसा वर्णन है कि इस प्रतिमा को दंत, अंकुश, पाश और अक्षमाला हाथों में तथा मोदक सूँड में धारण किए हुए बनाना चाहिए और उनकी पत्नी (शक्ति) को उत्तमोत्तम आभरणों और वस्त्रों से समलंकृत कर समीप पधराना चाहिए। हेरम्ब की प्रतिमा बड़ी विलक्षण है। इसमें गजानन के पाँच मुख बनाने चाहिएँ—चार तो चारों दिशाओं के अभिमुख और पाँचवाँ इन चारों के ऊपर आकाश की ओर दृष्टि किए हुए। हेरम्ब का कनक रुचिर वर्ण का और सिंह पर बैठा हुआ बनाना चाहिए। उनकी भुजाओं में पाश, दन्त, अक्षमाला, परशु, तीन सिरवाला मुद्गर और मोदक दिखाना चाहिए। शेष चार हाथ अभय और वरद स्वरूप में बनाने चाहिएँ।

प्रसन्न गणेश की मूर्त्ति पद्मासन पर अभंग अथवा समभग स्वरूप में खड़ी हुई, उदय होते हुए सूर्य की प्रतिमा के समान, दो भुजाओं में अंकुश और पाश धारण किए हुए और शेष दो भुजाएँ वरद और अभय स्वरूप सूचक बनानी चाहिएँ। प्रसन्न गणेश के वस्त्र रक्त होने चाहिएँ। प्रसन्न गणेश की जो मूर्त्तियाँ मिलती हैं, उनमें प्रायः यह देखा

गया है कि दो भुजाओं को वरद और अभय स्वरूप दिखाने के स्थान में उन्हें दन्त और मोदक लिए हुए बना देते हैं और मोदक को ऐसे ढंग से दिखाते हैं कि मानों गणेश जी उसे सूँड से ग्रहण कर मुख में रखना चाहते हैं।

ध्वज गणपति घोर मुखवाले, चतुर्भुज, पुस्तक, अक्षमाल, दंड और कमंडलु धारण किए हुए होने चाहिएँ।

उच्छिष्ट गणपति की प्रतिमा पद्मासन, लाल वर्ण की, तीन नेत्र तथा चतुर्भुज-वाली, पाश, अंकुश, मोदक का पात्र और दन्त ग्रहण किए हुए होनी चाहिए।

विघ्नराज गणपति की प्रतिमा चूहे पर विराजमान, पाश और अंकुश धारण किए हुए तथा आम को चूसते हुए रक्तवर्ण की बनानी चाहिए। भुवनेश गणपति की प्रतिमा कमनीय गौर वर्ण की, अष्टभुज, शंख, इक्षु, चाप, कुसुम, बाण, दन्त, पाश, अंकुश, कलम (शालि) मंजरी धारण किए हुए होनी चाहिए।

हरिद्रा गणेश की प्रतिमा कनकासनस्थ, हरिद्र खंड (हल्दी) के समान वर्णवाली, तीन नेत्रवाली, पीतांशुक धारण किए हुए, अपनी चारों भुजाओं में क्रमशः पाश, अंकुश, मोदक और दन्त लिए हुए बनानी चाहिए। हरिद्रा गणेश को रात्रिगणपति भी कहते हैं। नृत्तगणपति की प्रतिमा आठ भुजावाली होती है जिनमें से सात में क्रमशः पाश, अंकुश, पूप (पूड़े), कुठार, दन्त, वलय (कड़ा), अङ्गुलीय (अँगूठी) होती है और आठवीं खाली लटकती रहती है, मानों मात्र-विक्षेप में सहायक हो। नृत्तगणपति का वर्ण पीतप्रभ होना चाहिए। यह मूर्ति पद्मासन बैठी हुई होती है और इसका बायाँ पाँव कुछ मुड़ा हुआ परंतु पद्मासन से जुदा हुआ और दाहिना पाँव कुछ मुड़ा हुआ और ऊँचा उठा हुआ रहता है। यद्यपि ग्रंथों में नृत्तगणपति का वर्णन ऐसा मिलता है, तो

भी जो प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं, उनमें आठ के स्थान में केवल चार ही भुजाएँ दिखाई हुई हैं।

भालचन्द्र उस गणपति की प्रतिमा को कहते हैं जिसके सिर पर चन्द्र दिखाया गया हो। ब्रह्मांड पुराण में लिखा है कि दर्भी (?)के शाप से चन्द्र क्रान्तिहीन होने लगा। यह देख गणेश जी ने उसे तिलक के समान अपने मस्तक पर लगा लिया और उसकी प्रभा को नष्ट होने से बचा लिया।

शूर्पकर्ण गणेश जी का एक नाम है। कहते हैं कि एक बार ऋषियों ने अग्नि को शाप दिया जिसके कारण वह बुझने लगी और शक्तिहीन हो गई। गणेश जी को उस पर दया आई और अपने कानों से शूर्प (सूप) की तरह पवन कर वे उसे सचेत करने लगे; अतः उनका नाम शूर्पकर्ण प्रसिद्ध हो गया। इस प्रतिमा का विशेष वृत्तान्त अप्राप्य है।

गणेश जी शिव जी के आकाशिक भाग हैं; अतः उनका पेट आकाश के समान बहुत लंबा-चौड़ा, अनन्त मोदकों अर्थात् वस्तुओं को ग्रहण करने योग्य बनाया जाता है। पद्म पुराण में मोदक को महा-बुद्धि का संकेत माना है। हम पहले लिख आए हैं कि गणेशजी सिद्धि और बुद्धि के पति तथा क्षेम और लाभ के पिता हैं।

शिवमहापुराण में लिखा है कि जब गणेश और सुब्रह्मण्य (स्वामिकार्तिक) बड़े हो गए, तब एक दिन शिव और पार्वती परस्पर विचार करने लगे कि इनमें से किसका विवाह पहले करें। उन्होंने यह निर्णय किया कि इन दोनों में से जो सब से पहले पृथ्वी की परिक्रमा कर आवेगा, उसका विवाह पहले किया जायगा। निदान सुब्रह्मण्य अपनी मयूर की सवारी पर चढ़ वेग से रवाना हो गए; परंतु गणेश जी कुछ बेपरवाह से हो रहे। ज्यों ही षडानन नजरों से गायब हो गए, त्यों ही गणेशजी ने अपने माता पिता के समीप आ उनकी सात बार प्रदक्षिणा कर डाली और एक वैदिक प्रमाण बोलते हुए कहा कि जो

पितरों का सात बार प्रदक्षिणा करता है, वह पृथ्वी की प्रदक्षिणा का फल पाता है। पितर अपने पुत्र की चमत्कृत बुद्धि से बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसका विवाह बुद्धि और सिद्धि से कर दिया जिनसे क्रमशः क्षेम और लाभ नामक पुत्र उत्पन्न हुए। वस्तुतः यह कथन अलंकार मात्र है।

आदित्य और नवग्रह

आदित्यों की उत्पत्ति के विषय में भिन्न भिन्न वर्णन मिलते हैं। इनकी संख्या कहीं सात, कहीं आठ और कहीं बारह बताई गई है। जहाँ पर १२ हैं, वहाँ वे वर्ष के १२ महीनों के द्योतक समझे गए हैं। पुराणों के वर्णनों से यह स्पष्ट है कि ये सौर जगत् के देवता हैं। अदिति के पुत्र होने से इनका नाम "आदित्य" पड़ा है। आदित्य का अर्थ 'सूर्य' लोक-प्रसिद्ध है। मगक्षजाति के ब्राह्मण मुख्य रूप से सूर्य के उपासक हैं। ये लोग उत्तर भारत में बहुतायत से मिलते हैं। अतः यहाँ पर सूर्य के मन्दिरों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। परन्तु तंजोर प्रान्त के सूर्यनाद कोइल ग्राम में भी सूर्य का एक प्राचीन मन्दिर मिलता है जिसमें "सूर्य" की मुख्य प्रतिमा है और साथ ही में नवग्रहों की भी है। यह मन्दिर ई० सन् १०६० से १११८ के बीच में निर्माण किया गया था और "कुलोत्तुङ्गचोल मार्तण्डालय" नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ था। नवग्रहों अर्थात् सूर्य, चन्द्र, भौम, बुध, शुक्र, बृहस्पति,

---

• भविष्यत् पुराण में लिखा है कि श्रीकृष्ण के पुत्र साम्ब को कुष्ट रोग हो गया था जिसकी निवृत्ति सूर्य की उपासना से हुई। इस पर राजा साम्ब ने सूर्य का मंदिर बनाकर उसकी मूर्ति स्थापित करानी चाही, परंतु ब्राह्मणों ने यह कह कर कि मूर्तिपूजा से प्राप्त द्रव्य से भक्षकिया नहीं हो सकती, उस काम को स्वीकार नहीं किया। तब शकद्वीप से मग जाति के ब्राह्मणों को बुलाकर उनको उक्त मूर्ति के पुजारी बनाया गया।

एवमुक्तस्तु साम्बेन नारदः प्रत्युवाचतं।
न द्विजाः परिगृह्णन्ति देवस्य स्वीकृतं धनं ॥ ४ ॥
देवचर्यागतैर्द्रव्यैः क्रिया ब्राह्मो न विद्यते ॥ ५ ॥
भविष्य पुराण, ब्रह्म पर्व, अध्याय १२।

शनि, राहु और केतु की प्रतिमाएँ प्रायः दक्षिण भारत के सभी प्रसिद्ध प्रसिद्ध शङ्कर के देवालयों में मिलती हैं। ये प्रतिमाएँ करीब तीन फुट ऊँचे चबूतरे पर एक अलग मंडप में पधराई जाती हैं और इनमें से कोई आमने सामने नहीं रखी जाती। कहते हैं कि मन्दिर के निर्माण के समय जिस क्रम से ये नवग्रह होते हैं, उसी क्रम से इनकी प्रतिमाएँ भी उसमें पधराई जाती हैं।

सूर्य का रथ एक चक्रवाला होता है और उसमें सात घोड़े जुते हुए होते हैं। सूर्य के दोनों हाथों में एक एक कमल होता है और छाती पर कवच। उसके बाल सुन्दर, अकुंचित (बिना मुड़े) दिखाए जाते हैं और एक प्रभामंडल, सुन्दर वस्त्र, स्वर्ण रत्नों से विभूषित अंग बनाए जाते हैं। सूर्य के दक्षिण भाग में "निक्षुभा" और वाम में "राज्ञी" सर्वाभरण संयुक्त तथा केश हारादि से समुज्वल पधराई जाती हैं। ऐसे सूर्य के रथ को "मकरध्वज" कहते हैं। सूर्य के मुकुट भी होना चाहिए। उसके समीप दंडनायक और स्कन्ध बनाने चाहिएँ। ये पुरुषाकृति मूर्त्तियाँ सूर्य के सामने पधरानी चाहिएँ। मित्र (सूर्य) के दो अथवा चार भुजाएँ होती हैं। सूर्य के द्वारपाल 'दंड' और 'पिंगल' हैं और उनके हाथों में तलवार होती है। भविष्यत् पुराण में लिखा है कि सूर्य असुरों को जलाने लगा; अतः उन्होंने मिलकर उस पर आक्रमण किया। देवताओं ने ऐसी स्थिति में सूर्य को सहायता दी और स्कन्द को वाम और अग्नि को उसके दक्षिण भाग में आरोपित किया। स्कन्द संसार में दुष्टों का दमन करनेवाला है। अतः उसे "दंडनायक" कहते हैं और अग्नि अपने रक्त वर्ण के कारण "पिंगल" कहलाती है। उसी पुराण में सूर्य के परिचारकों के नाम राज्ञ और स्तोप रखे हैं और इनको स्कन्द और शिव का रूपान्तर बतलाया है। कार्तिकेय अथवा स्कन्द का ही नाम राज्ञ है। पारसियों के ग्रन्थ आवेस्ता में सूर्य के परिकर का नाम Sraoshavarega सरओषवरेघा अथवा स्रोप है। यह वस्तुतः वही

भमि परिकर है। भविष्यत् पुराण में ऐसा भी वर्णन है कि सूर्य के बगल बगल अश्विनीकुमारों को खड़ा कर देना चाहिए; अथवा सूर्य की दाहिनी ओर दवात कलम लिए हुए "पिंगल" को और बाईं ओर दंड लिए हुए दंडी (स्कन्द) को स्थापित करना चाहिए। राज्ञी और निक्षुभा देवियाँ पवन और पृथ्वी की बोधक हैं।

सूर्य के मन्दिर के चार द्वारों के द्वारपालों के नाम निम्नलिखित हैं—

प्रथम द्वार—धर्म और अर्थ।

द्वितीय ,,—गरुड़ और यम।

तृतीय ,,—कुबेर और विनायक।

चतुर्थ ,,—रैवत और डिंडी।

रैवत (रेवंत) सूर्य के पुत्र को और डिंडी शिव को भी कहते हैं।

अंशुमद्भेदागम और सुप्रभेदागम में ऐसा वर्णन है कि सूर्य की प्रतिमा दो हाथवाली बनानी चाहिए और प्रत्येक हाथ में एक एक कमल पकड़ा कर मुट्ठियाँ कंधे से लगी हुई रखनी चाहिएँ। सूर्य के सिर पर करंड मुकुट और वस्त्र रक्त बनाने चाहिएँ। उसके कानों में कुंडल और छाती पर एक हार होना चाहिए। सूर्य को एक ही रक्त वस्त्र पहनाना चाहिए; परंतु वह ऐसा मनोहर और ऐसा रम्य हो कि उस में से उसके अंग सुव्यक्त हों। सूर्य को यज्ञोपवीत भी पहनाया जाता है। सूर्य को पद्मपीठ पर अथवा सप्ताश्ववाले षट्कोण रथ पर पधराना चाहिए। सूर्य का एक पहिएवाला रथ लँगड़े "अरुण" से हाँका जाता है। सूर्य की दाहिनी ओर 'उषा' और बाईं ओर "प्रत्युषा" खड़ी की जाती है। सूर्य की चार स्त्रियाँ भी बताई जाती हैं जिनके नाम राज्ञी, सुवर्णा, सुवर्चसा और छाया हैं। एक जगह ऐसा भी विधान है कि सूर्य का आधा अंग श्यामा स्त्री का बनाना चाहिए जिससे कदाचित् यह आशय हो कि तेजपुंज सूर्य अंधकार रूपी अर्द्धांगिनी से युक्त है। शिल्परत्न में सूर्य के द्वारपालों के नाम "मंडल" और "पिंगल" दिए हैं और यह

लिखा है कि सूर्य का किरीट पुष्पराग का होना चाहिए। आदित्य की प्रतिमा में इस बात पर अधिक ध्यान देना चाहिए कि सिर, नाक, छाती, जंघा, घुटने सीधे (खड़े हुए) प्रदर्शित हों और प्रभामंडल का व्यास किरीट की ऊँचाई से दूना रखना चाहिए। सूर्य की एक हाथ लम्बी मूर्ति सौम्य, दो हाथ लंबी वसुदा और तीन हाथ लंबी क्षेम तथा सुभिक्षप्रद गिनी जाती है।

मत्स्य पुराण के अनुसार सूर्य की प्रतिमा चतुर्भुज तथा मूँछवाली बनानी चाहिए। सूर्य के दो हाथों में तलवार और शूल होना चाहिए। सूर्य का झंडा बाईं ओर रखा जाता है और उस पर सिंह अंकित होता है। सूर्य के एक ओर रेवंत और यम तथा दूसरी ओर दो मनु खड़े दिखाने चाहिएँ। ये चारों सूर्य के पुत्र कहे जाते हैं। द्वादश आदित्यों के नाम निम्न लिखित हैं—

१ धाता, २ मित्र, ३ अर्यमा, ४ रुद्र, ५ वरुण, ६ सूर्य, ७ भग, ८ विवस्वान् ९ पूषा, १० सविता, ११ त्वष्टा और १२ विष्णु।

विश्वकर्म शास्त्र में इन बारहों आदित्यों की प्रतिमाओं के लक्षण दिए हुए हैं। ये सब चतुर्भुज बनाए जाते हैं जिनमें दो हाथों में कमल पकड़ाए जाते हैं और शेष दो हाथों की वस्तुएँ इस प्रकार हैं—

धाता के—कमल की माला और कमंडलु; मित्र के—सोम और शूल; अर्यमा के—चक्र और कौमोदकी; रुद्र के—अक्षमाला और चक्र; वरुण के—चक्र और पाश; सूर्य के—कमंडलु और अक्षमाला; भग के—शूल और चक्र; विवस्वान् के—शूल और माला; पूषा के दोनों हाथों में कमल; सविता के—गदा और चक्र; त्वष्टा के—स्रुक् और होमजकलिका; विष्णु के—चक्र और कमल।

पूषा के चारों हाथों में कमल होते हैं। मित्र के तीन आँखें होती हैं। पारसियों के भी मित्र, अर्यमा और भग देवता सुप्रसिद्ध हैं।

उत्तरी भारत में सूर्य की जो प्रतिमाएँ मिलती हैं, उनके पाँव मोजों से ढके हुए या लम्बे बूट पहने हुए होते हैं।

सोम (चन्द्रमा), मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि और रवि (सूर्य) तथा राहु और केतु मिल कर नवग्रह कहलाते हैं। नवग्रहों में सूर्य मुख्य ग्रह है। उसकी प्रतिमा का वर्णन कर चुके। अब शेष ग्रहों की प्रतिमाओं का संक्षिप्त विवरण लिखते हैं। सोम सिंहासनासीन तथा कुन्द और शंख के समान द्युतिमान्, प्रभामंडल युक्त, द्विभुज और सौम्य मुखवाला बनाना चाहिए। सोम के हाथ में कुमुद होना चाहिए और शरीर पर नाना आभरण तथा हैम यज्ञोपवीत। शिल्परत्न में लिखा है कि चन्द्रमा की प्रतिमा दस श्वेत घोड़ों से खींचे जाते हुए रथ में विराजी हुई बनानी चाहिए और उसके दाहिने हाथ में गदा और बायाँ हाथ वरद अवस्था में दिखाना चाहिए। मत्स्य पुराण में भी ऐसा ही वर्णन है। इतना अधिक है कि चन्द्रमा की दाहिनी और बाईं ओर "कान्ति" और "शोभा" देवियाँ बनानी चाहिएँ और बाईं ओर सिंह के चिह्नवाली पताका रखनी चाहिए। पूर्वकारणागम में केवल एक देवी अर्थात् रोहिणी को ही स्थापित करना लिखा है। चन्द्रमा आसीन अर्थात् बैठा हुआ और खड़ा हुआ भी दिखाया जाता है।

पृथ्वी के पुत्र भौम (मंगल) की प्रतिमाओं के भिन्न भिन्न विधान हैं। शिल्परत्न में लिखा है कि भौम चतुर्भुज, मेष पर सवार, अंगार के समान द्युतिमान् होना चाहिए। इसका एक दक्षिण हस्त अभय अथवा वरद अवस्था में बनाना चाहिए और दूसरा शक्ति लिए हुए; शेष बाएँ हाथ गदा और शूल धारण किए हुए हों। मत्स्य पुराण में लिखा है कि भौम को आठ अश्ववाले कांचन के रथ में विराजमान करना चाहिए।

बुध चद्रमा का पुत्र है। इसे ग्रहपति भी कहते हैं। इसकी प्रतिमा सिंहासनस्थ, पीत माला सहित भूषाविभूषित होनी चाहिए। बुध के

शरीर का रंग कर्णिकार (कनेर) के पुष्प के समान पीत होना चाहिए और ऐसा ही रंग उसके वस्त्रों का भी होना चाहिए। बुध के चार हाथ होते हैं। दाहिने हाथों में से एक वरद अवस्था में, शेष तीनों में क्रमशः खड्ग, खेटक और गदा प्रदर्शित होती है। यह शिल्परत्न का मत है। परंतु विष्णुधर्मोत्तर में ऐसा वर्णन है कि बुध की प्रतिमा विष्णु के तुल्य, सोम के जैसे रथ में विराजमान बनानी चाहिए।

बृहस्पति और शुक्र की प्रतिमाएँ चतुर्भुज होती हैं, जिनमें से एक हाथ वरद अवस्था में और शेष तीन कमंडलु, अक्षमाला और दंड धारण किए हुए हों। बृहस्पति का रंग तप्त सुवर्ण सा होना चाहिए। यह वर्णन शिल्परत्न के अनुसार लिखा गया है। विष्णुधर्मोत्तर में बृहस्पति के दो ही हाथों का विधान है और उनमें पुस्तक और अक्षमाला बतलाई है। उस ग्रन्थ में भृगु के पुत्र शुक्र के भी दो ही हाथों का वर्णन है और उनमें निधि और पुस्तक प्रदर्शित होनी चाहिए। शुक्र के वस्त्रों का रंग श्वेत होना चाहिए और वह अष्टाश्व-वाले दिव्य काञ्चन रथ में विराजमान किया जाना चाहिए।

शनैश्चर का एवं उसके वस्त्रों का रंग काला होना चाहिए। उसके दो हाथ होते हैं और सिर पर करंड, मुकुट और शरीर पर नाना आभूषण पहनाए जाते हैं। दक्षिण हस्त में दंड होता है और वाम हस्त वरद अवस्था में दिखाया जाता है। शनैश्चर का शरीर (ईषत्पङ्गुरिव स्थाने ईषद्धस्वतनुस्मृतः) कुछ छोटा और वह कुछ एक टाँग से लँगड़ाता हुआ सा दिखाना चाहिए। शनैश्चर की प्रतिमा पद्म पीठ पर, अथवा आठ घोड़ेवाले लोहे के रथ पर विराजमान होती है। यह वर्णन अंशुमद्भेदागम और विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार है।

राहु की प्रतिमा शिल्परत्न के अनुसार सिंहासनासीन, करालवदन वाली होनी चाहिए। उसका एक हाथ वरद अवस्था में और शेष तीन खड्ग, खेटक और शूल धारण किए हुए बनाने चाहिए। विष्णुधर्मोत्तर

में ऐसा वर्णन है कि राहु की मूर्ति आठ अश्ववाले रौप्य रथ में विराजमान, एक हाथ में कम्बल और पुस्तक लिए हुए और दूसरा हाथ खाली ही रखे हुए बनानी चाहिए।

केतु की प्रतिमा शिल्परत्न के अनुसार धूम्र वर्ण की द्विभुज—एक वरद अवस्था में दूसरी गदा धारण किए—गृध्र (गीध) की पीठ पर सवार, रक्त कुंडल, केयूर, हार और आभरण से समलंकृत की हुई बनानी चाहिए। परंतु विश्वकर्म शास्त्र में ऐसा विधान है कि केतु की प्रतिमा सब तरह से भौम के समान बनानी चाहिए। केवल रथ दश घोड़ोंवाला होना चाहिए।

रूपमंडन में सूर्य को सप्ताश्ववाले रथ पर, सोम को दश अश्ववाले पर, भौम को मेष पर, बुध को सर्पासन पर (या योगासन पर ?), गुरु (बृहस्पति) को हंस पर, शुक्र को भेक (मेंढक) पर, शनि को महिष (भैंसे) पर, राहु को कुंड पर विराजमान करने का विधान है। केतु के नीचे का भाग सर्पाकृति होना चाहिए।

जिन्हें आदित्य एवं नवग्रहों की प्रतिमाओं के विषय में अधिक अनुसंधान करना हो, उन्हें मैसूर के छपे हुए "बोधायन गृह्यसूत्र" में "नवग्रहपूजा विधि" प्रकरण (पृष्ठ १९६ से २८५) भी देख लेना चाहिए। विस्तार-भय से हम अधिक लिखने में असमर्थ हैं।

देवियों की प्रतिमाएँ

यों तो वैष्णव और शैव लक्ष्मी तथा पार्वती की उपासना करते ही हैं, परंतु मुख्य रूप से देवी के उपासक शाक्त हैं। शाक्तों में मंत्रशास्त्र की बहुत चर्चा है। वे लोग यंत्रों की उपासना भी करते हैं। कहते हैं कि दक्षिण भारत के कई प्राचीन और अर्वाचीन मंदिरों में, जो शक्ति पीठालय कहलाते हैं, एक बलि पीठ के समान पीठ होती है; और उन स्थानों में श्रीचक्र खुदा हुआ होता है, जिसका प्रातः सायं विधिवत

अर्चन किया जाता है। अन्य बहुत से यंत्र सुवर्ण, चाँदी अथवा ताम्र-पत्र पर लिखे जाते हैं और लोग उन्हें आभरण के समान शरीर पर धारण करते हैं। वे समझते हैं कि इनसे शत्रु, व्याधि आदि की निवृत्ति होती है; अतः अवसर विशेष पर उनका पूजन भी करते हैं।

देवी कई स्वरूपों में पूजी जाती है *। आयु के अनुसार जब उसका पूजन प्रकल्पित करते हैं, तो उसके निम्नलिखित नाम रखे जाते हैं—

१ वर्ष की संध्या, २ को सरस्वती, ७ की चंडिका, ८ की शाम्भवी, ९ की दुर्गा या बाला, १० की गौरी, १३ की महालक्ष्मी और १६ की ललिता।

देवी के नाम पराक्रमशील कर्मों से भी प्रसिद्धि को प्राप्त हुए हैं। जैसे महिषासुर के मारने से महिषासुर-मर्दिनी। ऐसे ही रक्तचा-मुंडा, शताक्षी, शाकम्भरी, दुर्गादेवी, भ्रामरी आदि नाम पड़े हैं जिनके कारण मार्कण्डेय पुराण के सुप्रसिद्ध देवी माहात्म्य में वर्णन किए हुए हैं। वस्तुतः मुख्य देवियाँ अर्थात् लक्ष्मी, महाकाली और सरस्वती प्रकृति के रज, तम और सत्व गुणों की कल्पित प्रतिमाएँ हैं। सृष्टि की तीन अवस्थाओं के अनुसार भी देवी के नाम रक्खे गए हैं जैसे उत्पत्ति के समय ब्रह्मा पर भी आधिपत्य रखती हुई "महाकाली", प्रलय की स्थिति में "महामारी" और सृष्टि की वर्तमान अवस्था में धनधान्य देने से "लक्ष्मी" और अपहरण करने से "अलक्ष्मी" अथवा "ज्येष्ठा देवी"। सृष्टि की उत्पत्ति के समय देवी का वर्ण काला होता है और उसके महामाया, महाकाली, महामारी, क्षुधा, तृषा, निद्रा, तृष्णा, एकवीरा, कालरात्री और दुरत्यया नाम होते हैं। महालक्ष्मी देवी का मुख्य स्वरूप है। अन्य स्वरुप उसके अधीन रहते हैं। देवी ही

* राजपूताने में एक विरुन (बसंत) माता का मंदिर है जिसमें कोई मूर्ति नहीं है; केवल सिंदूर से बने हुए त्रिशूल को ही विरुन माता कह कर पूजते हैं।

अपने स्वरूप को पुरुष अर्थात् नीलकंठ, रक्तबाहु, श्वेतांग, चन्द्रशेखर, रुद्र, शङ्कर, स्थाणु एवं त्रिलोचन में और स्त्री अर्थात् विद्या, भाषा, स्वर, अक्षर और कामधेनु में विभक्त करती है। देवी सत्व स्वरूप में अक्षमाला, अंकुश, वीणा और पुस्तक धारण किए हुए होती है और उसके महाविद्या, महावाणी, भारती, वाक्, सरस्वती, आर्या, ब्राह्मी, कामधेनु, वेदगर्भा, धी और ईश्वरी नाम प्रसिद्ध होते हैं। यह सत्व-स्वरूपा देवी अपने स्वरूप को पुरुष अर्थात् विष्णु, कृष्ण, हृषीकेश, वासुदेव और जनार्दन में एवं स्त्री अर्थात् उमा, गौरी, शक्ति, चंडी, सुंदरी, सुभगा और शिवा में विभक्त करती है।

प्रकृति का राजस स्वरूप महालक्ष्मी अथवा लक्ष्मी कहलाता है और मातुलिंग (बिजौरा), गदा, पात्र, खेटक एवं स्त्री या पुरुष का चिह्न धारण किए होता है। यह अपने स्वरूप को पुरुष अर्थात् हिरण्य-गर्भ, ब्रह्मा, विधि, विरंचि और धाता में और स्त्री अर्थात् श्री, पद्मा, कमला और लक्ष्मी में विभक्त करती है। अन्त में ब्रह्मा और सरस्वती, विष्णु और लक्ष्मी, रुद्र और गौरी दाम्पत्य स्वरूप से सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हैं, ऐसा पुराणों में वर्णन है। शाक्त महालक्ष्मी को सर्वोपरि देवी मानते हैं।

देवी की प्रतिमा का सर्व साधारण स्वरूप निम्नलिखित श्लोकों में वर्णन किया गया है—

चतुर्भुजा त्रिनेत्रा च सुप्रसन्नैकवक्त्रका ।
दुकूलवसना देवी करण्डमुकुटान्विता ॥
वरदाभयसंयुक्ता पाशाङ्कुशकरान्विता ।
(उत्तरकामिकागमे चतुश्चत्वारिंशत्पटले ।)

आशय—देवी के चार भुजाएँ और तीन नेत्र, चेहरा सुप्रसन्न, पोशाक रेशमी और सिर पर करण्ड मुकुट प्रदर्शित करना चाहिए।

उसकी दो भुजाएँ वरद और अभय अवस्था में और शेष दो पाश और अंकुश को धारण किए हुए हों।

यदि देवी की प्रतिमा किसी पुरुष प्रतिमा के साथ खड़ी की जाय, तो उसके प्रायः दो ही नेत्र और दो ही भुजाएँ बनाते हैं, जिनमें से एक कमल.के पुष्प को धारण किए हुए अथवा कटक अवस्था में होती है। स्वतंत्र रूप से भी देवी को दो भुजाएँ बना देते हैं, जिनमें से एक में दर्पण या शुक और दूसरे में नीलोत्पल या एक में शूल और दूसरे में पाश दिखलाते हैं।

जब देवी की छः भुजाएँ बनाते हैं, तब दो भुजाएँ तो वरद और अभय स्वरूप में और शेष पाश, अंकुश, शंख, चक्र धारण किए हुए दिखाते हैं। कभी कभी देवी को १० भुज और ५ मुखवाली भी बनाते हैं। इस दशा में उसका आसन और आयुध वे ही होते हैं जो १० भुजावाली शिव की मूर्ति के होते हैं।

जब सदाशिव के साथ देवी को दिखाते हैं, तब उसका नाम मनोन्मनी होता है। उसका शरीर त्रिभंग अथवा समभंग बनाते हैं। नटराज अथवा शिव की अन्य मूर्तियों के साथ विद्यमान देवी को गौरी कहते हैं। मनोन्मनी और गौरी की प्रतिमाओं में अन्तर नहीं है। उनका स्वरूप काला, गोरा या लाल, जैसा शिल्पकार को रुचे, वैसा ही बना लिया जाता है। सुप्रभेदागम में लिखा है कि देवी को तुंगपीन पयोधरा, श्याम वर्णा, सर्वाभरणभूषिता बनाना चाहिए। पूर्वकारणागम का मत है कि दो भुजाओंवाली खड़ी हुई देवी की संज्ञा "भवानी" होती है।

दुर्गा कृष्ण वर्ण की होती है और उसके तीन नेत्र, तथा चार अथवा इससे भी अधिक भुजाएँ बनाई जाती हैं। वह सौम्य, पीताम्बर-धारिणी, पीन ऊरु जघन और स्तनेवाली, करण्ड मुकुटवाली और सर्वाभरणभूषित होनी चाहिए। दुर्गा की मूर्ति पद्मासन, भैंसे

अथवा सिंह पर विराजमान होती है। नागेन्द्र से उसके स्तन बँधे हुए होते हैं और उसे रक्तकंचुकधारिणी बनाना चाहिए। दुर्गा (आदिशक्तेस्समुद्भूता विष्णुप्राणानुजा शुभा—सुप्रभेदागमे) आदि शक्ति से उत्पन्न हुई विष्णु की प्यारी बहिन है। इसकी भुजाओं में शंख, चक्र, शूल, धनुष, बाण, खड्ग, खेटक और पाश प्रदर्शित किए जाते हैं।

दुर्गा के निम्नलिखित भेद हैं—

नीलकंठी, क्षेमंकरी, हरसिद्धि, रुद्रांशा, वनदुर्गा, अग्निदुर्गा, जयदुर्गा, विन्ध्यवासिनी और रिपुमारी।

इनके अतिरिक्त नव दुर्गा—रुद्रचंडा, प्रचंडा, चंडोग्रा, चंडनायिका, चंडा, चंडवती, चंडरूपा, अतिचंडिका और उग्रचंडिका हैं।

नीलकंठी लक्ष्मी और सुखप्रदा है। इसका एक हाथ वरद अवस्था में, शेष, त्रिशूल खेटक और पानपात्र धारण किए हुए होते हैं।

क्षेमंकरी क्षेम और आरोग्य-प्रदायिनी है। इसका एक हाथ वरद अवस्था में, शेष त्रिशूल, पद्म और पानपात्र धारण किए हुए होते हैं।

हरसिद्धि सिद्धिप्रद है। इसके चारों हाथों में क्रमशः कमंडलु, खड्ग, डमरू और पानपात्र होते हैं।

रुद्रांश दुर्गा श्याम वर्ण की, रक्ताम्बरधारिणी, किरीट रत्नाभरणों से समलंकृत बनानी चाहिए। इसके दो नेत्र होते हैं और चार भुजाओं में शूल, खड्ग, शंख और चक्र पकराए जाते हैं। इसकी सवारी मृगेन्द्र है और इसके आस पास सूर्य और चन्द्र भी बनाने चाहिएँ।

वनदुर्गा का वर्ण नवदुर्गा के समान होता है। यह अपने सात हाथों में शंख, चक्र, खड्ग, खेटक, बाण, धनुष और शूल लिए रहती है और आठवाँ हाथ तर्जनी अवस्था में धारण करती है।

अग्निदुर्गा विद्युत्समप्रभा, सिंहारूढ़ा तथा भीषणा होती है।

इसकी छः भुजाओं में चक्र, खड्ग, खेटक, बाण, पाश और अंकुश होते हैं और शेष दो वरद और तर्जनी अवस्था में। इसके तीन नेत्र होते हैं और मस्तक पर चन्द्रमा धारण करती है। इसके दाईं और बाईं ओर दो सेवक कन्याएँ तलवार और खेटक (ढाल) लिए हुए दिखाई जाती हैं।

जयदुर्गा त्रिनेत्रा, सिंहस्कन्धाधिरूढ़ा तथा मौलि में इन्दुरेखा धारण किए होती है। इसकी चारों भुजाओं में क्रमशः शंख, चक्र, कृपाण और त्रिशूल होते हैं। इसका वर्ण काला होता है।

विन्ध्यवासिनी दुर्गा विद्युत् के समान प्रभावाली, शशिमुखी सुवर्ण के कमल पर विराजमान, दो भुजाओं में शंख, चक्र धारण किए हुए और शेष दो वरद और अभय स्थिति में होते हैं। इसके सिर पर चन्द्रकला और शरीर पर हार, अंगद, कुंडलादि आभरण होते हैं। इसके आस पास इन्द्रादि देवता खड़े होकर इसकी स्तुति करते हुए और समीप में एक खड़ा हुआ सिंह भी दिखाना चाहिए।

रिपुमारिणी दुर्गा—रक्तवर्णा और भयंकरी होती है। उसकी एक भुजा तर्जनी अवस्था में और दूसरी त्रिशूल धारण किए हुए होती है।

महिषासुरमर्दिनी—दश बाहुवाली, जटा मुकुट मंडित, तीन नेत्रवाली, मस्तक पर अर्ध चन्द्र धरे, अलसी के पुष्प के समान वर्णवाली (अर्थात् नीले वर्ण की) पीन उन्नत कुचवाली होती है। उसके नेत्र नीलोत्पल के समान होते हैं और उसके शरीर का मध्य भाग पतला होता है। उसकी प्रतिमा त्रिभंग होती है। उसकी दाहिनी भुजाओं में त्रिशूल, खड्ग, शक्ति, चक्र, आधिज्य, कार्मुक और बाईं भुजाओं में पाश, अंकुश, खेटक, परशु और घंटा होता है। इसके नीचे कटी हुई गरदन का भैंसा दिखाना चाहिए और उसमें से निकला हुआ तथा नाग-पाश से बँधा हुआ एवं खड्ग, खेटक धारण किए हुए दानव होता है। इस दानव के हृदय में देवी का शूल गड़ा हुआ और

मुख में से रुधिर बहता हुआ दिखाना चाहिए। देवी का दक्षिण चरण सिंह की पीठ पर और बाँया महिषासुर को स्पर्श करता हुआ रहता है। यह वर्णन शिल्परत्न के अनुसार दिया है। परन्तु विष्णुधर्मोत्तर में महिषासुरमर्दिनी की संज्ञा चण्डिका दी है और उसके स्वरूप का निम्नलिखित वर्णन किया है—यह देवी हेमाभा, सुरूपिणी, त्रिनेत्रा, यौवनस्था, सिंहारूढ़ा, क्रुद्धा, ऊर्ध्वस्थिता, मध्य भाग में कृशा, विशालाक्षी, चारुपीनपयोधरा, एक मुख तथा सुंदर ग्रीवावाली होती है। इसके बीस भुजाएँ होती हैं जिनमें शूल, खड्ग, शंख, चक्र, बाण, शक्ति, वज्र, अभयमुद्रा, डमरु और छत्र होते हैं। शेष बाईं भुजाओं में नागपाश, खेटक, परशु, अंकुश, धनुष, घंटा, ध्वज, गदा, दर्पण और मुद्गर होते हैं। इसके अतिरिक्त महिषासुर के स्वरूप का जो वर्णन इस ग्रन्थ में दिया है, वह उपर्युक्त शिल्परत्न से उद्धृत किए हुए वर्णन से बहुत मिलता जुलता है।

कात्यायनी का स्वरूप और चरित्र प्रायः वही है जो महिषासुरमर्दिनी का है। अतः इस विषय में अधिक लिखना अनावश्यक है।

नन्दा को "भारद्वाजाभिनन्दजा" कहा है। इसकी भुजाओं में वरद मुद्रा, पाश, अंकुश और कञ्ज (कमल) होते हैं। यह गौर वर्ण, गजारूढा होती है। इसकी भुजाओं में खड्ग, खेटक भी दिखाए जाते हैं। वराह पुराण में नन्दा को अष्ट भुजा वाली बतलाया है और लिखा है कि यही कालान्तर में महिषासुरमर्दिनी बनी।

१५ नवदुर्गा के नाम पहले लिख आए हैं। नवदुर्गा की पूजा मध्य में एक बड़ी मूर्ति और आस पास आठ दिशाओं के अनुसार मूर्तियाँ बनाकर करते हैं। कभी नवतत्वाक्षरों से भी यन्त्र में उनकी प्रतिमा मान ली जाती है। यह एक कमल पर बैठी हुई होती है। मध्य मूर्ति के अठारह भुजाएँ, पीन वक्ष और जघाएँ बनाते हैं और सर्व अलङ्कारों से संयुक्त करते हैं। इसके बाएँ हाथों में असुर के सिर के बाल, खेटक, घंटा, दर्पण, तर्जनी मुद्रा, धनुष, ध्वजा, डमरू, पाश और दाएँ हाथों

में शक्ति, मुद्गर, शूल, वज्र, शंख, अंकुश, शलाका, बाण और चक्र रहते हैं। दुर्गा की शेष आठ प्रतिमाओं के सोलह भुजाएँ होती हैं। मध्य-दुर्गा अग्निवर्णा होती है; शेष गोरोचन-वर्णा, रक्ता, कृष्णा, शुक्ला, नीला, धूम्रिका, पीता, और पांडुरा होती हैं।

भद्रकाली को अष्टदश भुजा, आलीढासनस्था, चार सिंहों के रथ में विराजमान, अक्षमाला, त्रिशूल, खड्ग, चन्द्र, बाण, धनुष, शंख, पद्म, स्रुक् स्रुव, उदक, कमंडलु, दंड, शक्ति, अग्नि, कृष्णाजिन, शान्त मुद्रा और रत्नपात्र धारण किए हुए और तीन नेत्र तथा सुन्दर स्वरूप बनाना चाहिए।

महाकाली—अंजन के समान काली, दंष्ट्रांकित मुखवाली, विशाललोचना, तनुमध्यमा, खड्ग, पात्र, कपाल और खेटकधारिणी, चतुर्भुजा, कबन्ध का हार पहने हुए अथवा त्रिनयना, कालमेघसम-प्रभा, चक्र, शंख, गदा, कुंभ, मुसल, अंकुश, पाश, वज्रधारिणी और आठ भुजाओंवाली बनानी चाहिए।

अम्बा—कुमुद-वर्णाभा होती है और उसके हाथ पाश, पद्म, पात्र और अभयमुद्रा सहित होते हैं।

अम्बिका—सिंहारूढ़ा, त्रिनेत्रा, नानाभरणभूषिता बनानी चाहिए। उसका बायाँ हाथ दर्पण और दायाँ हाथ वरदमुद्रा-युक्त होता है। शेष दोनों हाथों में खड्ग और खेट प्रदर्शित करने चाहिएँ।

मंगला—सिंहासनस्थिता, जटामुकुटमंडिता, शूल, अक्षमाला, वरदमुद्रा, अभयमुद्रा, चाप, दर्पण, शर, खेट, खड्ग, चन्द्रधारिणी, दस भुजावाली, सुरूपा, सुस्तना, चारुहासिनी, सर्वाभरणभूषांगी, सर्वशोभासमन्विता बनानी चाहिए।

सर्वमंगला—सिंहारूढ़ा, अक्षमाला, पद्म दक्षिण हाथों में

शूल तथा बाएँ हाथों में मुंडो धारण करती हुई चतुर्बाहुवाली बनानी चाहिए।

कालरात्रि—एक वेणीवाली, जपा कुसुम के कर्णाभरणवाली, नग्न, गधे पर चढ़ी हुई, लम्बे ओंठवाली, कुंडल धारण किए हुए, तैल से लिपटे हुए शरीरवाली बनानी चाहिए। उसके बायें पाँव में लोहे का कड़ा पहनाना चाहिए और श्याम वर्ण की महा भयंकर मूर्ति बनानी चाहिए।

ललिता—खड़ी हुई, सर्वाभरणभूषिता, बाएँ दो हाथों में शख और आदर्श (आइना) और दाएँ हाथों में फल और सुरमादानी लिए हुए होनी चाहिए।

गौरी—कुमारी के स्वरूपवाली, कमलासना बनानी चाहिए। यदि दो भुजाएँ बनाई जायँ तो वे वरद और अभयमुद्रा-युक्त हों, अन्यथा चार भुजाएँ, अक्षमाला, दर्पण, कमंडलु और अभयमुद्रा धारण की हुई बनानी चाहियें।

उमा—की चारों भुजाओं में क्रमशः अक्षमाला, दर्पण, कमंडलु और कमल दिखाए जाते हैं।

पार्वती—'रूपमंडन' के अनुसार चार भुजावाली बनानी चाहिए और उनमें अक्षमाला, शिव, गणेश और कमंडलु रहें। इस देवी का स्थान अग्निकुंडों के मध्य बताया गया है। इसकी एक अन्य प्रकार की भी मूर्ति लिखी है। वह गोधासनाश्रिता (मगर पर बैठी हुई) होती है और धन के चाहनेवाले उसे अपने घरों में पूजते हैं। उसके चार भुजाएँ होती हैं जिनमें अक्षसूत्र, पद्म, वरद और अभय मुद्रा प्रदर्शित की जाती है।

रम्भा—कमंडलु, अक्षमाला, वज्र और अंकुश धारण किए हुए गजासनस्थिता बनानी चाहिए।

तोतला—सर्व-पाप-प्रणाशिनी मानी गई है। उसकी प्रतिमा शूल,

अक्षसूत्र, दंड और श्वेत चामर धारण किए हुए चतुर्भुजावाली होती है।

त्रिपुरा—के चारों हाथों में क्रमशः नागपाश, अंकुश, अभय और वरद मुद्रा प्रदर्शित करनी चाहिए।

गौरी, उमा, पार्वती, रम्भा, तोतला त्रिपुरा ये गौरी के ही भिन्न भिन्न स्वरूप हैं।

गौरी के आयतन (मन्दिर) में गौरी की प्रतिमा के वाम भाग में सिद्धि और दक्षिण में श्री, पृष्ठ कर्ण भाग में भगवती और सरस्वती, ईशान में गणेश और अग्निकोण में कुमार होने चाहिएँ। गौरी की आठ द्वारपालिकाएँ हैं। वे सब अपना एक हाथ अभय मुद्रा में और दूसरा दंड धारण किए हुए रखती हैं; परंतु जया और विजया के तीसरे और चौथे हाथों में अंकुश और पाश, अजिता और अपराजिता के हाथों में पद्म और पाश, विभक्ता और मंगला के हाथों में वज्र और अंकुश तथा मोहिनी और स्तम्भिनी के हाथों में शंख और पद्म होते हैं।

भूतमाता—विशालाक्षी द्विभुजा परंतु श्याम-वर्णा होती है। इसके मुख का रंग श्वेत अथवा रक्त होता है। इसके सिर पर एक लिंग होता है और हाथों में खड्ग और खेटक। यह सिंहासन पर विराजती है और सिर पर मुक्ताभरण पहनती है। यह अश्वत्थ वृक्ष के नीचे निवास करती है और विशेषतः भूत, प्रेत, पिशाच और इन्द्र, यक्ष और गन्धर्वादि भी इसकी सेवा करते हैं।

योगनिद्रा*—शयनारूढ़ा, सुसौम्या बनानी चाहिए। इसके दो

---

* निद्रा तु शयनारूढ़ा सुसौम्या मुकुलेक्षणा।
पानपात्रधरा चेयं द्विभुजा परिकीर्तिता॥

यह श्लोक विष्णुधर्मोत्तर का है; परंतु पद्मसंहिता में "मुकुलेक्षणा" के स्थान में "कमलेक्षणा" और "पानपात्रधरा के" स्थान में "पाशपात्रधरा" पाठ है।

शूल तथा बाएँ हाथों में कुंडी धारण करती हुई चतुर्बाहुवाली बनानी चाहिए।

कालरात्रि—एक वेणीवाली, जपा कुसुम के कर्णाभरणवाली, नग्न, गधे पर चढ़ी हुई, लम्बे ओठवाली, कुंडल धारण किए हुए, तैल से लिपटे हुए शरीरवाली बनानी चाहिए। उसके बाएँ पाँव में लोहे का कड़ा पहनाना चाहिए और श्याम वर्ण की महा भयंकर मूर्ति बनानी चाहिए।

ललिता—खड़ी हुई, सर्वाभरणभूषिता, बाएँ दो हाथों में शंख और आदर्श (आइना) और दाएँ हाथों में फल और सुरमादानी लिए हुए होनी चाहिए।

गौरी—कुमारी के स्वरूपवाली, कमलासना बनानी चाहिए। यदि दो भुजाएँ बनाई जायँ तो वे वरद और अभयमुद्रा-युक्त हों, अन्यथा चार भुजाएँ, अक्षमाला, दर्पण, कमंडलु और अभयमुद्रा धारण की हुई बनानी चाहिएँ।

उमा—की चारों भुजाओं में क्रमशः अक्षमाला, दर्पण, कमंडलु और कमल दिखाए जाते हैं।

पार्वती—'रूपमंडन' के अनुसार चार भुजावाली बनानी चाहिए और उनमें अक्षमाला, शिव, गणेश और कमंडलु रहें। इस देवी का स्थान अग्निकुंडों के मध्य बताया गया है। इसकी एक अन्य प्रकार की भी मूर्ति लिखी है। वह गोधासनाश्रिता (मगर पर बैठी हुई) होती है और धन के चाहनेवाले उसे अपने घरों में पूजते हैं। उसके चार भुजाएँ होती हैं जिनमें अक्षसूत्र, पद्म, वरद और अभय मुद्रा प्रदर्शित की जाती है।

रम्भा—कमंडलु, अक्षमाला, वज्र और अंकुश धारण किए हुए गजासनस्थिता बनानी चाहिए।

तोतला—सर्व-पाप-प्रणाशिनी मानी गई है। उसकी प्रतिमा शूल,

शूल तथा बाएँ हाथों में कुंडो धारण करती हुई चतुर्बाहुवाली बनानी चाहिए।

कालरात्रि—एक वेणीवाली, जपा कुसुम के कर्णाभरणवाली, नग्न, गधे पर चढ़ी हुई, लम्बे ओंठवाली, कुंडल धारण किए हुए, तैल में लिपटे हुए शरीरवाली बनानी चाहिए। उसके बाएँ पाँव में लोहे का कड़ा पहनाना चाहिए और श्याम वर्ण की महा भयंकर मूर्ति बनानी चाहिए।

ललिता—खड़ी हुई, सर्वाभरणभूषिता, बाएँ दो हाथों में शंख और आदर्श (आइना) और दाएँ हाथों में फल और सुरमादानी लिए हुए होनी चाहिए।

गौरी—कुमारी के स्वरूपवाली, कमलासना बनानी चाहिए। यदि दो भुजाएँ बनाई जायँ तो वे वरद और अभयमुद्रा-युक्त हों, अन्यथा चार भुजाएँ, अक्षमाला, दर्पण, कमंडलु और अभयमुद्रा धारण की हुई बनानी चाहिएँ।

उमा—की चारों भुजाओं में क्रमशः अक्षमाला, दर्पण, कमंडलु और कमल दिखाए जाते हैं।

पार्वती—'रूपमंडन' के अनुसार चार भुजावाली बनानी चाहिए और उनमें अक्षमाला, शिव, गणेश और कमंडलु रहें। इस देवी का स्थान अग्निकुंडों के मध्य बताया गया है। इसकी एक अन्य प्रकार की भी मूर्ति लिखी है। वह गोधासनाश्रिता (मगर पर बैठी हुई) होती है और धन के चाहनेवाले उसे अपने घरों में पूजते हैं। उसके चार भुजाएँ होती हैं जिनमें अक्षसूत्र, पद्म, वरद और अभय मुद्रा प्रदर्शित की जाती है।

रम्भा—कमंडलु, अक्षमाला, वज्र और अंकुश धारण किए हुए गजासनस्थिता बनानी चाहिए।

तोतला—सर्व-पाप-प्रणाशिनी मानी गई है। उसकी प्रतिमा शूल,

अक्षसूत्र, दंड और श्वेत चामर धारण किए हुए चतुर्भुजावाली होती है।

त्रिपुरा—के चारों हाथों में क्रमशः नागपाश, अंकुश, अभय और वरद मुद्रा प्रदर्शित करनी चाहिए।

गौरी, उमा, पार्वती, रम्भा, तोतला त्रिपुरा ये गौरी के ही भिन्न भिन्न स्वरूप हैं।

गौरी के आयतन (मन्दिर) में गौरी की प्रतिमा के वाम भाग में सिद्धि और दक्षिण में श्री, पृष्ठ कर्ण भाग में भगवती और सरस्वती, ईशान मे गणेशी और अग्निकोण में कुमार होने चाहिएँ। गौरी की आठ द्वारपालिकाएँ हैं। वे सब अपना एक हाथ अभय मुद्रा में और दूसरा दंड धारण किए हुए रखती हैं; परंतु जया और विजया के तीसरे और चौथे हाथों में अंकुश और पाश, अजिता और अपराजिता के हाथों में पद्म और पाश, विभक्ता और मंगला के हाथों में वज्र और अंकुश तथा मोहिनी और स्तम्भिनी के हाथों में शंख और पद्म होते हैं।

भूतमाता—विशालाक्षी द्विभुजा परंतु श्याम-वर्णा होती है। इसके मुख का रंग श्वेत अथवा रक्त होता है। इसके सिर पर एक लिंग होता है और हाथों में खड्ग और खेटक। यह सिंहासन पर विराजती है और सिर पर मुक्ताभरण पहनती है। यह अश्वत्थ वृक्ष के नीचे निवास करती है और विशेषतः भूत, प्रेत, पिशाच और इन्द्र, यक्ष और गन्धर्वादि भी इसकी सेवा करते हैं।

योगनिद्रा*—शयनारूढ़ा, सुसौम्या बनानी चाहिए। उसके दो

---

* निद्रा तु शयनारूढा सुसौम्या मुकुलेक्षणा।
पानपात्रधरा चेयं द्विभुजा परिकीर्तिता॥

यह श्लोक विष्णुधर्मोत्तर का है; परंतु पद्मसंहिता में "मुकुलेक्षणा" के स्थान में "कमलेक्षणा" और "पानपात्रधरा के" स्थान में "पाशपात्रधरा" पाठ है।

शूल तथा बाएँ हाथों में कुंडी धारण करती हुई चतुर्बाहुवाली बनानी चाहिए।

कालरात्रि—एक वेणीवाली, जपा कुसुम के कर्णाभरणवाली, नग्न, गधे पर चढ़ी हुई, लम्बे ओंठवाली, कुंडल धारण किए हुए, तैल से लिपटे हुए शरीरवाली बनानी चाहिए। उसके बाएँ पाँव में लोहे का कड़ा पहनाना चाहिए और श्याम वर्ण की महा भयंकर मूर्ति बनानी चाहिए।

ललिता—खड़ी हुई, सर्वाभरणभूषिता, बाएँ दो हाथों में शंख और आदर्श (आइना) और दाएँ हाथों में फल और सुरमादानी लिए हुए होनी चाहिए।

गौरी—कुमारी के स्वरूपवाली, कमलासना बनानी चाहिए। यदि दो भुजाएँ बनाई जायँ तो वे वरद और अभयमुद्रा-युक्त हों. अन्यथा चार भुजाएँ, अक्षमाला, दर्पण, कमंडलु और अभयमुद्रा धारण की हुई बनानी चाहिएँ।

उमा—की चारों भुजाओं में क्रमशः अक्षमाला, दर्पण, कमंडलु और कमल दिखाए जाते हैं।

पार्वती—'रूपमंडन' के अनुसार चार भुजावाली बनानी चाहिए और उनमें अक्षमाला, शिव, गणेश और कमंडलु रहें। इस देवी का स्थान अग्निकुंडों के मध्य बताया गया है। इसकी एक अन्य प्रकार की भी मूर्ति लिखी है। वह गोधासनाश्रिता (मगर पर बैठी हुई) होती है और धन के चाहनेवाले उसे अपने घरों में पूजते हैं। उसके चार भुजाएँ होती हैं जिनमें अक्षसूत्र, पद्म, वरद और अभय मुद्रा प्रदर्शित की जाती है।

रम्भा—कमंडलु, अक्षमाला, वज्र और अंकुश धारण किए हुए गजासनस्थिता बनानी चाहिए।

तोतला—सर्व-पाप-प्रणाशिनी मानी गई है। उसकी प्रतिमा शूल,

हैं। यह स्वरूप विष्णु के साथ विराजित भू देवी का अंशुमद्भेदागम के अनुसार है। पूर्वकारणागम में ऐसा वर्णन है कि इस देवी का वर्ण श्याम, एवं वह राजीव सम लोचनवाली, रक्ताम्बर तथा हेम यज्ञोपवीत पहने हुए होनी चाहिए। विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार यह शुक्ल वर्णा होनी चाहिए और इसकी चार भुजाओं में क्रमशः रत्न-पात्र, सस्य-पात्र, ओषधि-पात्र तथा कमल होने चाहिएँ। इसे चार दिग्गजों के पृष्ठगत दिखाना चाहिए। यह वर्णन उस अवस्था का है जब वह स्वयं प्रधाना अर्थात् मुख्य अर्चनीय देवी हो। लक्ष्मी और भू देवी के अतिरिक्त अन्य भी विष्णु-पत्नियाँ हैं; उदाहरणार्थ सीता, रुक्मिणी, सत्यभामा, राधा आदि।

सरस्वती—चतुर्हस्ता, श्वेत-पद्मासनासीना, जटा-मुकुट-संयुक्ता, शुक्लवर्णा, श्वेतवस्त्र तथा यज्ञोपवीत धारिणी और रत्नकुंडल-मंडिता होनी चाहिए। उसका दाहिना एक हाथ व्याख्यान मुद्रा में और दूसरा अक्षमाला धारण किए हुए और बायाँ एक हाथ पुस्तक और दूसरा पुंडरीक धारण किए हुए होना चाहिए। सरस्वती सुचारु रूपिणी, ऋषियों से ऋक्, यजु, साम गीतों से सेवित प्रदर्शित करनी चाहिए, ऐसा अंशुमद्भेदागम का निर्णय है। परंतु विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार सरस्वती समुत्थित अर्थात् खड़ी हुई, दक्षिण हाथों में पुस्तक और अक्षमाला और वाम हाथों में वीणा और कमंडलु धारण किए हुए होनी चाहिए। अंशमद्भेदागम के अनुसार सरस्वती के कुंडल रत्नों के, परंतु पूर्वकारणागम के अनुसार मोती के होने चाहिएँ। स्कन्द पुराण की सूत संहिता में सरस्वती को जटाजूटधरा, शिखर पर चन्द्रार्ध धारे, नीलग्रीवा और त्रिलोचना बतलाया है।

मारकण्डेय पुराण के देवीमाहात्म्य में सरस्वती को अंकुश, वीणा, अक्षमाला और पुस्तक धारण किए हुए वर्णन किया है। यहाँ पर इसे शिव स्वरूप प्रदर्शित किया है। वस्तुतः जैसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश एक ही

भुजाएँ होती हैं। उसके नेत्र मुँदे हुए और उसके समीप एक जलपात्र रखा हुआ प्रदर्शित करना चाहिए।

भूमि*—अथवा भू देवी विष्णु की पत्नी मानी गई है। यह सम्बन्ध कदाचित् वराह अवतार से गाँठा गया हो। भूमि देवी सस्य के अंकुर के सदृश वर्णवाली, करंड मुकुट धारण किए हुए, सर्वाभरणभूषिता, पीताम्बरधरा, और प्रसन्न-वदना होनी चाहिए। इसके दो भुजाएँ होती हैं जिनमें पद्म अथवा उत्पल प्रदर्शित किए जाते हैं। भूमि की प्रतिमा पद्मपीठ पर खड़ी हुई अथवा बैठी हुई बनाया करते

---

* सस्याङ्कुरनिभा भूमिर्नीलालकसमन्विता ।
करण्डमुकुटोपेता सर्वाभरणभूषिता ॥
पीताम्बरधरा चैव प्रसन्नवदनान्विता ।
पद्मं चाप्युत्पलं वाथ कमयोर्हस्तयोर्धृतम् ॥
पद्मपीठोपरिष्ठात्तु आसीना वास्थितापि वा ।

(अंशुमद्भेदागमे दशोनशततमपटले)

शुक्लवर्णा मही कार्या दिव्याभरणभूषिता ।
चतुर्भुजा सौम्यवपुश्चन्द्रांशुसदृशाम्बरा ॥
रत्नपात्रं सस्यपात्रं पात्रमोषधिसंयुतम् ।
पद्मं करे च कर्तव्यं भुवो यादवनन्दन ॥
दिग्गजानां चतुर्णां च कार्या पृष्ठगता तथा ।
सर्वाभियुता देवी शुक्लवर्णा स्मृता ॥

(विष्णुधर्मोत्तरे)

श्यामवर्णनिभा भरवद् जीवसमलोचना ।
हेमपद्मोपविष्टा च द्विभुजा च त्रिनेत्रका ॥
सर्वाभरणसंयुक्ता करण्डमुकुटान्विता ।
रक्ताम्बरधरा चैव दक्षिणोत्पलान्विता ॥
वरदस्तु त्रिभिर्हस्तजलेश्वरकल्पिते ।

(पूर्वकारणागमे द्वादशपटले)

इसमें पृथ्वी सम्बन्धी सब बातें आ जाती हैं। पृथ्वी से रत्न, धान्य, ओषधि और पुष्प उत्पन्न होते हैं जो हाथों में दिखा दिए गए हैं।

हैं। यह स्वरूप विष्णु के साथ विराजित भू देवी का अंशुमद्भेदागम के अनुसार है। पूर्वकारणागम में ऐसा वर्णन है कि इस देवी का वर्ण श्याम, एवं वह राजीव सम लोचनवाली, रक्ताम्बर तथा हेम यज्ञोपवीत पहने हुए होनी चाहिए। विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार यह शुक्ल वर्णा होनी चाहिए और इसकी चार भुजाओं में क्रमशः रत्न-पात्र, सस्य-पात्र, ओषधि-पात्र तथा कमल होने चाहिएँ। इसे चार दिग्गजों के पृष्ठगत दिखाना चाहिए। यह वर्णन उस अवस्था का है जब वह स्वयं प्रधाना अर्थात् मुख्य अर्चनीय देवी हो। लक्ष्मी और भू देवी के अतिरिक्त अन्य भी विष्णु-पत्नियाँ हैं; उदाहरणार्थ सीता, रुक्मिणी, सत्यभामा, राधा आदि।

सरस्वती—चतुर्हस्ता, श्वेत-पद्मासनासीना, जटा-मुकुट-संयुक्ता, शुक्लवर्णा, श्वेतवस्त्र तथा यज्ञोपवीत धारिणी और रत्नकुंडल-मंडिता होनी चाहिए। उसका दाहिना एक हाथ व्याख्यान मुद्रा में और दूसरा अक्षमाला धारण किए हुए और बायाँ एक हाथ पुस्तक और दूसरा पुंडरीक धारण किए हुए होना चाहिए। सरस्वती सुचारु रूपिणी, ऋषियों से ऋक्, यजु, साम गीतों से सेवित प्रदर्शित करनी चाहिए, ऐसा अंशुमद्भेदागम का निर्णय है। परंतु विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार सरस्वती समुत्थित अर्थात् खड़ी हुई, दक्षिण हाथों में पुस्तक और अक्षमाला और वाम हाथों मे वीणा और कमंडलु धारण किए हुए होनी चाहिए। अंशमद्भेदागम के अनुसार सरस्वती के कुडल रत्नों के, परंतु पूर्वकारणागम के अनुसार मोती के होने चाहिएँ। स्कन्द पुराण की सूत संहिता में सरस्वती को जटाजूटधरा, शिखर पर चन्द्रार्ध धारे, नीलग्रीवा और त्रिलोचना बतलाया है।

मारकण्डेय पुराण के देवीमाहात्म्य में सरस्वती को अंकुश, वीणा, अक्षमाला और पुस्तक धारण किए हुए वर्णन किया है। यहाँ पर इसे शिव स्वरूप प्रदर्शित किया है। वस्तुतः जैसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश एक ही

ईश्वर के स्वरूपत्रय हैं, इसी प्रकार स्त्रीरूप में लक्ष्मी, सरस्वती और पार्वती एक ही ईश्वर के स्वरूपत्रय है।

सप्तमातृकाओं की उत्पत्ति के विषय में ऐसा वर्णन है कि कश्यप के दिति से हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए, जो वराह और नृसिंह अवतार में मारे गए। हिरण्याक्ष का पुत्र प्रह्लाद हरि-भक्त हुआ; और तदनंतर ब्रह्मा से तप द्वारा वर माँग अंधकासुर असुराधिपति हो कालान्तर में देवगण को संत्रस्त करने लगा। देवगण महादेव के पास गए और इसी अवसर पर वह असुर भी पार्वती का हरण करने के विचार से कैलास पर आया। शिव ने त्रिशूल से वासुकी, तक्षक और धनंजय सर्पों की मेखला बनाई और नील नामक राक्षस को, जो हाथी के स्वरूप में शिव के घात में आया था, वीरभद्र द्वारा मार उसका गज-चर्म ओढ़ लिया। शिव ने असुर पर प्रहार किया; परंतु ज्यों ज्यों रुधिर बिंदु पृथ्वी पर पड़ने लगे, त्यों त्यों प्रत्येक बिंदु से एक नवीन अंधकासुर बनने लगा। अन्त में शिव ने असुर को एक मार्मिक घात किया और उसके मुख से जो ज्वाला निकली, उससे "योगेश्वरी" शक्ति का निर्माण कर उसके रुधिर को पृथ्वी पर गिरने से रोका। विष्णु ने अपने चक्र से शेष असुरों का संहार किया। इस अवसर पर इन्द्रादि देवताओं ने अपनी शक्तियाँ शिव के सहायतार्थ समर्पण की थीं और उनके नाम ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी (कुमार की शक्ति), वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी और चामुंडा (यम की शक्ति) थे। ये ही सप्त मातृकाएँ हैं और इनके वे ही वाहन, आयुध, आभरण और ध्वजाएँ हैं जो इनके मुख्य देवों के हैं।

वराहपुराण ने इन सात देवियों के साथ योगेश्वरी को भी सम्मिलित किया है और इन्हें मन की वृत्तियाँ माना है; अर्थात् योगेश्वरी काम, माहेश्वरी क्रोध, वैष्णवी लोभ, ब्रह्माणी मद, कौमारी मोह, इन्द्राणी

मात्सर्य, यमी अथवा चामुंडा पैशुन्य और वाराही असूया की द्योतक हैं। इस पुराण में लिखा है कि यह आत्मविद्या का रूपक वर्णन किया गया है (एतंते सर्वमाख्यातमात्मविद्यामृतम्)। अंधकासुर अविद्यान्धकार है। विद्या शिव रूप में प्रदर्शित की गई है। विद्या जितना अधिक अविद्या पर आक्रमण करती है, प्रारम्भ में उतनी ही अधिक अविद्या उसका सामना करती है; यही विंदु विंदु से अंधकासुर की उत्पत्ति का तात्पर्य है। काम, क्रोधादि अष्ट दोष जब तक पराजित नहीं किए जाते, तब तक अविद्या का दमन नहीं हो सकता। यही तात्पर्य योगेश्वरी की उत्पत्ति तथा सप्तमातृकाओं द्वारा अंधकासुर के संहार के रूपक से प्रदर्शित किया गया है।

ब्रह्माणी—हेमप्रभा, चतुर्भुजा, चतुर्मुखी, पद्मासीना, हंसवाहिनी और हंसध्वजा होती है। इसकी सामने की दो भुजाएँ अभय और वरद मुद्रा में और पीछे की दो शूल और अक्षमाला धारण किए हुए होती हैं। वह शरीर पर पीताम्बर और शिर पर करंड मुकुट धारण करती है और पलाश वृक्ष के नीचे विराजमान रहती है। यह अंशुमद्भेदागम के अनुसार लिखा गया है। परंतु विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार इसके छः भुजाएँ होनी चाहिएँ। बाईं तीन अभय मुद्रा, पुस्तक और कमंडलु तथा दाहिनी तीन वरदमुद्रा, सूत्र और स्रुव धारण किए हुए हों।

वैष्णवी—की दो भुजाएँ अभय और वरद मुद्रा दर्शक और दो शंख और चक्र धारण किए हुए होती हैं। इसका वर्ण श्याम होता है। यह किरीट मुकुट धारण करती है और राजवृक्ष के नीचे विराजमान रहती है। विष्णुधर्मोत्तर में इसकी छः भुजाएँ गदा, पद्म, शंख, चक्र, धारण किए और अभय और वरद मुद्रा-युक्त बतलाई गई हैं। देवी पुराण में इसको वनमाला पहने हुए तथा चारों भुजाओं में क्रमशः शंख, चक्र, गदा, पद्म, धारण किए हुए बतलाया है।

इंद्राणी—के तीन नेत्र और चार भुजाएँ होती हैं जिनमें से दो

वज्र और शक्ति और शेष दो वरद तथा अभय मुद्रा-युक्त होती हैं। इसका वर्ण रक्त होता है। सिर पर किरीट और शरीर पर नाना आभरण होते हैं। इसका निवास कल्पक वृक्ष के नीचे माना है और यह गज-वाहिनी और गजध्वज बनाई जाती है। विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार इसे सहस्राक्षी तथा छः भुजावाली—चार में सूत्र, वज्र, कलश, और पात्र लिए एवं शेष दो वरद और अभय मुद्रा-युक्त—होनी चाहिए। देवी पुराण में इसे अंकुश और वज्र धारण किए हुए ही बताया है और पूर्वकारणागम में इसके केवल दो ही नेत्र बताए गए हैं।

चामुंडा—रक्तवर्णा, चतुर्भुजा और त्रिनेत्रा होती है। इसके बाल बहुत बिखरे हुए होते हैं। इसके दो हाथ कपाल और शूल और दो वरद और अभय मुद्रा धारण किए होते हैं। वह पद्मासन पर बैठी हुई, यज्ञोपवीत के स्वरूप में मुंड माला धारण किए हुए होती है। वह सिंहचर्म पहनती है और गूलर के वृक्ष के नीचे निवास करती है। विष्णुधर्मोत्तर ने इसे कृशोदरी तथा दशभुज बतलाया है, जिनमें मूसल, कवच, बाण, अंकुश, खड्ग, खेटक, पाश, धनुष, दंड और परशु होते हैं। पूर्वकारणागम में इतना और है कि इसका मुख खुला हुआ तथा सिर पर शिव के समान चन्द्र विराजित होना चाहिए। इस ग्रन्थ में इसका वाहन उलूक और ध्वजा में गिद्ध का चिह्न बतलाया गया है और यह भी लिखा है कि इस के एक हाथ में मांस पिंडों से भरा कपाल और दूसरे में अग्नि प्रदर्शित करनी चाहिए। यह कानों में शंखपत्र के कुंडल पहनती है।

माहेश्वरी—चतुर्भुजा, त्रिनेत्रा, अतिरक्तवर्णा, जटामुकुट-संयुता होनी चाहिए। इसके दक्षिण हस्त शूल और अभय मुद्रा तथा बाएँ हस्त जपमाला और वरदमुद्रा धारण किए हुए होने चाहिएँ। विष्णु-धर्मोत्तर में इसे वृषारूढ़ा, पंचवक्त्रा, त्रिलोचना, शुक्लेन्दुधारिणी, जटा-जूटा तथा षड्भुजा बताया है। दक्षिण हाथों में वरद मुद्रा, सूत्र और

डमरू तथा बाएँ हाथों में शूल, घंट और अभयमुद्रा होनी चाहिए।

कौमारी—के चार भुजाएँ होती हैं—दो अभय और वरद मुद्रा-युक्त और दो शक्ति और कुक्कुट धारण किए हुए। उसका वाहन मयूर है और मयूर ही उसकी ध्वजा का चिह्न भी है। उसका निवास उदुम्बर वृक्ष के नीचे होता है। विष्णुधर्मोत्तर में उसके छः मुख और बारह भुजाएँ वर्णन की गई हैं, दो भुजा वरद और अभय मुद्रायुक्त तथा शेष शक्ति, ध्वज, दंड, धनुष, बाण, घंट, पद्मपात्र और परशु धारण किए हुए होती हैं। देवी पुराण में इसके लिये लाल पुष्पों की माला बनाने का विधान है और पूर्वकारणागम में कुक्कुट के स्थान में अंकुश बतलाया गया है।

वाराही—का मुख शूकर का सा और वर्ण नील मेघों का सा होना चाहिए। उसके सिर पर करंड मुकुट और शरीर पर मूँगे के आभरण होते हैं। वह कल्प वृक्ष के नीचे निवास करती है तथा हल और शक्ति धारण करती है। उसका वाहन हाथी है और हाथी ही उसकी ध्वजा का चिह्न भी है। विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार उसके बड़ा पेट और छः भुजाएँ होनी चाहियें और उनमें दंड, खड्ग, खेटक, पाश, अभय और वरद मुद्रा होनी चाहिए। पूर्वकारणागम में शार्ङ्ग धनुष, हल और मूसल आयुध तथा चरणों में नूपुर धारण करने का वर्णन है।

ज्येष्ठा देवी की पूजा बहुत प्राचीन काल से प्रचलित हुई जान पड़ती है। बौधायन गृह्यसूत्र में इस देवी का वर्णन मिलता है। अभी ऐसे कई एक मन्दिर विद्यमान हैं जिनके एक कोने में इस देवी की प्रतिमा प्रतिष्ठित है, परंतु उसकी पूजा नहीं की जाती। कई एक मन्दिरों में इस देवी की प्रतिमा अपने स्थान से उठाकर अलग फेंकी हुई मिलती है।

ज्येष्ठा देवी—के दो नेत्र, दो भुजाएँ, बड़े बड़े गाल, नाभी तक लटकते हुए कुच, ढीला पेट, मोटी मोटी जँघा, ऊँची उठी हुई नाक और नीचे का ओष्ठ लटकता हुआ होना चाहिए। इसका वर्ण काली स्याही के समान होता है और यह भद्रासन पर पैरों को लटकाए हुए प्रदर्शित की जाती है। इसके बाल पिंडी की तरह बाँधे हुए होते हैं और इसके ललाट पर तिलक और सिर पर मुकुट लगा देते हैं। यह दाहिने हाथ में नीलोत्पल धारण करती है और वाम हस्त अभयमुद्रा धारण किए हुए अथवा आसन पर धरे हुए होती है। ज्येष्ठा देवी की प्रतिमा के दक्षिण भाग में दंड और पाश धारण किए हुए वृष के मुखवाला दो भुजाओंवाला मनुष्य बनाते हैं जो इसका पुत्र है। इसके वाम भाग में ऐसी ही एक स्त्री की प्रतिमा, जो इसकी पुत्री बताई जाती है और जिसका नाम "अग्निमठ" भी मिलता है, बनाई जाती है। ज्येष्ठा देवी का वाहन गधा और ध्वज में कौवे का चिह्न रहता है। इसका आयुध झाड़ू भी बनाया जाता है।

समुद्र-मन्थन के अवसर पर ज्येष्ठा देवी लक्ष्मी से पहले उत्पन्न हुई थी। जब किसी ने भी इससे विवाह नहीं करना चाहा, तब कपिल इसे ले गए और उन्होंने इसका पाणि-ग्रहण किया; अतः इसका नाम कपिल-पत्नी भी प्रसिद्ध है। ज्येष्ठादेवी के दो भेद हैं-एक रक्त ज्येष्ठा, दूसरा नील ज्येष्ठा। इनकी प्रतिमाओं में बहुत अन्तर नहीं है।

लिङ्ग पुराण में लिखा है कि जब समुद्र का मंथन किया गया था,

तब पहले कालकूट विष निकला, तदनन्तर ज्येष्ठा देवी। दुःसह नाम के ऋषि ने इससे विवाह किया और वे इसे अपने घर ले जाने लगे। परंतु मार्ग में जहाँ कहीं विष्णु अथवा शिव का गुणगान होता था, वहाँ पर यह अपने कान बन्द कर लेती थी। एक बार वे तपोवन में अपनी पत्नी सहित गए। वहाँ यह ज्येष्ठा देवी उनके ईश्वराराधन को न सह सकी। निदान उन्हें वहाँ से लौटना पड़ा। उसी समय मार्कण्डेय भी आ गए और उन्होंने सब वृत्तान्त अवगत कर दुःसह को ज्येष्ठा देवी के साथ ऐसे स्थानों में, जहाँ स्त्री पुरुषों में कलह हो, जहाँ बौद्ध अथवा अवैदिक अर्चनाएँ होती हों, जहाँ बड़े छोटों की परवाह न कर प्रसन्न रहते हों, इत्यादि स्थानों को, जाने को कहा। तदनन्तर दुःसह ने ज्येष्ठा से कहा कि मैं रसातल में तुम्हारे और अपने रहने के योग्य स्थान ढूँढने जाता हूँ। जब तक मैं लौटकर न आऊँ, तुम यहीं रहना। तब से दुःसह ने अपनी शक्ल नहीं दिखाई। बेचारी ज्येष्ठा उनको याद कर भटकने लगी। एक बार विष्णु उसे मिल गए और उसने उनसे अपना दुखड़ा कहा। विष्णु ने उसे अपने अनन्य भक्तों के पास जानें और उनके साथ रहने की आज्ञा दी। ज्येष्ठा देवी अलक्ष्मी है।

त्रिलोचन शिवाचार्य की सिद्धान्त-सारावली में लिखा है कि यमा के स्वरूप में परा शक्ति पंच कृत्यों (सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान, और अनुग्रह) की कर्त्री है। अतः वह आठ तत्वों के अनुरूप आठ स्वरूप धारण करती है। यमा पृथ्वीमयी, ज्येष्ठा जलमयी, रुद्रा अग्न्याकारा, काली वायव्याकारा, कलविकर्णी आकाशरूपिणी, बलविकर्णी चन्द्ररूपिणी, बलप्रमथनी सूर्यरूपा है। इसके दो स्वरूप और हैं-सर्वभूत-दमनी आत्मरूपा और मनोमयी पराशक्ति।

ज्येष्ठा जलमयी है और "स्थिति" की द्योतक है। जल का मूर्त्तीश्वर ज्येष्ठ है; अतः यह ज्येष्ठा देवी कहलाती है।

हम समझते हैं कि पाठक महाशय देवियों का वृत्तान्त पढ़ कर उकता

गए होंगे। इन सब देवियों का परिचय नहीं करा सके और न करा ही सकते हैं; क्योंकि इनकी संख्या गणनातीत है। बंगाल ने अनेक देवियाँ बनाई हैं—कलविकर्णिका, बलविकर्णिका, बलप्रमथनी, सर्वभूतदमनी, चामुंडा के कई भेद, शिवदूती, योगेश्वरी, भैरवी, त्रिपुरभैरवी, शिवा, कीर्ति, सिद्धि, ऋद्धि, क्षमा, दीप्ति, रति, श्वेता, भद्रा, जया, विजया, जयंती, दिति, अरुन्धती, अपराजिता, सुरभी, कृष्णा, इन्द्राणी, अश्वारूढ़ा, भुवनेश्वरी, बाला, राजमातंगी, शीतला आदि इतनी देवियाँ हैं कि जिनका विस्तार-भय से वर्णन करने में हम असमर्थ हैं। इनमें तुलसीदेवी, अन्नपूर्णा और महालक्ष्मी प्रसिद्ध देवियाँ हैं, जिनका संक्षिप्त वर्णन लिखकर इस लेख के इस अंश को समाप्त करते हैं।

तुलसी माहात्म्य के वर्णन के अनुसार तुलसी की प्रतिमा श्याम, कमल लोचनवाली, चतुर्भुजा होनी चाहिए। उसकी दो भुजाओं में पद्म और कल्हार और दो अभय और वरद मुद्रायुक्त होनी चाहिएँ। उसे किरीट, हार, केयूर, कुंडल आदि आभरणों से समलंकृत कर धवल-वस्त्र पहना पद्मासन पर विराजमान करना चाहिए।

अन्नपूर्णा का मुख पूर्ण चन्द्र के समान बनाना चाहिए। उसके शरीर का रंग रक्त, उसके कुच उठे हुए, दो हाथों में मधु से भरा हुआ माणिक्य पात्र तथा अन्न से पूर्ण रत्नदर्वी (चमचा) प्रदर्शित की जाती है। जब चार हाथ बनाते हैं, तब दो में पाश और अंकुश और दो अभय और वरद मुद्रायुक्त दिखाते हैं। यह मूर्ति यौवनवती और बड़ी रम्य बनानी चाहिए और इसे नानालंकारयुक्त करना चाहिए।

लक्ष्मी के श्री, पद्मा, कमला आदि नाम हैं। इसकी प्रतिमा पद्मासन पर बैठी हुई तथा दोनों हाथों में पद्म धारण किए हुए बनाई जाती है और गले में कमल के फूलों की माला भी पहना दी जाती है। इसके दोनों ओर सूँड़ को ऊँचे किए हुए दो हाथी दिखाए जाते हैं। अंशुमद्भेदागम में ऐसा वर्णन है कि लक्ष्मी की प्रतिमा पद्मासनासीना, द्विभुज

कांचनप्रभा, हेमरत्न, नक्र, कुंडलादि कर्णाभरणों से मंडित होनी चाहिए। यह सुयौवना, सुरम्यांगी, रक्ताक्षी पीनगंडा, कंचुक से आच्छादित स्तन-वाली बनानी चाहिए। इसके दक्षिण हस्त में कमल और वाम में श्री-फल होना चाहिए। यह सुमध्या, विपुल-श्रोणी, सुंदर वस्त्रवाली, सर्वा-भरण-भूपिता होनी चाहिए।

शिल्परत्न में लक्ष्मी का वर्ण श्वेत बतलाया है और लिखा है कि दो स्त्रियाँ इसके चँवर डोलाती हुई प्रदर्शित करनी चाहिएँ। जब लक्ष्मी को विष्णु के साथ बनाते हैं, तब दो ही भुजाएँ बनाई जाती हैं; अन्यथा चार। महालक्ष्मी का स्वरूप विश्वकर्मशास्त्र के अनुसार एक सुन्दर छोटी कन्या के सदृश, रूपाभरणभूषित, नीचे के दाहिने हाथ में एक पात्र, ऊपर के में कौमोदकी गदा, नीचे के बाएँ हाथ में श्रीफल, ऊपर के हाथ में खेटक, मस्तक में एक लिंग धारण किए हुए होना चाहिए। कोल्हापुर में महालक्ष्मी का एक प्राचीन मन्दिर है। उपर्युक्त वर्णन वहीं की प्रतिमा का है।